भारतीय साहित्य और संस्कृति

वैदिक काल (प्रथम खण्ड) तथा कला (द्वितीय खण्ड) सहित

लेखक

विद्वद्वर श्री डॉ० हरिदत्त शास्त्री एम० ए० (हिन्दी व संस्कृत)
पी-एच० डी०, व्याकरणाचार्य, वेदान्ताचार्य (वाराणसी), न्याय,
वैशेषिक, व्याकरण, काव्य, सांख्य-योग, तर्क, वेद, मीमांसातीर्थ
(कलकत्ता), आयुर्वेदाचार्य (विद्यापीठ)
प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष संस्कृत विभाग
डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

प्राक्कथन-लेखक

श्री डॉ० राजबली पाण्डेय एम० ए० डी० लिट्,
अध्यक्ष प्राच्येतिहास एवं संस्कृति विभाग तथा
प्रिन्सिपल
कालेज ऑफ़ इण्डोलोजी, काशी विश्वविद्यालय
बनारस

प्रकाशक

मुन्शीराम मनोहरलाल

नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
मुन्शीराम मनोहरलाल
नई सड़क, दिल्ली ।

प्रथम संस्करण
१९५९

मूल्य ६)

मुद्रक
रामाकृष्णा प्रेस
कटरा नील, दिल्ली ।

प्राक्कथन

इधर विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में भारतीय साहित्य एवं ंस्कृति को क्रमशः स्थान मिलता जा रहा है। वैसे तो विभिन्न विषयों र अनेक उत्तम ग्रंथों की रचना हो चुकी है किन्तु विद्यार्थियों और शेषकर परीक्षार्थियों की दृष्टि से सुलभ ग्रंथों का अभाव-सा है। ी डॉ० हरिदत्त शास्त्री, एम० ए० पी-एच० डी० ने इस आवश्यकता की र्ति अपने ग्रंथ 'भारतीय साहित्य और संस्कृति' से की है। इसमें वैदिक ाहित्य का विशद और सुबोध विवरण है। साथ ही भारतीय कला के शिष्ट कालों और प्रमुख अंगों का भी अच्छा परिचय है। ग्रंथ प्रामा- ाक और मूल आधारों से सम्पन्न है। परीक्षार्थियों के लिए यह अवश्य उपयोगी सिद्ध होगा। यह ग्रंथ तात्कालिक आवश्यकता को ध्यान में खकर लिखा गया है। दूसरे संस्करण में इसका संग्रथन अधिक व्यापक र पूर्ण होगा, ऐसी शास्त्री जी की आकांक्षा है। मैं इस प्रयास की फलता की कामना करता हूँ।

—राजबली पाण्डेय

विषय-प्रवेश

(ले० डॉ० नरेन्द्र देव सिंह एम० ए० डी० फिल्
अध्यक्ष संस्कृत-हिन्दी विभाग, B. R. Collge, Agra)

संस्कृत साहित्य और भारतीय प्राचीन संस्कृति का इतिहास ऐसा विषय है कि विश्वविद्यालयों की एम० ए० तथा बी० ए० की कक्षाओं में सदा से चलता आ रहा है। अभी कुछ दिन पहले तक हमारी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था और अंग्रेजी में उस विषय पर अनेक पुस्तकें प्राप्त हैं। अतएव उन दिनों विषय के पठन-पाठन में इतनी असुविधा नहीं थी। परन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ विश्वविद्यालयों में भी शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी से हिन्दी हो गया। अब हिन्दी माध्यम से विषय का पठन-पाठन चलाने वाले शिक्षार्थियों और शिक्षकों के सामने ऐसी प्रामाणिक पुस्तकों का अभाव एक बहुत खटकने वाली चीज़ है जिसकी पूर्त्ति की चिरकाल से प्रतीक्षा हो रही थी। प्रस्तुत संस्कृत साहित्य एवं भारतीय प्राचीन संस्कृति का इतिहास उक्त अभाव की पूर्त्ति करने के लिए लिखा गया है।

अंग्रेज़ी के माध्यम से पठन-पाठन चलाने वाले विद्यार्थियों और अध्यापकों को भी इस विषय पर तैयारी करने के लिए विविध पुस्तकों का आश्रय लेना पड़ता था। कहीं से संस्कृत साहित्य के इतिहास की सामग्री का और कहीं से संस्कृति के इतिहास की सामग्री का संचय करके 'कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा' जोड़कर काम चलाते थे। इनमें से बहुत से आकर-ग्रंथ तो अच्छे-अच्छे महाविद्यालयों के पुस्तकालयों में भी अप्राप्य हैं जिनके कारण विषय के पठन-पाठन में एक बड़ी भारी असुविधा हुआ करती थी। संस्कृति और संस्कृत दोनों के इतिहासों की सामग्री एक ही जगह मिलना असंभव ही था। विद्वद्वर डॉ० हरिदत्त शास्त्री नव-तीर्थ ने दोनों प्रकार की सामग्री का आकर-ग्रंथों से चयन

कर एक ही (प्रस्तुत) पुस्तक में संकलन करके छात्रों का बड़ा उपकार किया है, इसमें सन्देह नहीं है।

संस्कृति और संस्कृत का इतिहास लिखना 'बड़ी टेढ़ी खीर है। प्रायः सभी वाङ्मय के विभाग सन्देह और विवाद के कोहरों में लीन है। मौलिक ग्रंथ लिखने के लिए समय और साधनों की अपेक्षा है। आज जिस प्रकार का इतिहास का पठन-पाठन विश्वविद्यालयों में चल रहा है उसके बहुत से अंश भारतीय विद्वानों को विस्मय में डालने वाले हैं। वेदों की प्राचीनता पाश्चात्यों के लिए अनादि न होकर समयावधि से परिवेष्टित है। वह समय भी सृष्टि का आदि काल नहीं अपितु आज से अधिकाधिक तीन हज़ार वर्ष पहले। उन लोगों की दृष्टि में प्राचीनता का अर्थ इससे आगे नहीं जाता।

कुछ समय पहले यह संतोष था कि ऋग्वेद की भाषा वैज्ञानिकों द्वारा आर्य-परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम रूप माना जाता था परन्तु अब तो उसमें भी खलल है। उससे भी पूर्व कोई एक अन्य भाषा कल्पित कर ली गई है और जिसका अक्षुण्ण रूप ऋग्वेद की अपेक्षा अवेस्ता में अधिक सुरक्षित मान लिया गया है। इसलिए ऋग्वेद आर्यों का प्राचीनतम साहित्य है इसमें भी संदेह का उन्मेष होने लगा है। इन सब बातों को एक भारतीय विद्वान् स्वीकार नही करना चाहता, पर किया क्या जाय? समर्थ समालोचना और अकाट्य प्रमाणों को देखकर बोलती बन्द है। हमारी परम्पराओं को टिकाने के लिए कोई सहारा नहीं मिलता। सन् १९४७ से पूर्व विदेशीय शासन में तो हम यह कहके सन्तुष्ट हो लेते थे कि इन इतिहासों में ऐसा रंग हमारी खिल्ली उड़ाने के लिए भरा गया है पर आज हम यह भी नहीं कह सकते। हमारी परम्परागत अनुश्रुतियों की आधार-शिलाएँ हिल गई हैं और हमारे विश्वासों का महल जर्जर हो रहा है। उसके जीर्णोद्धार के लिए भारतीय वाङ्मय के छान-बीन करने की बड़ी भारी आवश्यकता है। परन्तु यह अनुसंधान-कार्य त्याग-तपस्या, दृढ़ अध्यवसाय और अपार धन-राशि चाहता है। इधर संस्कृत का पठन-पाठन उठता जा रहा है। संस्कृत की

उपयोगिता क्षीण हो रही है और व्यावहारिकता तो विदा ही हो गई। ऐसी परिस्थिति में पाश्चात्य विद्वानों की विवेचनापूर्ण मान्यताओं से ही काम चलाना पड़ रहा है और सम्भवतः सदियों तक विद्यार्थियों की परीक्षा के लिए यही पाथेय रहेगा।

प्रस्तुत इतिहास विविध इतिहासों के आधार पर लिखा गया है। इसे हम उन आकर-ग्रंथों की मक्षिका स्थाने मक्षिका नक़ल नहीं कह सकते। जहाँ पर तर्क और शास्त्र-ज्ञान के आधार पर संभव था वहाँ पर पाश्चात्य दृष्टिकोण की एकांगता की आलोचना भी की गई है। विवादग्रस्त स्थलों में उनकी और अपनी दोनों ही बातें पाठकों के सन्मुख रखने का सफल प्रयास किया है। मौलिक न होने पर भी यह इतिहास अपनी निजी विशेषताओं के कारण मौलिक-सा ही प्रतीत होता है।

इतिहास की भाषा सरल, बोधगम्य और स्पष्ट है। उसमें जिस वर्णनात्मक शैली की आवश्यकता है उसी का व्यवहार किया गया है। डाक्टर शास्त्री संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् हैं परन्तु उन्होंने अपनी भाषा को पण्डिताऊपन से सर्वथा मुक्त रखा है। उनमें प्रचण्ड पाण्डित्य से उद्‌भूत वह शब्दाडंबर का बवंडर भी नहीं है जिसके झोंकों से भाव भी हवा हो जाते हैं।

उक्त पुस्तक से विद्यार्थी-वर्ग विशेषकर एम० ए० के परीक्षार्थी तो लाभान्वित होंगे ही, साथ ही अध्यापकों के लिए भी वह बड़ी उपयोगी होगी। ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से वह सामान्य पाठकों के काम की चीज़ भी है। हमारा विश्वास है कि यह इतिहास संस्कृत और प्राचीन संस्कृति की जानकारी के लिए बहुत उपादेय सिद्ध होगा। अतएव हम डाक्टर शास्त्री के आभारी हैं और वे हमारे धन्यवाद और बधाई दोनों के पात्र हैं।

विषय-प्रवेश

(ले० प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी एम० ए०, अध्यक्ष प्राचीन इतिहास व संस्कृति, सागर विश्वविद्यालय, सागर)

भारतीय प्राचीन इतिहास और संस्कृति पर हिन्दी में प्रामाणिक पुस्तकों की कमी है। जो ग्रंथ अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाओं में मिलते हैं उनसे हमारे विद्यार्थियों की तृप्ति नहीं हो पाती। जिन विदेशी या उनके अनुयायी देशी विद्वानों ने भारत के प्राचीन इतिहास और संस्कृति पर पुस्तकें लिखीं, उनमें से अधिकांश ने भारत की आत्मा से परिचित न होने के कारण अथवा पूर्वाग्रह के कारण अपनी रचनाओं में ऐसी अनेक बातें लिखीं जो भ्रामक कही जा सकती हैं। प्राचीन भारत का सच्चा रूप प्रकट करने की आवश्यकता इस समय बहुत अधिक प्रतीत हो रही है।

'आत्मानं विजानीहि' (अपने को विशेष रूप से जानो), भारतीय वाङ्मय का एक मूल संदेश रहा है। आध्यात्मिक ज्ञान के साथ शारीरिक और मानसिक उत्थान भी आवश्यक माने गए। पुरुषार्थ-चतुष्टय तथा वर्णाश्रम धर्म की लोक-कल्याणकारी सुदृढ़ नींव पर भारतीय संस्कृति का भवन निर्मित हुआ। सत्य, अहिंसा, त्याग और सेवा —ये इस भवन के चार मुख्य स्तम्भ रहे हैं।

भारतीय संस्कृति का ध्येय व्यापक रहा है। चिंतन की स्वतंत्रता, बाह्य उपादेय तत्त्वों को पचाने की क्षमता और समयानुकूल परिवर्तन इस संस्कृति के गुण कहे जा सकते हैं, जिन्होंने इसे व्यापकता प्रदान की। विचार-स्वातंत्र्य के कारण हमारे यहाँ श्रुति, स्मृति, षड्-दर्शन, बौद्ध-जैन मत, लोकमत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि कितने ही दर्शनों एवं मत-मतांतरों की सृष्टि हुई। आधुनिक काल में भी अनेक महात्माओं ने चिंतन के अपने-अपने दृष्टिकोण उपस्थित किए हैं। परन्तु

जीवन-दर्शन के विभिन्न पक्षों के होते हुए तथा इस विशाल देश में भौगोलिक विविधता के कारण बाह्य रूप में अन्तर होते हुए भी हमारी संस्कृति की आत्मा एक रही है। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और सौराष्ट्र से आसाम तक सारा भारत एक ही सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित रहा है। विविधता में एकता की यह भावना दर्शनीय है।

भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, जिनमें ऐहिक एवं पारमार्थिक श्रेयस् का बीज निहित था, देश-काल की सीमा में आबद्ध नहीं हुए। इतिहास से पता चलता है कि अन्य देशवासियों ने भी एक दीर्घ काल तक भारतीय चिंतन से लाभ उठाया। मिस्र, असीरिया और बेबीलोन के साथ भारत के व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध बहुत पुराने हैं। मौर्य-सम्राट् अशोक ने भी असीरिया, मिस्र, मेसीडोनिया, एपीरस, ताम्रपर्णी, सुवर्णभूमि आदि देशों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित किए। ई० पूर्व द्वितीय शती के अन्त से मध्य एशिया में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना का आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे वहाँ कोक्कुद, खोतन (कुस्तन), कल्मद, भरुक, कूची, अग्निदेश आदि राज्यों में भारतीय धर्म, कला, भाषा और साहित्य का विकास हुआ। इनमें कूची और खोतन भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्र हुए। खोतन के राजाओं के नाम विजय संभव, विजयवीर्य, विजयजय, विजयधर्म आदि थे। वहाँ का गोमति विहार बौद्ध-शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र था। चौथी शती के अन्त में जब चीनी-यात्री फाह्यान वहाँ गया तब महायान-मतावलंबी तीन हज़ार बौद्ध-भिक्षु उस विहार में निवास करते थे और वहाँ धर्म-यात्राएँ बड़े समारोह के साथ चलती थीं।

ईसवी प्रथम छः शताब्दियों में दक्षिण-पूर्वी एशिया में अनेक भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई। हिन्दचीन के एक बड़े भाग का नाम 'सुवर्णभूमि' तथा हिन्देशिया के द्वीपों की संज्ञा 'सुवर्ण द्वीप' प्रसिद्ध हुई। वहाँ जिन भारतीय राज्यों की स्थापना हुई उनके नाम कंबुज, चंपा, कौठार, पांडुरंग, श्रीविजय, मालव, दशार्ण, गंधार आदि हुए। इसी प्रकार अनेक नगरों के नाम अयोध्या, वैशाली, मथुरा, श्रीक्षेत्र,

तक्षशिला, हंसावती, कुसुमनगर, रामावती, धान्यवती, द्वारवती, विक्रमपुर आदि भारतीय नगरों के अनुरूप रखे गए। सुवर्णभूमि तथा सुवर्णद्वीप में भारतीय रहन-सहन, रीति-रिवाज, लिपि, भाषा और कला का प्रसार हुआ। वहाँ के आदिम निवासियों के साथ भारतीयों ने जिस प्रेम और सहिष्णुता का व्यवहार किया उसके कारण वे लोग बहुत प्रभावित हुए। फलस्वरूप ये प्रदेश भारतीय संस्कृति के रंग में पूर्णतया रंग गए और उनकी गणना बृहत्तर भारत के अन्तर्गत की जाने लगी। ये उपनिवेश भारतीय संस्कृति के तो केन्द्र बने ही, साथ ही भारत को चीन, जापान, कोरिया आदि देशों के साथ अपने सांस्कृतिक संबंध दृढ़ करने में सहायता मिली। इनमें मन्दिरों की आकृतियाँ भी 'ताल' के अनुसार बनाई गईं। 'मान सार' के अनुसार 'ताल' वितस्ति को कहते हैं। लिखा भी है, "मुख तालः समा कार्यः शेषाकारः कलाविदा।"[१]

भारतीय संस्कृति का प्रचार इन दूरस्थ देशों में करने का श्रेय हमारे अनेक कर्मठ पूर्वजों को है। वैरोचन, काश्यप, मातंग, आर्यकाल, धर्मकाल, धर्मरक्ष, धर्मप्रिय, कुमारजीव, गुणवर्मा, बोधिधर्म, गुणभद्र, शांतरक्षित, पद्मसंभव, जिनमित्र, दीपंकर, श्रीज्ञान आदि प्रातःस्मरणीय मनीषियों ने यात्रा-जनित कष्टों की परवाह किए बिना संसार के अनेक भागों में भारतीय संस्कृति का संदेश फैलाया। विभिन्न देशों के साथ उक्त तथा अन्य अनेक महानुभावों ने जिस उदारता एवं सहिष्णुता से बन्धुत्व की भावना स्थापित की वह मानव-इतिहास की एक गौरवपूर्ण गाथा है। उनके इस कार्य को परवर्ती एवं आधुनिक समय में गुरू नानक, श्री केवलराम जी,[१] स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण मिशन तथा आर्य समाज द्वारा अग्रसारित किया गया।

---

१. श्री केवलराम जी महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की अष्टम गद्दी के संस्थापक श्री लाल जी के पौत्र थे। इन्होंने शाहजहाँ के शासन-काल में अफ़गानिस्तान के अनेक नगरों में वैष्णव भक्ति का प्रचार किया और वहाँ हिन्दू-धर्म एवं हिन्दी भाषा की ओर लोगों को उन्मुख किया।

भारत में जब तक जीवन के प्रति व्यापक दृष्टिकोण रहा, जब तक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार भावना हमारे लोक-मानस को आंदोलित करती रही तब तक हम संसार में ऊँचे उठे रहे। हमने ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में दूसरे देशों के साथ आदान-प्रदान करने में संकोच नहीं किया। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की कल्याणकारी भावना से प्रेरित होकर हम अपने अगाध ज्ञान और अनुभव का उदारता के साथ दूसरों में वितरण करते रहे। साथ ही दूसरों की उपयोगी बातों को ग्रहण करने में भी हमने संकोच नहीं किया। आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि विद्वानों ने अपने समय के इस व्यापक दृष्टिकोण की ओर इंगित किया है। वराहमिहिर ने लिखा है कि ज्ञान की कुछ दिशाओं में म्लेच्छ कहे जाने वाले यवन अर्थात् यूनानी लोगों की अच्छी गति है; अतः वे ऋषियों के तुल्य ही पूज्य हैं :—

"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्मृतम्।
ऋषिवत्तेपि पूज्यन्ते"·········(बृहत्संहिता, २, १४)।

हमारी उक्त उदार भावना की अभिव्यक्ति न केवल प्राचीन साहित्य में मिलती है, अपितु विदेशी यात्रियों के वर्णनों तथा प्राचीन कला-विशेषों में उपलब्ध है। यूनानी, चीनी, अरब, मुसलमान एवं यूरोपीय यात्रियों में से अनेक ने इसकी ओर अपने यात्रा-विवरणों में संकेत किया है। भारत, लंका, बर्मा, हिन्दचीन, हिन्देशिया, नेपाल, तिब्बत, मध्य-एशिया आदि में बहुसंख्यक भारतीय मन्दिरों, स्तूपों, संघारामों एवं विविध प्रतिमाओं के जो अवशेष सुरक्षित हैं वे उपर्युक्त भावना के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। हमारी विशाल प्राचीन कलाराशि आज विद्वानों के अध्ययन-अनुसंधान का मुख्य विषय बनी है। इसके सम्यक् आलोडन से हमें इतिहास के नवीन तथ्यों की तो जानकारी होगी ही, साथ ही अनेक उन भ्रांत धारणाओं का भी निर्मूलन हो सकेगा जो कुछ लेखकों द्वारा जाने-अनजाने प्रचलित कर दी गई हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक डॉ० हरिदत्त शास्त्री अपने विषय के मान्य

विद्वान् हैं। साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन स्मारकों और कलावशेषों का गहरा अध्ययन कर लेखक ने भारतीय संस्कृति के विद्यार्थियों का निस्संदेह उपकार किया है। शास्त्री जी इस प्रकार के अन्य उपयोगी ग्रंथों की रचना कर हिन्दी वाङ्मय की अभिवृद्धि करेंगे, इसकी मुझे पूरी आशा है।

२६ जनवरी, स्वतन्त्रता दिवस

लेखक के दो शब्द

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्"

The secret of knowledge I unfold unto you, there is nothing higher than man.

कला और संस्कृति मनुष्यता का विकास है अतएव आगरा यूनिवर्सिटी ने संस्कृत एम० ए० के हिस्ट्री के प्रथम पत्र में भिन्न-भिन्न १३ पुस्तकों के कुछ-कुछ अंश निर्धारित किये हुए हैं जिनमें Winternitz की Indian Literature व Rene Grousset की Civilization of India नामक पुस्तक तो मिलती ही नहीं। चाहे कितने ही रुपये हाथ में रखे घूमा कीजिए। Macdonell की History of Sanskrit Literature श्री मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली की कृपा से १९५८ से मिलने लगी है। इनमें से अधिकांश पुस्तकें इंगलिश में हैं। किसी प्रकार वैदिक साहित्य के अंश को छात्र तैयार कर भी ले तो Monuments and fine Arts के अंश को तो तैयार करना और भी कठिन होता है क्योंकि इस विषय में महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रायः इंगलिश में ही हैं, छात्र-वर्ग की इस कठिनाई को मैं तीन-चार वर्षों से अनुभव करता आ रहा था—अतएव सर्वाङ्गीण ऐसी एक पुस्तक बनाने की इच्छा प्रबल हो उठी, क्योंकि मुझे पढ़ते-पढ़ाते समय **"ननु राजीव वयं वशंवदः"** होना ही पड़ा है। यह पुस्तक एक संकलन या नवस्थापन पदार्थ का आकारान्तरीकरण मात्र है। या यों कहिये कि ९-१० पुस्तकों का निचोड़ मात्र है। इसके विषय को हृदयङ्गम रीति से रखने का प्रयास किया गया है। अतएव मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक अध्यापक-छात्र-बुभुत्सु सबके लिए ही अत्यन्त उपयोगी होगी—यदि ऐसा हुआ तो मैं अपने श्रम को फले ग्रहि समझूँगा।

इस पुस्तक में यद्यपि प्रत्येक प्रष्टव्य विषय पर प्रकाश डाला गया

है तथापि विशदता लाने के लिए निम्नलिखित अंशों को और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक जाना पड़ता है :

सामवेद

साम संहिता के दो भाग हैं। पहला आर्चिक या पूर्वार्चिक और दूसरा उत्तरार्चिक कहलाता है। दोनों में ऋचाओं का ही संग्रह है। पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक में मिलाकर १८१० मंत्र हैं और यदि दो बार आई हुई ऋचाओं को छोड़ दें तो केवल १५४६ मंत्र होते हैं। ये सब मंत्र ऋग्वेद में भी आये हैं। केवल पचहत्तर नये हैं। पूर्वार्चिक में ५६५ ऋचाएँ हैं। पूर्वार्चिक के बाद एक छोटा-सा पर्व है जो आरण्यकांड कहलाता है और जिसमें ५५ मंत्र हैं। उसके बाद महानाम्नी आर्चिक संज्ञक एक छोटा-सा संग्रह और आता है। तब उत्तर संहिता या उत्तरार्चिक का आरम्भ होता है जिसमें १२२५ मंत्र हैं।

वस्तुतः साम का अर्थ है गान या संगीत। सामवेद की जो ऋचाएँ हैं उन्हीं के आधार पर गान तैयार किये जाते थे, जैसा कहा है—

"ऋचि अध्यूढं साम गीयते"

इन ऋचाओं को इसी कारण सामगान की योनि या मूलाधार कहा जाता है। इसे ठीक उस प्रकार समझना चाहिए जैसे सूर या तुलसी के पदों को आधार मानकर उन्हें संगीत के रागों में पाया जाता है। ऋचाएँ पदों के समान हैं और उनके साम रागों के तुल्य हैं।

सामवेद के मन्त्रों की ऋचाओं को गानों में परिणत करने के लिए कुछ पद जोड़े जाते हैं जिन्हें 'स्तोभ' कहा जाता है। जैसे—हा उ, हो इ, औ हो वा, औ हो ३, ओ हा ३, ओ वा ३, इत्यादि। वे स्तोभ कुछ वैसे ही अक्षर और पद हैं जैसे आलाप के लिए गेय पदों में राग-रागिनी का गान करने वाले गायक जोड़ देते हैं। ऋचा के आधार पर जो साम या गान तैयार होता है उसमें स्तोभ और स्वरों के द्वारा ही ऋचा के स्वरूप को बढ़ाकर गान-रूप में ढाला जाता है।

सामवेद के गानों में सबसे महत्वपूर्ण उसके स्वर हैं। ये स्वर दो प्रकार के हैं—एक--उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक तीन उच्चारण के स्वर और दूसरे वे सात स्वर जो वस्तुतः संगीत में सुपरिचित हैं और जिनकी सहायता के बिना किसी प्रकार का गान सम्भव ही नहीं है। वस्तुतः "गीतिषु समाख्या" इस जैमिनि-वाक्य के अनुसार गीति ही साम है और गीति के प्राण स्वर हैं। सामवेद के सम्बन्ध में तीन स्वरों और सात स्वरों का भेद इस प्रकार जानना चाहिए। सामवेद की जो मुद्रित संहिताएँ हैं जिनके अन्तर्गत पूर्वाचिक और उत्तरार्चिक का उल्लेख ऊपर हुआ है, जिनमें १, २, ३, के अंक लगे हैं। वहाँ १ का तात्पर्य उदात्त स्वर से, २ का अनुदात स्वर से और ३ का स्वरित स्वर से होता है। ये वे ही स्वर है जो ऋग्वेद मे भी आते हैं। ऋग्वेद में केवल वे दूसरे प्रकार से रेखाओं द्वारा सूचित किए जाते है जबकि सामवेद में अंकों द्वारा। कही कहीं सामवेद में प्रचय नामक एक चौथे स्वर का भी उल्लेख आता है। वस्तुतः प्रथम स्वर स्वरित के ही उत्तरार्ध भाग का नाम है। स्वरित स्वर उदात्त और अनुदात्त के समाहार से बनता है। जैसा "समाहारः स्वरितः" इस पाणिनि सूत्र में कहा गया है। स्वरित का जो आरम्भिक उदात्त अंश है उसकी अर्ध-ह्रस्व मात्रा को स्वरित और अवशिष्ट अंश के शिक्षा-ग्रंथों में प्रचय स्वर कहा जाता है, जैसा नारदीय शिक्षा में आया है :—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ह्यार्चिकं तु स्वरत्रयम् ।
उदात्तश्चानुदात्तश्च तृतीयः प्रचयः स्वरः ।।

(नारदीय शिक्षा)

सामवेद के 'ऋक्तंत्र प्रातिशाख्य' में "आद्यार्धमात्रा स्वरितम्" (सूत्र ५३) में यह स्पष्ट उल्लेख है, अर्थात् उदात्त-अनुदात्त के समाहार से बने हुए स्वरित स्वर में जो आरम्भिक अर्धमात्रा का अंश है उसे ही 'स्वरित' यह नाम दिया जाता है, उसका शेषांश 'प्रचय' कहलाता है।

ऋचा-सम्बन्धी तीन स्वरों का निर्णय उन्हीं नियमों के अधीन है

जो ऋग्वेद में भी लागू होते हैं और पाणिनीय व्याकरण एवं प्रातिशाख्यो में जिनका विवरण है।

ऋचाओं या योनिमंत्रों के आधार पर जो गान या गीतियाँ प्राचीन काल में बनाई गई थीं उनकी संख्या कौथुमी और राणायनी शाखाओ के अनुसार २७२२ है। जैमिनीय शाखा के अनुसार सामगानों की संख्या ३६८१ है जो इस प्रकार समझनी चाहिए :—

गान का नाम	कौथुमीय शाखा में संख्या	जैमिनीय शाखा में संख्या
ग्रामगेय गान	११९७	१२३२
आरण्यगेय गान	२९४	२९१
ऊह गान	१०२६	१८०२
ऊह्य गान	२०५	३५६
योग	२७२२	३६८१

कौथुमी शाखा की मूल ऋचाओं या आर्चियों का सम्पादन श्री बैनफे (लाइप्ज़िग १८४८) और सत्यव्रत ने (कलकत्ता १८७१), राणायनी संहिता का स्टीवैन्सन ने (लन्दन १८४२) एवं जैमिनीय संहिता का (ब्रैसलौने १९०७) किया था। किन्तु उनके गानों का सम्पादन और प्रकाशन केवल श्री सत्यव्रत सामाश्रमी के संस्करण में ही उपलब्ध होता है। अब श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी ने अनेक हस्तलिखित प्रतियों एवं सामवेदाध्यायी विद्वानों के साक्षात् गान से मिलाकर ग्रामगेय और आरण्यगेय सामों का अतिप्रमाणित और सुलभ संस्करण प्रकाशित किया है। ऊहगान और ऊह्यगान का संग्रह अभी मुद्रित होने को है।

इन गानों के पदों के ऊपर १, २, ३, ४, ५, ६, ७—इन अंकों से संगीत के स्वरों का निर्देश किया जाता है। प्रायः अधिकांश मंत्रों में (५) पाँच ही स्वर लगते हैं—अतएव उनमें १, २, ३, ४, ५—ये ही अंक देखे जाते हैं। छः स्वरों से गाई जाने वाली साम-गीतियाँ संख्या में थोड़ी हैं और सात स्वरों से गाई जाने वाली उनसे भी कम।

अतएव ६ और ७ के अंक कुछ ही गानों में मिलते हैं। सामगान के इन सात स्वरों का वंशी के सात स्वरों से सम्बन्ध इस प्रकार है :—

१ प्रथम	मध्यम (म)
२ द्वितीय	गान्धार (ग)
३ तृतीय	ऋषभ (रे)
४ चतुर्थ	षड्ज (सा)
५ पंचम	निषाद (नि)
६ षष्ठ	धैवत (ध)
७ सप्तम	पंचम (प)

इसी स्वरमण्डल के अनुसार उद्गाता लोग यज्ञों में सामगान करते थे। सामगान का आरम्भ जिस स्वर से किया जाता है उसे अति क्रुद्ध स्वर कहा जाता था और वह संगीत का पंचम स्वर ही है।

ऋचा को सामगान में परिवर्तित करने के लिए ६ उपाय काम में लाये जाते हैं जिनके नाम ये हैं—विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम और स्तोभ। उनका स्वरूप इस प्रकार है :—

१. विकार, जैसे 'अग्ने' इस पद को 'ओग्न'यि' इस रूप में गाया जा सकता है।

२. विश्लेषण, जैसे 'वीतये' को "वो यि तोया २ यि" इस रूप में।

३. विकर्षण, जैसे 'ये' इसे "या २३ यि" इस रूप में।

४. अभ्यास, पद का पुनः-पुनः उच्चारण—जैसे "तोया २ यि। तोया २ यि" इस रूप में।

५. विराम, जैसे "गृणानो हव्य दातये" इस मन्त्रांश को गाते समय "गृणानोह व्यदातये।" इस रूप में अर्थात् जहाँ पदांत का अभाव है वहाँ भी गान की सुविधा के लिए बीच में विराम करना।

६. स्तोभ, ऋचा या मन्त्र में जो वर्ण नहीं पढ़े गये हैं उन्हें आलाप के लिए जोड़ कर गान तैयार करना, जैसे, "ओहो

वा । हा उ । एहाउ । हो यि । हो यि ह । औ हो इ । ओ हा ई ।" इत्यादि ।

इन छः सामविकारों या युक्तियों से ऊपर कहे गये स्वर-मण्डल में जो गान गाया जाय उसे साम कहते थे । वास्तविक सामवेद तो गान-मय ही था । मन्त्रमय नहीं था । मंत्र तो केवल उसकी (गान की) योनि या आधारभूत थे । कहा जाता है कि किसी समय इन सामगानों के ८ सहस्र प्रकार थे । अनेक ऋषियों ने मंत्रों का अपने ढंग या लय से गान किया था और वे गीतियाँ उन्हीं के नामों से प्रसिद्ध हो गई थीं, जैसे वामदेव्य, माधुच्छन्दस गान । और भी कई कारणों से इन गानों या रागों का नामकरण किया जाता था जैसे वृहद, रथन्तर, श्यैत, नौघस, यज्ञायज्ञीय, इलाङ्ग, साम आदि-आदि । इनके अनेक नाम पंचविंश ब्राह्मण में यज्ञीय कर्मकाण्ड के प्रसंग में आये हैं ।

सामगान के स्वरूप को समझाने के लिए यहाँ एक मूल ऋचा और उसके आधार पर बना हुआ गान दिया जाता है । इसका नाम "सेतुसाम" है । इसमें चार सेतुओं द्वारा भवसागर को तरने की कल्पना की गई है – दान से अदान को, अक्रोध से क्रोध को, श्रद्धा से अश्रद्धा को और सत्य से अनृत को । जिस प्रकार सरोवर के चारों ओर चार ऊँची पाल बाँधने से ही उसमें जल का संचय होता है उसी प्रकार अदान, क्रोध, अश्रद्धा और अनृत इन चार वृत्तियों के चौखटे में ही इस भवसागर का जल संग्रहीत हुआ है । इन चारों को यदि दान, अक्रोध, श्रद्धा और सत्य से पार कर लिया जाय तो उसके लिए भव-सागर का सन्तरण सम्भव हो जाता है । इसी कारण इस सेतुसाम को पुरुष गतिसाम भी कहते हैं । इस प्रकार की जीवन-चर्या से मनुष्य उस स्थान में पहुँच जाता है जो शोक-रहित, अमृत ज्योति का लोक है । अत-एव इस साम को विशोक और स्वर्ग्य भी कहते हैं । वस्तुतः सामगान के इस पाठ में मूल ऋचा के अतिरिक्त ये चारों पद ऊपर से जोड़े गये हैं । मूल ऋचा का स्वरूप यह है :—

३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
२ ३ १ २ ३ २ उ ३ १ २ ३ २ उ
यो मा ददाति स इदेवमावदह्
३ १ २ ३ १ २
मन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

इस ऋचा का सम्बन्ध आत्मा से है और अर्थ की दृष्टि से यह अति महत्वपूर्ण है। यह ऋग्वेद में नहीं है। किन्तु सामवेद की आरण्य-संहिता में है।

"मैं ऋत का प्रथमज या प्रथमोत्पन्न रूप हूं। मैं देवों से पूर्व विद्यमान था। मेरा नाम अमृत है। जो मेरा दान करता है (जो मुझे जन्म देता है) वही मेरी रक्षा करता है। मैं अन्न हूं और मुझ अन्न-रूप को जो खाता है उसी के एक अंश का मैं भी भक्षण करता हूँ" अन्नरूप जो हमारा शरीर है, यह मृत्यु के अधीन है। यह मृत्यु-भाग नित्य प्रति अमृत में विलीन हो रहा है। जब तक हम उस अमृत का अंश ले पाते हैं तभी तक हमारी रक्षा या अस्तित्व है। इस ऋचा के सामगान का विस्तार इस प्रकार किया गया है:—

हा उ हा उ हा उ।
सेतूँ ्स्तर सेतूँ ्स्तर सेतूँ ्स्तर।
दुरस्तान् दुरस्तान् दुरस्तान्।
दानेनादानम् दानेनादानम् दानेनादानम्।
हा उ हा उ हा उ।
अहमस्मि प्रथमजाऽ२३ स्याऽ३ ४५।
हा उ हा उ हा उ।
सेतूँ ्स्तर सेतूँ ्स्तर सेतूँ ्स्तर।
दुरस्तान् दुरस्तान् दुरस्तान्।
अक्रोधेन क्रोधम् अक्रोधेन क्रोधम् अक्रोधेन क्रोधम्।
हा उ हा उ हा उ।
पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाऽ२३ माऽ३४५।

हा उ हा उ हा उ।
सेतू ॅ् स्तर सेतू ॅ् स्तर सेतू ॅ् स्तर।
दुरस्तान् दुरस्तान् दुरस्तान्।
श्रद्धयाश्रद्धाम् श्रद्धयाश्रद्धाम् श्रद्धयाश्रद्धाम्।
हा उ हा उ हा उ।
यो मा ददाति स इदेव माऽ २३ वाऽ ३४५त्।
हा उ हा उ हा उ।
सेतू ॅ् स्तर सेतू ॅ् स्तर सेतू ॅ् स्तर।
दुरस्तान् दुरस्तान् दुरस्तान्।
सत्येनानृतम् सत्येनानृतम् सत्येनानृतम्।
हा उ हा उ हा उ।
अहमन्नमन्नम दन्तमाऽ २३ द्मि ३४५।
हा उ हा उ हा उ।
एषा गतिः एषा गतिः एषा गतिः।
एतदमृतम् एतदमृतम् एतदमृतम्।
स्वर्गच्छ स्वर्गच्छ स्वर्गच्छ।
ज्योतिर्गच्छ ज्योतिर्गच्छ ज्योतिर्गच्छ।
सेतू ॅ् स्तीर्त्वा चतुरा २३४५।

सामगान का सम्बन्ध सर्वथा संगीत शास्त्र से है। जिस प्रकार संगीत में मन्द्र, मध्य और तार तीन-तीन स्वर-सप्तक होते हैं उसी प्रकार सामगान में भी मन्द्र, मध्यम और उत्तम ये तीन स्थान सात स्वरों के माने जाते हैं। जैसा ऋक्प्रातिशाख्य में कहा है—त्रीणि मन्द्र मध्यमं उत्तमं च स्थानानि आहुः सप्त यमानि वाचः। सप्तस्वरा ते यमाः। (ऋ० प्रा० १३।४२,४४)

सामगान करने वाले अधिकांश विद्वान् संगीत का अभ्यास न होने से साम की गीतियों के स्वरों का कण्ठ से उच्चारण नहीं करते हैं। वे सातों स्वरों का हाथ की अंगुलियों पर संकेत से विन्यास करते हैं। अँगूठे के अग्र भाग में क्रुष्ट, निम्न भाग में प्रथम स्वर, तर्जनी अंगुली में

द्वितीय या गान्धार स्वर, मध्यमा में तृतीय स्वर या ऋषभ, अनामिका में चतुर्थ स्वर या षडज्, कनिष्ठिका के निम्न भाग में पंचम स्वर या निषाद और अग्र भाग में षष्ठ स्वर या धैवत का संकेत किया जाता है। (नारदीय शिक्षा १। ६/३) सामवेदीयों के सम्प्रदाय में यही स्वर-विन्यास प्रसिद्ध है। कोई इसे हस्त-वीणा भी कहते हैं। अंगुलियों को एक साथ जोड़कर रखना चाहिए फैलाकर नहीं। अंगुष्ठ के अग्र-भाग से अंगुलियों के मध्य भाग का स्पर्श करते हुए स्वर-संकेत बताना चाहिए। सामगान के प्रसंग में कुछ और भी अवान्तर स्वर और श्रुतियाँ होती हैं जिनका परिचय प्रातिशाख्य ग्रन्थों से प्राप्त होता है। इस समय इस बात की आवश्यकता है कि साम-संगीत का शास्त्रीय अध्ययन और प्रयोगात्मक गान प्रत्यक्ष सिद्ध होना चाहिए। सामगान करने वालों में जो पद्धति परम्परा से सुरक्षित है उसका भली प्रकार अध्ययन करने के उपरान्त ऋचाओं के गीतात्मक स्वरूप के उद्धार करने की आवश्यकता है।

छन्दः शास्त्र

आचार्य पाणिनि के छोटे भाई का नाम पिङ्गल था। उसने सबसे प्रथम छन्दःशास्त्र पर कलम उठाई। वे शेषनाग के अवतार माने जाते हैं। उनको खाने के लिए जब गरुड़ दौड़ा तो उन्होंने भुजङ्गप्रयात के विस्तार से अपनी रक्षा की थी और समुद्र में जाकर डुबकी लगा ली यह प्रसिद्धि है। जिस प्रकार अष्टाध्यायी के आठ अध्याय हैं, उसी प्रकार पिङ्गल सूत्र में भी आठ अध्याय हैं। इसमें लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के छन्दों का निरूपण है। लिखा है कि :—

याः षट् पिङ्गलनागाद्यैः छन्दो विचितयः कृताः।
तासां पिङ्गलनागीयाः सर्वसाधारणी मता ॥

पिङ्गलसूत्र के बाद शौनकाचार्य ने ऋक्प्रातिशाख्य को बनाया, जिसका प्रधान विषय छन्दोनिरूपण है। शौनक के शिष्य कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी का निरूपण किया। तदनन्तर महाभाष्यकार पत-

ञ्जलि से प्राचीन एक अन्य पतञ्जलि ने 'निधानसूत्र' नाम का छन्दोग्रन्थ लिखा, जिसमें सामवेदीय छन्दों का विशेष निरूपण है। तदनन्तर सामवेद के पदकार भगवान् गार्ग्याचार्य ने 'उपनिदान सूत्र' नाम का छन्दः शास्त्र लिखा। इसके बाद 'जनाश्रय' नाम के विद्वान् ने 'छन्दोविचिति' को बनाया।

पिङ्गल मुनि के निम्नलिखित सूत्रों से यह प्रतीत होता है कि अन्य भी छन्दःशास्त्र के आचार्य हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि :—

उरो बृहतीति यास्कस्य, (३—३०)
स्कन्धो ग्रीवी कौष्टुके: (३—२६)
सतो बृहती तण्डिनः (३—३१)
सिंहोन्नता काश्यपस्य (७—६)
अन्यत्र शत भाण्डाभ्याम् (७—३४)

इन सूत्रों से सिद्ध है कि उक्त आचार्यों से भिन्न यास्क, कौष्टुकि, तण्डि, काश्य आदि आचार्य पाणिनि और पिङ्गल से पूर्व हो चुके थे। इनके बनाये हुए ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं होते। इसी प्रकार पिङ्गल ने (५-१८) व (७-१०) में तथा उव्वट ने ऋक् प्रातिशाख्य के भाष्य में सैतव नाम के आचार्य को भी स्मरण किया। छन्द का लक्षण ऋक्सर्वानुक्रमणिका के उपोद्घात में तथा अथर्व बृहत् सर्वानुक्रमणी के उपोद्घात में किया है। यह निम्नलिखित प्रकार से है :—

(१) **यदक्षर परिमाणं तच्छन्दः।**
(२) **छन्दोऽक्षर संख्या व्यवच्छेदनमुच्यते।**

अर्थात् जिसमें अक्षरों के परिमाण की गणना हो उसे छन्द कहते हैं। यह गणना मात्राओं की गणना से तथा अक्षरों की गणना से की जाती है अतः मात्रिक और वर्णिक दो छन्द बन जाते है। वैदिक छन्दों का विस्तार मेरे बनाये हुए 'ऋक्सूक्त संग्रह' की भूमिका में देखिये। तथा वर्णिक छन्दों का विस्तार चौखम्बा से प्रकाशित मेरी लिखी हुई टीका से युक्त 'छन्दोमंजरी' में देखिये।

अर्थशास्त्र

'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र', 'औशनस अर्थशास्त्र', 'कौटल्य अर्थशास्त्र' ये तीन अर्थशास्त्र मिलते हैं। जिनमें बार्हस्पत्य खण्डित है। औशनस के आधार पर 'शुक्रनीति' का निर्माण किया गया है। 'चाणक्य नीति' कौटल्य की ही देन है। 'कौटल्य अर्थशास्त्र' के अन्त में दिये गए चाणक्य-सूत्र चाणक्य की प्रतिभा के परिचायक हैं। इन सब ही अर्थशास्त्रों में, सन्धि, विग्रह, यान, आसन द्वैधीभाव, संश्रय इन उपायों के आधार पर दुर्गशक्ति राजशक्ति, मंत्रशक्ति, सचिव शक्ति, नगर-निर्माण, राज्य विस्तार, दिव्य प्रयोग, कूट प्रयोग, नैतिक व्यवहारों का वर्णन किया गया है।

जाति-प्रथा का विकास

सामान्यतः सभी देशों में, समाज में विभिन्न वर्ग पाये जाते हैं। इस भेद का कारण उत्पत्ति, नाम, धर्म, पेशा व अन्य सांस्कृतिक भिन्नतायें होती हैं। किन्तु अब यह भिन्नता जन्म से ही मान ली जाती है जिसे 'जाति' संज्ञा दी गई है। यह भेद बढ़ता ही जा रहा है।

वैदिक काल में भारतीय समाज मुख्यतः दो वर्गों में था—आर्य और अनार्य। प्रारंभ में सभी लोग सभी कार्य करते थे। जो उस ऋचा से स्पष्ट होता है जिसका भाव यह है—मैं एक गायक हूँ, मेरा पिता बढ़ई था, माता सिला बीनने वाली थी। हम सबके साधन अलग-अलग हैं किन्तु मुख्य ध्येय धनोपार्जन है।

भारत में आते ही आर्यों को लगातार युद्ध करने पड़े। फलतः समाज को शांतिपूर्ण एवं व्यवस्थित रखने के लिए इसे वर्णों में बाँटा गया। उन चार वर्णों में से श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मणों का माना जाता था जिसका कर्म यज्ञों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके राष्ट्र की उन्नति करना था। दूसरा मुख्य वर्ण क्षत्रियों का था जिसका कार्य बाह्याक्रमणों से अपने समाज की रक्षा करना और आर्येत्तर प्रदेशों पर आक्रमण करके अपने राज्य की सीमा बढ़ाना। तृतीय श्रेणी वैश्यों की थी जिनका कार्य हस्त-कला एवं कृषि द्वारा समाज की सहायता करना एवं व्यापार द्वारा देश

की समृद्धि करना। चौथा वर्ग शूद्रों का था। इनका कार्य प्रथम तीनों वर्णों की सेवा करना था। ये लोग अधिकांशतः पराजित वर्ग के होते थे। इन वर्गों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता की बात निम्न ऋचा से सिद्ध है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहु राजन्य कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत् ॥

किन्तु यह ऋचा 'पुरुष सूक्त' की है अतः बाद की रचना होने के कारण यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि आदि वैदिक काल में भी यही व्यवस्था थी। कुछ विद्वानों का मत है कि यहाँ पर इन ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र शब्दों का अर्थ पेशे से संबंधित नहीं है। जैसे ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्म को जानने वाला ही है। किन्तु अधिकांश लोग यह मानते हैं कि ये वर्ण जाति के प्रतीक न होकर पेशे के प्रतीक अवश्य थे।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप—केवल ब्राह्मण ही वैदिक ऋचाओं के द्रष्टा या धार्मिक कृत्य कराने वाले नहीं होते थे। क्योंकि ऋग्वेद का ब्राह्मण बनाने वाला ऐतरेय मुनि शूद्रा का पुत्र था। अंतर्जातीय विवाह-प्रथा भी अनुलोम पद्धति से प्रचलित थी। पेशे परम्परा से नहीं अपनाये जाते थे। शूद्र लोगों को निम्न वर्ग में रहते हुए भी अन्य वर्णों के समान ही अधिकार प्राप्त थे।

उत्तर वैदिक-कालीन जाति-व्यवस्था—वर्ण-व्यवस्था दृढ़ न होने के कारण समाज में संतुलन न हो पाया। लोग रुचि के अनुसार ऊँचे कार्य की ओर अधिक दौड़ते थे। ब्राह्मणों ने वेदाध्ययन बंद कर दिया। अतः इस व्यवस्था को दृढ़ता देने की आवश्यकता पड़ी। ब्राह्मणों में इन वर्णों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—"चत्वारो वै वर्णाः" इस समय ब्राह्मणों के दो रूप मिलते हैं। प्रथम राजाओं के पुरोहित और द्वितीय समाज में रहकर धार्मिक कृत्य कराने वाले। अब वर्ण पेशे से न होकर जन्म से माने जाने लगे। किन्तु फिर भी वर्ण बदलने का भी विधान था। क्योंकि अज्ञानी ब्राह्मणों को यज्ञादि में तिरस्कारपूर्वक निकाल दिया जाता था और तपस्वी शूद्र को भी धार्मिक कार्यों की अनुमति मिल जाती थी। अन्तंजातीय विवाह अब भी होते थे। शूद्रों के अधिकारों

में विशेष कमी हो गई थी । सामान्यतः धार्मिक कार्यों में वे भाग नहीं ले सकते थे यहाँ तक कि मृतकों को जल देने तक का निषेध कर दिया था ।

सूत्र-कालीन जाति-व्यवस्था—धीरे-धीरे यह व्यवस्था कठोर होती गई । वैश्यों और शूद्रों के अधिकार संकुचित कर दिये गए । 'शांखायन श्रौत सूत्र' में वैश्य और क्षत्री को भी वाजपेय यज्ञ का अधिकार दिया गया है । किन्तु बाद के सूत्रों में इस प्रकार के अधिकारों का निषेध मिलता है । ब्राह्मणों के अधिकार बढ़ा दिये गए । उन्हें राज्य-कर से मुक्ति मिल गई । वे राजा भी बन सकते थे किन्तु क्षत्री पुरोहित नहीं बन सकता था । पाणिनि ने शूद्रों को दो भागों में बाँटा है—निर्वासित और अनिर्वासित । इससे स्पष्ट है कि कुछ शूद्रों को नगर के अन्दर रहने की अनुमति नहीं थी । यहाँ तक कि मानवीय संस्कारों में भी चारों वर्णों के लिए अलग-अलग नियम बनाये गए । ब्राह्मण अपने तप के कारण और क्षत्री अपने बल के कारण श्रेष्ठता प्राप्त कर रहे थे । धार्मिक नियमों के अतिरिक्त राज्य के नियम भी भिन्न-भिन्न जाति के भिन्न-भिन्न हो गये । अंतर्जातीय विवाहों पर नियंत्रण किया गया और भिन्न-भिन्न जाति के माता-पिता से उत्पन्न बालक को 'वर्णसंकर' संज्ञा दी जाती थी । 'वसिष्ठ-धर्म सूत्र' में निषिद्ध प्रतिलोम विवाह-पद्धति से उपजातियों का आविर्भाव बतलाया गया है । जैसे शूद्र वर्ण का पुरुष एवं ब्राह्मण कन्या से उत्पन्न सन्तान चाण्डाल होगी । प्रारम्भ में सन्तान का वर्ण पिता का ही वर्ण होता था किन्तु बाद में अन्तर्जातीय बनने पर अन्य वर्ण भी बनने लगे जैसे शूद्र । शूद्रों की भाँति वर्णसंकरों को भी धार्मिक कृत्यों में भाग लेने का अधिकार नहीं था । किन्तु गौतम और वसिष्ठ सूत्रों में शूद्रों और वर्णसंकरों की शुद्धि के उपाय बतलाये गए हैं ।

महाकाव्य-कालीन वर्ण-व्यवस्था—ब्राह्मणों ने समाज में सम्मान प्राप्त करने के लिए अन्य जातियों के लिए अधिक कड़े नियम बना दिये थे और यहाँ तक होने लगा कि वर्णसंकर और शूद्रों को ये लोग शिक्षा भी नहीं देते थे । किन्तु दूसरी ओर गीता में कहा गया है कि जन्म वर्णा-

व्यवस्था की कुंजी नहीं बल्कि कर्मानुसार ही वर्ण-व्यवस्था बनाई गई है। "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः" जैसे द्रोणाचार्य और परशुराम ने युद्धों में भाग लिया और विश्वामित्र ने क्षत्रिय होते हुए भी यज्ञ में भाग लिया। किन्तु सच बात यह भी है कि जाति के अनुसार ही कर्म भी करने पड़ते थे। जैसे कि अर्जुन को युद्ध में भाग लेने के लिए उनका धर्म कहकर प्रोत्साहित किया गया।

बौद्धकालीन जाति-व्यवस्था—बुद्ध ने इस जाति-भेद का प्रबल विरोध किया और इसलिए इस प्रकार की व्यवस्था बनाने वाले ब्राह्मण-समाज में टेढ़ी निगाहों से देखे जाने लगे। क्षत्रियों के अधिकार बढ़ा दिये गए। वे ब्राह्मण कन्या से शादी कर सकते थे किन्तु ब्राह्मण को अपनी कन्या नहीं देते थे। भोजन की छुआछात भी नहीं मानी गई किंतु शूद्रों का अब भी बुरा हाल था। समाज का हर व्यक्ति उन्हें अपना दास समझता था। स्मृतियाँ भी इसी समय बनीं और उनमें जाति के अनुसार ही नियम बनाये गए। अब वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार न होकर जन्म के अनुसार ही हो गई थी। भले ही कोई क्षत्री व्यापार करने लगे किन्तु वह और उसकी सन्तानें क्षत्री ही कहलाती थीं। 'दक्ष ब्राह्मण-जातक' में ब्राह्मण के १० कर्म बताये गए हैं—(१) चिकित्सक, (२) कुली, (३) अमीन, (४) भूमि खोदने वाले, (५) फल-मिठाई आदि बेचने वाले, (६) कृषक, (७) पुरोहित, (८) राजपुरुष और (९) आखेटक तथा (१०) राजसेवक।

पालि-ग्रंथों में उक्त चार वर्णों के अतिरिक्त एक हीन जाति का भी उल्लेख है। इन्हें तीन कर्म करने पड़ते थे। चाण्डालादि ऐसी ही जातियाँ थीं। इस युग में जातियों की संख्या बढ़ी। जातियों के मिश्रण के अति-रिक्त भी एक जाति में ही पूर्वजों के आधार पर वर्ग बँटने लगे। इसी समय विदेशियों का आगमन हुआ। उन्होंने भले ही भारतीय भूमि पर अधिकार जमाया हो, किन्तु भारतीय समाज में उन्हें स्वयं को खो देना पड़ा। किन्तु फिर भी रोम की तरह भारतीयों ने उन विदेशियों को अपनी समानता नहीं देनी चाही और इस कारण से उनकी या उनसे मिश्रित

भारतीयों की जातियाँ अलग बना दी गईं ।

इस समय जाति बदलने की अनुमति नहीं थी। मनु ने विभिन्न कार्यों का वर्णन दिया है :—

"ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्र कामाय नेस्यते ।
इह कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यायनन्त सुखाय च ॥"
"राजा प्रकृति रंजनात् ।"
"कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥"
"यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे वैश्य जातौ प्रतिष्ठिता ॥"
"शुश्रषा सर्व वर्णानां शूद्र मेकमकल्पयत् ॥"

गुप्त काल में केवल जन्म और पेशे ही जाति-भेद के कारण न होकर कर्म-भेद भी जाति का कारण हो गया था। जैसे पांचाल, मगध इत्यादि। सामाजिक स्तर बहुत गिर चुका था। 'दशकुमार चरित' में ब्राह्मण चोर का वर्णन मिलता है। 'मृच्छकटिक' में इस काल के समाज का यथार्थ वर्णन मिलता है। एक ब्राह्मण को वेश्या के साथ शादी करने की अनुमति मिल जाती है। धर्म की कट्टरता के कारण लोगों का बहिष्कार कर दिया जाता था और ऐसे लोगों की अलग जातियाँ बन जाती थीं। धर्म विशेष अपना लेने पर भी लोग अपनी अलग जातियां बना लेते थे।

जाति-प्रथा के गुण-दोष—(१) श्रम-विभाजन के आधार पर बनी जातियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही व्यवसाय के करते रहने से कला-कौशल एवं उद्योगों में बहुत निपुण हो जाती हैं। (२) प्रत्येक जाति के लिए पृथक्-पृथक् व्यवसाय होने से प्रतिस्पर्धा नहीं पैदा होती। साथ ही एक व्यवसाय में लगे हुए व्यक्ति को दूसरे वर्ग के लोगों की सहायता की आवश्यकता रहती है जिस कारण आपस में प्रेम बढ़ता है। (३) अपनी जाति वालों से स्वाभाविक बंधुत्व उत्पन्न होता है। (४) संस्कृति बनाये रखने के लिए समाज का व्यवस्था-पूर्ण गठबन्धन रहता है। मेगस्थनीज़ के शब्दों में—"चन्द्रगुप्त के समय सामाजिक व्यवस्था सुन्दर

थी। रणक्षेत्र में नगाड़े बजते थे और घरों में वेद-पाठ होता था तथा खेतों में हल चला करते थे।" पर सभी कार्य एक साथ चलते रहने का कारण यह सामाजिक व्यवस्था ही थी।

हिन्दू विवाह

स्त्री-पुरुष का पारिवारिक जीवन ही मनुष्य-जाति के विकास का मूल है। एक नैसर्गिक प्रवृत्ति के द्वारा स्त्री-पुरुष मिलते और सृष्टि का विस्तार करते हैं। इस रीति से मानव-जाति की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहती है तथा उनका सांस्कृतिक विकास भी होता है। अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझने तथा इस संयोग को मर्यादायुक्त रखने के लिए समस्त सभ्य समाजों में विवाह के नियम बनाये गए, भले ही कहीं यह नियम प्रथा मात्र ही क्यों न हों। मध्यकालीन वैवाहिक नियमों में धार्मिकता को प्रधानता दी गई, सामाजिक व्यवस्था, वैयक्तिक एवं भौतिक हित की अवहेलना की गई। आधुनिक समाजों ने वैयक्तिक स्वतंत्रता के साथ सामाजिक अवस्था का ऐक्य स्थापित करने के लिए परस्पर-विरोधी नियमों का निर्माण किया जिसमें विरोध के मूल में नैसर्गिक नियमों की अवहेलना है।

इस प्रकार वैवाहिक नियमों के रूप में तीन आदर्श हो सकते हैं— १. केवल व्यक्तिगत एवं इन्द्रिय-तृप्ति। २. शुद्ध सामाजिक हित तथा नैसर्गिक लाभ तथा ३. आध्यात्मिक उन्नति—मानव-विकास की पराकाष्ठा एवं उसका मोक्ष। हिन्दुओं में विवाह एक पवित्र संस्कार माना गया है। मुसलमानों, ईसाइयों तथा अन्य धर्मावलम्बियों में विवाह को केवल एक सौदे के रूप में माना जाता है। परिस्थिति-विशेष में अलग हो जाना उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। किन्तु हिन्दू विवाह का स्वरूप आदि काल से ही आध्यात्मिक संयोग होने के कारण यहाँ पृथक् होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

हिन्दू-विवाह के आधुनिक रूप को ठीक-ठीक समझने के लिए उसका विकास-क्रम जान लेना अत्यावश्यक है, काल की दृष्टि से इस विकास

को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। वैदिक काल, ब्राह्मण काल, सूत्र काल एवं स्मृति काल।

वैदिक काल—इस काल में विवाह कन्या के रजस्वला होने के उपरान्त होता था। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि बालिकाएँ उत्सवों पर वस्त्राभूषण धारण कर अपने प्रेमियों को आकृष्ट करती थीं। उनके प्रेमी जन एक प्रकार के जादू (spell) का प्रयोग अन्य जनों को प्रसुप्त करने के लिए करते थे ताकि उनका संयोग निर्विघ्न संभव हो सके।

कुछ बालिकाएँ आजन्म कुमारी रहकर पिता के घर में ही अपने जीवन को व्यतीत कर देती थीं। विवाह-निर्वाचन (choice of marriage) में अधिक बन्धन नहीं था केवल दस्यु वर्ण, भाई-बहन, पिता-पुत्री आदि कुछ ऐसे ही सम्बन्धों का निषेध था।

वर-वधू के चुनाव में भी पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। युवक होने पर वे स्वयं सम्बन्ध कर लेते थे, पिता व भ्राता की स्वीकृति लेने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। विवाह के पूर्व ही वर-वधू में प्रेमांकुर (पूर्वराग) उत्पन्न हो जाता था अतः उनका वैवाहिक जीवन सुखमय व्यतीत होता था।

ऐसा भी उल्लेख है कि वर में कुछ कमी होने पर कन्या-पक्ष वाले कुछ धन माँगते थे, साथ ही कन्या में कमी होने पर दहेज की प्रथा का भी संकेत मिलता है।

एक स्थल पर विमेदा के द्वारा Purumitra की कन्या के हरण का भी उल्लेख है। गांधर्व-एवं राक्षस-विवाह के भी संकेत मिलते हैं।

विवाह के अवसर पर वर बरात लेकर जाता था। मांसादि से उसका स्वागत होता था। अग्नि की परिक्रमोपरान्त वधू पति के गृह आती थी। बड़ी धूमधाम के साथ वर-वधू को गुरुजन आशीर्वाद देते थे।

वधू गृह-स्वामिनी होती थी। इससे यह पता चलता है कि पिता के गार्हस्थ्य जीवन से उपराम ग्रहण करने पर ही पुत्र का विवाह होता था।

संतान—विशेषकर पुत्र-प्राप्ति ही विवाह का परम उद्देश्य होता था। विधवा-विवाह का भी प्रचलन था, किन्तु केवल पुत्र-हीन विधवाओं

का। और वह भी अपने देवर के साथ केवल पुत्र-प्राप्ति-पर्यन्त यह सम्बंध रहता था।

बहु विवाह-प्रथा (Polygamy) का भी उल्लेख है किन्तु यह राजन्य वर्ग तक ही सीमित था। सामान्यत: एक विवाह (Monogamy) की ही प्रथा थी।

ब्राह्मण काल में—सगोत्र-विवाह का निषेध था किन्तु कुछ अपवाद भी प्राप्त होते हैं। विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी जैसा आथर्व (IX,5,27) से स्पष्ट है।

बहु विवाह राजन्य-वर्ग से इतर व्यक्तियों में भी स्थान पा चुका था। मैत्रायणी संहिता में मनु की १० पत्नियों का उल्लेख है।

Hypergamy का भी प्रचलन था। ज्ञान श्रुति ने (छान्द० उप०) अपनी पुत्री का विवाह एक ब्राह्मण के साथ किया था। वाजसनेयी संहिता में 'एक कुमारी पुत्र' का उल्लेख है। आर्य तथा शूद्रों का भी सम्बन्ध हो जाया करता था।

इस युग में कुछ रूढ़ियाँ भी चल पड़ी थीं जैसे 'मातृ-विहीन कन्या के साथ विवाह न करे', क्योंकि 'उस कन्या का बालक पिता के कुल मे चला जाता था।'

सूत्र काल में—इस युग में अनुलोम विवाह की प्रथा थी। धर्म सूत्रों एवं आश्वलायन गृह्य सूत्रों में इस प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है किन्तु **पैशाचि विवाह** जिसमें कन्या के सम्बन्धी-वर्ग के सोते होने पर उसका अपहरण होता था तथा **राक्षस-विवाह** (जिसमे कन्या के सम्बन्धियों से लड़कर उसका अपहरण) विशेष उल्लेख-नीय हैं।

माता अथवा पिता के गोत्र में विवाह वर्जित था। तत्कालीन विवाह-विधि भी अजीब थी। प्रेमी विवाह का प्रस्ताव रखता था तथा अपने पिता की अनुमति पाने पर एक यज्ञ का अनुष्ठान करता था। कन्या को स्नान कराया जाता था। पुरोहित बलि चढ़ाता था। वर आभू-षणादि समर्पित करता था। तत्पश्चात् कन्यादान होता था और पाणि-

ग्रहण संस्कार (वर दाहिने हाथ से कन्या का हाथ ग्रहण करता था) का अनुष्ठान होता था। अंत में शिखारोहण, अग्नि परिक्रमा तथा सप्तपदी संस्कार आदि होने के उपरान्त कन्या उसके साथ पति-गृह के लिए प्रस्थान करती थी।

कन्या की आयु (marriageable age) के विषय में मतभेद था। कुछ तो युवा होती थीं और कुछ अल्पायु वाली जैसा कि उसके लिए प्रयुक्त 'नग्निका' शब्द से प्रकट होता है। विवाह के चौथे दिन 'चतुर्थी कर्म' होता था।

ब्राह्मण तथा देव विवाहों में कन्या के साथ दहेज का भी प्रचलन था।

मनुस्मृति (३/२७-३४) में तथा अन्यत्र भी हिन्दू-विवाह के आठों प्रकारों का अवरोह-क्रम से सविस्तार वर्णन हुआ है।

१. ब्राह्म विवाह—इसका प्रकट प्रधान उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति है अर्थात् गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए मोक्ष लाभ। इसी को आध्यात्मिक भी कहते है। इसमें समुचित दहेज के साथ विवाह-योग्य कन्या का दान सच्चरित्र एवं सुयोग वर को किया जाता है। इसमें विद्या-वारिधि देवता का प्रेम प्राप्त करने हेतु कन्या स्वयं घोर तप करती थी। यथा—शिव-पार्वती, वसिष्ठ अरुन्धती।

२. दैव-विवाह—इसमें आभूषण-विभूषिता कन्या का दान किसी यज्ञ-क्रिया में पौरोहित्य-कर्म का समुचित सम्पादन करने वाले याजक को किया जाता है। उस काल से याजन-समाज का सबसे उन्नतिशील, आदरणीय तथा धनावह व्यक्ति समझा जाता था जिसके साथ सम्बन्ध बौद्धिक मैत्री, आर्थिक स्वतन्त्रता तथा गौरवपूर्ण सामाजिक स्थिति का विधायक समझा जाता था। च्यवन तथा ऋचिका अथवा इन्द्र और इन्द्राणी का परिणय इसी प्रकार का सम्बन्ध था।

३. आर्ष विवाह—आर्ष विवाह का सम्बन्ध ऋषि शब्द से है। इसमें माता-पिता के आग्रह से ऋषि विवाह-बन्धन को स्वीकार करके गृहस्थ जीवन बिताने का निर्णय कर लेता है। यह एक प्रकार से

सामान्य मध्यम-वर्ग के लोगों का विवाह है, इसमें कोई आध्यात्मिक भाव नहीं है। अगस्त ऋषि एवं लोपामुद्रा का सम्बन्ध इसी प्रकार का सम्बन्ध था।

४. 'मानुष अथवा 'प्राजापत्य' विवाह—यह प्रशस्त प्रकार का विवाह है। इसका स्पष्ट उद्देश्य संतान 'प्रजा) की उत्पत्ति है। उपरि-वर्णित तीनों से भिन्न यह स्त्री और पुरुष का संयोग है। इसके सम्पादन-काल की यह स्पष्ट आज्ञा है 'तुम दोनों साथ रहकर धर्माचरण करो।' विवाह के इस प्रकार में हिन्दू एवं अन्य विवाहों के वास्तविक स्वरूप का दर्शन होता है अर्थात् पत्नी से पुत्र-प्राप्ति जिसके द्वारा पितृ तर्पण, अतिथि-सत्कार एवं अभावग्रस्तों को भोजनादि मिलता रहे और इस रीति से समाज और उसकी विभिन्न संस्थाओं की परम्परा बनी रहे। 'पुत्रार्थे क्रियते भार्या पुत्रः पिण्ड प्रयोजकः।

इन चार प्रकारों के आदर्श विवाह का वर्णन मनु ने विशद रूप से करते हुए (३/ ३७-४२) में इनके फल को बतलाया है। शेष चार प्रकारों की अनुमति तो देता है किन्तु उन्हें श्रेष्ठ नहीं बतलाया है। इन निन्दनीय विवाहों से उत्पन्न संतान क्रूरकर्मी, मिथ्यावादी, वेद तथा धर्म-निन्दक होती है।

५. असुर विवाह—इसके अनुसार पति कन्या एवं उसके सम्बन्धियों को यथाशक्ति धन देकर वयःप्राप्त कुमारी को ग्रहण करता है। यह एक प्रकार का अपहरण ही है। पाण्डु एवं माद्री का सम्बन्ध इसी कोटि का था।

६. गांधर्व विवाह—प्रणय-मूलक या भावप्रेरक होता है। प्रेम होने पर तुरन्त प्रेमी जन संभोग में प्रयुक्त हो जाते हैं। समाज की अनुमति प्राप्त करने तक ठहरने का धैर्य उनमें नहीं होता। इसका मुख्य प्रयोजन शारीरिक संयोग है जो किसी रीति या विधि के पालन के पूर्व ही हो जाता है, पर उन रीतियों को कर लेने पर समाज की स्वीकृति भी मिल जाती है जिससे वैवाहिक पवित्रता, सामाजिक एवं वैयक्तिक शांति अक्षुण्ण रह जाती है। उदाहरण के लिए दुष्यन्त एवं शकुन्तला का विवाह।

७. राक्षस विवाह—कन्या के सगे-सम्बन्धियों को मारकर रुदन करती कन्या का अपहरण कर लेना राक्षस विवाह कहलाता है ; योद्धाओं द्वारा ऐसे अपराध को भी करते हुए अपहरण करके लाई हुई कन्या उचित विधियों की पूर्ति के बाद परिणय करने योग्य है। अर्जुन तथा सुभद्रा का उदाहरण ऐसा ही है। संभव है आजकल की बारात—सेना के और मारू बाजे के रूप में इस प्रथा की ओर ही संकेत करती है ।

८. पैशाच विवाह—प्रसुप्ता, नशे में चूर अथवा उन्मना कन्या के साथ प्रसंग करना पैशाच विवाह है। ऊषा-अनिरुद्ध का विवाह इसी कोटि का है। मनु के काल मे असुर एवं पैशाच विवाह अधर्म माने जाते थे ।

हिन्दू-विवाह की पवित्रता—मनुष्य की प्रबल इन्द्रिय-लालसा का संकोच करके उसे एक सीमा में आबद्ध करने के लिए विवाह करना आवश्यक है यही हिन्दू-विवाह का मर्म है। यह भोगलिप्सा का साधन नहीं बल्कि एक धार्मिक संस्कार है जिससे अन्तःशुद्धि होती है। शुद्ध अन्तः-करण में तत्व ज्ञान एवं भगवत्प्रेम उत्पन्न होता है जो जीवन का परम पुरुषार्थ है ।

मनुष्य पर तीन ऋण होते हैं जिनके चुकाने से मोक्ष सुलभ हो जाता है। इनमे यज्ञ-यागादि द्वारा देव-ऋण का, स्वाध्याय से ऋषि-ऋण का और विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्ति करके श्राद्ध-तर्पण आदि करने के लिए पितृ-ऋण का परिशोधन होता है। मनु ने लिखा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ।।

इस प्रकार पितरों की सेवा तथा सद्धर्म पालन की परम्परा सुर-क्षित रखने के लिये संतान-उत्पादन विवाह का दूसरा उद्देश्य है।

इतना ही नही मनु ने संतानोत्पादन, धर्म, कर्म, सेवा, उत्तम प्रेम पितरों तथा अपना उद्धार स्त्री के ही अधीन बताया है ।

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्चह ।।

हिन्दू धर्म में विवाह एक अनिवार्य संस्कार है। ब्रह्मचर्य आश्रम से

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। संस्कारों की शुद्धि के विना मानव-जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति भी असंभव है अतः, लौकिक एवं पारलौकिक दोनों दृष्टियों से विवाह-संस्कार सबसे आवश्यक है। दाम्पत्य सम्बन्ध के मधुर सामञ्जस्य रूप द्वारा मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों का निरोध होता है। साथ ही गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का अवलम्बन भी है अतः लोक तथा परलोक दोनों में पूर्णता प्राप्त करने के लिये यह सम्बन्ध परमावश्यक है।

हिन्दू-विवाह की इन्ही विशेषताओं के कारण ही तो विदेशियों ने भी यहाँ की विवाह-विधि को सर्वोत्तम घोषित किया है।

फ्रेडरिक पिनकट का कथन है—"हिन्दुओं का विवाह-बन्धन टूटने के लिये नहीं होता, वह वेद-शास्त्रों के अनुसार लोक-परलोक को बाँधने वाला होता है। वहाँ विवाह-विच्छेद आकाशकुसुमवत् है। लाखों वर्षों से हिन्दू जाति में यह प्रथा चली आती है। हिन्दू-विवाह-प्रथा सर्वोतम है।"

'Women of India' के लेखक रथफील्ड लिखते हैं—"हिन्दुओं की विवाह-प्रथा सुखद है। इसमें स्वार्थ कम और सार्वभौम भाव बहुत अधिक है। पति-भक्ति की पूर्णता के द्वारा ही किसी जाति की उत्तमता का पता लगता है। हिन्दू नारियों के साथ संसार की किसी भी अन्य जाति वाली स्त्रियों की तुलना नहीं की जा सकती। इसका मुख्य कारण हिन्दू-विवाह की पवित्रता है।"

गणित विज्ञान

ऋग्वेद में एक स्थल पर वर्णन करते हुए दिखलाया गया है कि "विभेद परिधीरिवत्रितः' अर्थात् जिस प्रकार परिधि (Circle) को त्रित (Triangle) काटता है उसी प्रकार इन्द्र ने वृत्त की मण्डलाकार स्थित सेना को काट दिया। लोग त्रित का अर्थ व्यक्ति-विशेष करते हैं परन्तु यहाँ पर उसका सम्बन्ध तो कोई घटता नहीं। यहाँ पर उसका अर्थान्तर ही लेना पड़ेगा। कई अन्य आचार्यों ने भी इसका अर्थान्तर माना ही है। यास्क और उसके भाष्यकार स्कन्द आदि ने इसका अर्थ तीन

स्थानों में रहने वाला इन्द्र किया है। 'त्रित' का अर्थ यहाँ पर लेना चाहिए त्रिकोण (Triangle) जो कि युक्तिसंगत है और उपमा भी ऐसा करने में सार्थक हो जाती है। अर्थ स्पष्टया यह भासित होने लगेगा कि जिस प्रकार त्रिभुज परिधि को काटता है उसी प्रकार इन्द्र ने वृत्र की सेना के मण्डलाकार व्यूह को काट दिया। त्रित के कूप-पतन की गाथा भी इसी प्रकार रेखागणित के उस तथ्य पर प्रकाश डालती है। त्रिभुज की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए पुनः एक स्थल पर लिखा गया है "योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः" अर्थात् त्रिभुजाकार स्थान को बनाकर शयन करता हुआ। अन्यत्र भी बहुत से मन्त्रों में रेखागणित का वर्णन मिलता है।

यजुर्वेद में इकाई-दहाई से लेकर परार्ध-पर्यन्त अंकन (Notation) का प्रकार दिखलाया गया है। जब अंकन का प्रकार इतना है तो आगे इसका विस्तार अवश्य ही होगा। अथर्ववेद में एक मन्त्रांश "शतं च तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः" में सृष्टि की आयु के वर्षों का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि सात अंश तक शून्यों के बाद क्रमशः दो-तीन-चार करने अर्थात् ४३२००·००·००० से सृष्टि के वर्णों की संख्या आती है। यह ब्रह्मा का एक दिन वर्णन किया गया है और ब्रह्म-रात्रि का परिमाण भी इतना ही है।

यजुर्वेद के मन्त्रों में १.३-५.७ और ९ आदि कहकर दो-दो के अन्तर से विषम संख्याओं का युग्म-वर्णन किया गया। इससे सब-के-सब पहाड़े बन जाते है और अंकगणित के अन्य बहुत से नियम निकलते हैं। इस मन्त्र में दी गई संख्याओं के परस्पर योग, गुणन, शेषकरण तथा भाग से विस्तृत अंकगणित का विकास हो सकता है। मन्त्र में स्पष्ट ही वर्ग (Square) और वर्गमूल (Square-root) का वर्णन दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस छोटी संख्या का वर्ग निकालना हो क्रमशः उतने नम्बर तक मन्त्रक्रम में पठित अंकों का योग कर देने से तत्काल वर्ग निकल आवेगा। उदाहरणार्थ ३ अथवा ४ का वर्ग निकालना है तो क्रमशः मन्त्र में पीठित संख्याक्रम १+३+५ तथा १+३+५+७ को

जोड़ने से ६ और १६ उनके फर्ल वर्ग के रूप में निकल आवेंगे। ऐसे ही और भी अन्य प्रकार के मन्त्रों से निकल सकते हैं।

वस्त्र-कला [वस्त्र सज्जा]

वस्त्र-कला ऋग्वेद में भी मिलती है। क्योंकि ऋग्वेद में सूत्र के लिए तन्तु, ताने के लिए तन्त्र, बाने के लिए ओतु, करघे के लिए वाय, ताने की लकड़ी के लिए मयूख, ढरकी के लिए तुरी, ताने और बाने को जिसके द्वारा अलग पिरोया जाता है उस उपकरण-विशेष को वेमा कहते हैं। बुनकर के लिए 'वामित्र' या 'वामित्रि', कपड़ा सीने वाली सुई को 'सूची' (२'३२।४७) अथवा 'अरिवेशी' (देखिये ऋ० ७।१८।१४) कहते हैं। कैंची को भुरिज (८।४।१६ ऋग्०) कहते है। 'पंचवस्त्र' जिसे पंचा भी कहते हैं—इसमें धोती, चादर, अंगरखा, पगडी और उपानह देने का उल्लेख है। लँहगे को पेशश् कहते थे। कन्या को विवाह के समय सजाकर दिया जाता था (ऋग्० १०।३६।१४ व ६।४६।४२)। ये वस्त्र बहुमूल्य होते थे। भिन्न-भिन्न समय के भिन्न-भिन्न वेश हुआ करते थे। विवाह के अवसर पर हसमिथुनाङ्कित रेशमी वस्त्र वर-वधू पहनते थे।

'मालविकाग्निमित्र' में मालविका के वस्त्रों में एक कंचुक का वर्णन आता है। वह कंचुक नेत्र नामक वस्त्र से बनता था। यह वस्त्र साँप की केंचुल के समान हल्का और महीन होता था। स्त्रियाँ कंचुक या स्तनांशुक (Bodies) अधोवस्त्र (घाघरा या पेटीकोट) व चादरा इन तीन कपड़ों को पहनती थीं। पुरुषों के लिए उष्णीष, उत्तरीय और अधोवस्त्र होते थे। राज्यश्री के विवाह में बाण ने रेशम, रुई, ऊन और साँप की केंचुली के वस्त्रों का वर्णन किया है। बरगद की जटा और बेर के कपड़ों का वर्णन है। वहाँ चार प्रकार की छपाई का वर्णन है—(१) पहली छपाई कुटिल-क्रम कहलाती थी जिसमें टेढ़ी-मेढ़ी लहरदार छपाई आती थी। (२) दूसरी छपाई को 'रूप' कहते थे। यह लकड़ी के ठप्पों से होती थी। (३) तीसरी छपाई पल्लव कहलाती थी जिसमें फूल, पत्ते, मोर और सुन्दर पक्षियों की तस्वीरें या कढ़ाई की

जाती थी। (४) चौथी छपाई का नाम परभाग था। इस छपाई में एक रंग की पृष्ठभूमि पर दूसरे रंग की रचना की जाती थी। गुजरात में 'पटोला' नाम की रेशमी साड़ियों का विस्तार 'जावा' और 'वाली' तक था। चिकन का कपड़ा लखनऊ, पेशावर और मद्रास में अधिक बनता था। यवन-शासकों के समय 'ज़री', किमखाव और मलमल के कपड़ों का अधिक चलन था। ढाके की मलमल प्रसिद्ध थी। मलमल की सुन्दरता बारीकी व सूक्ष्मता के कारण ही उसके आबेरवाँ (बहता पानी), वयूत हवा (बुनी हुई हवा), शबनम (ओस के कण) व जापदानी आदि भेद-संज्ञक नाम पड़ गये थे। मलमल वर्षाॠतु में बुनी जाती थी। शाही दरबार के काम में आने वाली मलमल छः महीने में १० गज़ बुनी जाती थी। अरबी में 'किम' फूल को कहते है और 'खाव' बुनने को कहते हैं। यह रेशमी तारों से बुनी जाती थी। अच्छी रेशम से बनी मलमल को 'अमरूस' कहते थे। मुर्शिदाबाद, अहमदाबाद-चन्देरी, सूरत, तंजोर और बनारस इसके केन्द्र थे। कश्मीर में कोमल वस्त्रों पर सुन्दर कशीदाकारी का काम होता था। इसके चम्बा, काँगड़ा और कुल्लू गढ़ माने जाते थे। बंगाल की कथा प्रसिद्ध है। इस प्रकार भारतीय वस्त्र-कला आज भी कहीं-कहीं जीर्ण-शीर्ण रूप में दिखाई पड़ती है।

मुद्रण-कला

कागज पर मुद्रण का कार्य सर्वप्रथम चीन देश में प्रारंभ हुआ। वहाँ पर हान-राजवंश-काल में २०२ ईस्वी से १२२ ईस्वी पूर्व के मध्य कागज तथा वस्तुओं पर मुद्रण की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। चीन में लकड़ी पर खोदकर और अक्षरों के अलग-अलग टाइप बनाकर इन दोनों प्रकार की छपाइयाँ होती थीं। पुस्तकाकार मुद्रण की परम्परा बाद में प्रचलित हुई। अमेरिका देशवासी 'डा० आर्थर डबल्यू ह्यूमेल' का कथन है कि संसार की सबसे पहली मुद्रित पुस्तक चीन में सन् ८६८ ई० में प्रकाशित हुई। यह जन्म-कुण्डली बनाये जाने वाले कागज के समान कागज पर छपी थी। किसी समय में ये पुस्तकें रेशमी

वस्त्र पर छपती थीं। ईसा के चार-पाँच शताब्दी पूर्व चीन में लिपटे हुए लम्बे कागजों और रेशमी वस्त्रों पर छापने का प्रचलन था। इस प्रकार की प्रथा वहाँ पर ८-१० शताब्दी तक थी। चीन देश से ही कोरिया, जापान, तिब्बत के लोगों तथा मुग़ल जातियों ने काग़ज़ पर छपाई का कार्य सीखा। भारत में काग़ज़ पर मुद्रण के प्रमाण बहुत पूर्व काल के नहीं मिलते। शिलाखण्डों, भूर्ज-पत्रों, हाथ के कागज पर लिखने के प्रमाण तो बहुत पहले के मिलते हैं। १६वीं सदी के मध्य में 'गोवा' में पुर्तगालियों ने सर्वप्रथम प्रेस खोला। यूरोप से ये रोमन अक्षरों के टाइप लाये थे। भारतीय भाषाओं के लिए भी ये इन्हीं का प्रयोग करते थे। भारत में प्रसिद्ध लिपियों में सर्वप्रथम तमिल अक्षरों के ही टाइप बने। एक ईसाई प्रचारक ने—सन् १५५७ ई० में पहले-पहल तमिल का टाइप बनवाया और उससे कोचीन में तमिल की छपाई हुई।

आयस्स्ट्रडम से सन् १६६७ ई० में प्रकाशित होने वाले 'चाइना इलस्ट्रेटा' में नमूने के तौर पर देवनागरी लिपि का मुद्रण सबसे पूर्व हुआ। परन्तु उसके टाइप सन् १७६१ ई० में बने। देवनागरी लिपि के टाइप तमिल के १८४ वर्ष बाद और बँगला लिपि के टाइप के १७ साल पूर्व बने। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष मे प्रेस खोलने और भारतीय भाषाओं के अक्षरों के टाइप बनाने का कार्य सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने ही किया था। इसके कार्य का क्षेत्र विशेषतः गोवा और बंगाल था। यूरोप में आज से प्रायः ६०० साल पूर्व पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं। सन् १४४० ई० में जर्मनी में 'जानगटेनवर्ग' ने रोमन टाइप तैयार किया। कुछ भी हो उपर्युक्त विवरणों से यह ज्ञात हो जायगा कि मुद्रण की कला पूर्व को ही ज्ञात थी और चीन देश में यह कला अत्यन्त प्राचीन समय में प्रचलित थी। पश्चिम में इसका ज्ञान बहुत बाद में हुआ।

सिक्के

भारत में सिक्कों का इतिहास चाँदी की आहत मुद्राओं से प्रारम्भ होता है। यूरोप में कभी वस्तु विनिमय का साधन पशु थे। क्योंकि

Chattels शब्द का अर्थ द्रव्य या धन होने लगा—जबकि सर्वप्रथम यह शब्द पशुवाचक ही था। वैदिक युग में विनिमय का साधन गौ थी। गोपुच्छ शब्द पाणिनि ने वस्तुओं के मोल लेने के साधनों में गिनाया है। गोपुच्छ का अर्थ गौ की पूंछ नहीं किंतु गौ ही अर्थ था, जैसे अंग्रेजी में Heads of Cattle कहने से सिर नहीं किन्तु उतनी पशु-संख्या ली जाती है; वैसी ही दशा गो पुच्छ की थी—यह डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जी का मत है। डॉ० भण्डारकर तो गौ की पूँछ ही अर्थ मानते हैं। कवि होमर ने सोने के कवच का मूल्य सौ गौ लिखा है तथा काँसे के कवच का मूल्य नौ (९) गौ लिखा है (इलियड ६।२३४)। चीन में ७वी शताब्दी ईसा पूर्व में 'पु' नाम का सिक्का मिलता है—जिसका अर्थ कमीज़ या कुर्ता है—इससे स्पष्ट है कि कपड़े भी कभी विनिमय के साधन थे। 'शतपथ ब्राह्मण' में हिरण्यशतमान (सौ रत्ती सोना) दक्षिणा में दिया जाता था (शतपथ ५।५।५।१६ तथा १३।२।३।२)। शतमानेन क्रीतं शातमानम् (अष्टा० ५।१।२७)। निष्क भी सोने का सिक्का था। निष्क १ तोले के वाचक था। वरुण ने युधिष्ठिर को १ हजार निष्क का एक शंख दिया था (महाभारत सभापर्व ५४।१५)। इस सुवर्ण पर जब कोई शकल या आकृति बनाई जाने लगी इसे 'जातरूप' या 'पञ्च मार्क' कहने लगे। यही Punch Marked ही पञ्चमार्क है।

बिना ढले सोने को हिरण्य तथा ढले (आहत) हुए को सुवर्ण कहते थे। कार्षापण चाँदी का ही था। बाद में ताँबे का भी बनने लगा। ये सिक्के लम्बे, चौकोर और गोल इस प्रकार तीन तरह के होते थे। १२½ रत्ती का एक शाण होता था। मुद्राओं के आकार-प्रकार (Fabric) भिन्न-भिन्न होते थे। कार्षापण शब्द कर्ष और पण दो शब्दों से बना है। कर्ष शब्द ही पुर्तगाली भाषा में कैश (Cash) बन गया। कर्ष के बराबर जो पण=सिक्का था वह कार्षापण कहलाता था। मौर्य-युग में ८० रत्ती वाला कर्ष था। राजा नन्द ने नाप-तोल की व्यवस्था की थी अतएव "नन्दोपक्रमाणि मानानि" यह प्रसिद्धि है। 'मृच्छकटिक' के अङ्क १ दृश्य १ में 'नाणक' शब्द सिक्के के लिए आया है। शुक्रनीति

१।१८३—१८७ में राजा-महाराजा, स्वराट्-विराट् का भेद ग्रामदनी के भेद से किया है। गुप्तकाल में इन मुद्राग्रों पर धनुर्धर, हुताग्नि, व्याघ्र-निहन्ता, ग्रश्वारोही, पर्यङ्क ग्रादि की मूर्त्तियाँ ग्रंकित होने लगीं।

इसी प्रकार भिल्लमाल ग्रौर द्रम्म भी एक सिक्का था। द्रम्म की जगह सिक्के को पारूथक या पारोथक भी कहते थे। वराटक, काकिणी बोडिक (मृच्छ० ग्रङ्क ७ श्लोक ४०) वल्लक्य नाम के भी सिक्के चलते थे। मध्यकाल में सिक्के मात्र को ग्रच्छू या ग्राछू कहते थे। भारतीय सिक्कों पर 'द्रव्य परीक्षा' नामक ठक्कुर फेरुकृत पुस्तक मिली है। ठक्कुर फेरु ग्रलाउद्दीन खिलजी की दिल्ली की टंकसाल (टंकशाला) का ग्रध्यक्ष था। मुद्राग्रों पर शिव, विष्णु ग्रादि की भी मूर्ति होती थी।

खुजराहो ग्रादि स्थानों के मन्दिर

यह मध्य प्रदेश का एक स्थान है। यहाँ के व्यक्ति प्रायः गरीब हैं—कृषि-जीवी हैं। यहाँ छोला=टेसू की रस्सी ग्रधिक बनती है। स्त्रियाँ कौसुम्भ वस्त्र धारण करती है, वह बजरी जो स्टेशनों पर बिछी रहती है यहाँ की ज़मीन में स्वतः उपजती है। जंगली दृश्य मनोहर हैं। पहाड़ सूखे हैं। खुजराहो का नाम खर्जूरवाहक का ग्रपभ्रंश है यह श्री दामोदर जयकृष्ण काले बी० ए०, एल० एल० बी० का मत है—पर विदित ऐसा होता है कि यहाँ पर जो कन्दरिया या खन्धारिया महादेव है जिसे मरकतेश्वर या मतङ्गेश्वर कहते हैं—जिसका ज्योतिलिङ्ग लम्बाई व परिधि में दो फीट चौड़ा ग्रौर २० फीट ऊँचा है वहाँ पर कभी "कन्थाधारी" साधु सन्त रहते थे उनके ही नाम से कन्थाधारी से कन्धारी—या कन्दरिया महादेव नाम पड़ गया था। इस ही के निकट 'खर्जूराहार' करने वाले ब्राह्मणों के कारण इस स्थान का नाम खजुराहो पड़ा। ये ही प्रमथनाथ भी कहलाते हैं—इस स्थान को गाँव वाले लोग शङ्करपुरी के नाम से पुकारते है। इन मतङ्गेश्वर को इन्द्र से ग्रर्जुन ने प्राप्त किया था। इसकी मूर्त्ति पर ग्ररबी और हिन्दी में कुछ लिखा हुआ है। दालान में दीवाल के सहारे एक बड़ा शिलालेख है। इन मन्दिरों के देखने से एक बात प्रतीत होती है कि ये मन्दिर सात भागों में विभक्त हुआ करते थे।—

१. प्रवेशागार, २. अर्ध मण्डप, ३. मण्डप, ४. महामण्डप, ५. अन्तराल, ६. गर्भगृह तथा ७. परिक्रमा । इन सातों भागों पर उतार-चढ़ाव के शिखर बने रहते थे । यहाँ के मंदिरों का प्रवेश-द्वार गुफा के समान छोटा है । यह प्रसिद्धि है कि खजुराहो के पास १००० उपासक ब्राह्मण रहा करते थे । आज भी वहाँ के बमनौरा और जटकरा नाम के दो गाँव इस बात की सूचना देते है । बमनौरा ब्राह्मणपुरा नाम का अपभ्रंश है और जटकरा यतिकटक का । जिस तालाब के निकट यह मदिर विद्यमान है उस तालाब का नाम विल्व-सर है जिसको चन्देल राजाओं ने बनवाया था । चन्देल राजाओं में यशोवर्मन कीर्तिवर्मन, और परिमर्दवर्मन ये ३ प्रसिद्ध राजा हुए हैं । इसी वंश के महाराजा धङ्ग ने, जो १०१ वर्ष तक जीवित रहा था इन मंदिरों का निर्माण करवाया था । इन मंदिरों की मूर्त्तियों को बहलूल लोदी या सिकन्दर लोदी ने तोड़ा था । इसका राज्य या चन्देलों का राज्य ३ जगहों पर विशेषतया था—खजुराहो, कालिंजर और तिरहुनी । तिरहुनी का ही दूसरा नाम त्रिपुरी है जो जबलपुर के पास है । गोपगिरि (ग्वालियर) भी कभी इनके अधिकार में था ।

विशेष दृश्य

मरकतेश्वर के समक्ष वराह भगवान् की एक मूर्त्ति है । उस पर देवताओं के चित्र अंकित हैं । उसकी पूँछ से जमीन पर शेषनाग लिपटा हुआ है । पूँछ खंडित कर दी गई है । उसके कानों में भुवन अंकित हैं । यह मूर्त्ति दर्शनीय है । इसी प्रकार एक दूसरे मदिर के सामने नंदीश्वर की मूर्त्ति है । वहाँ पर युवा नन्दिनी नन्दन वृषभ भगवान् खड़े किये गए हैं । इस मूर्त्ति में सास्ना और पूँछ का अंकन विशेष प्रशंसनीय है ।

एक अनौचित्य

मतङ्गेश्वर के पीछे इसी प्रकार के महादेव के चार मन्दिर हैं । इन मंदिरों के उत्तर व दक्षिण भाग में स्त्रियों और पुरुषों की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं । स्त्रियों के स्तनों की रचना वर्तुलाकार एवं उन्नत है । गुप्त-

काल की कला का या ईसा से ३००० वर्ष पूर्व की कला का यह अच्छा उदाहरण है। इस मंदिर के दक्षिण-पश्चिम कोण में जो एक चित्र है उसमें स्त्री के वक्षस्थल को तथा कटिभाग को एवं त्रिक को क्रम से आगे की ओर झुका हुआ, पिछली ओर उभरा हुआ और मध्य भाग में अति निम्न हुआ दिखलाया गया है। यह कला का उत्कृष्ट नमूना है, तथा मण्डपों के चंदोवे, पत्थरों में उत्कीर्ण पुष्पों से खम्भे, हाथियों की सूंडों और शेरों के सिरों से बड़े ही कलापूर्ण ढंग से अंकित किये गए हैं। मन्दिर के सामने शेर की पूरी मूर्त्ति है और उसकी गर्दन को पकड़े हुए एक स्त्री का चित्र दिखलाया गया है जो वीरता और निर्भीकता का प्रतीक है। किन्तु इसी मंदिर के दक्षिण-उत्तर भाग में बीचों-बीच कतिपय मन्मथासन दिये गए हैं। विचारने पर भी यह समझ में नहीं आता कि मंदिर की संयम और धर्मप्रधान वृत्ति के साथ इन चित्रों का क्या सामञ्जस्य है। यहाँ पर शीर्षासन करते हुए पुरुष के साथ जो एक स्त्री के मिथुनी भाव का चित्र दिखलाया गया है और पास में खड़े हुए सखी और सखाओं से मदद ली गई है यह चित्र वात्स्यायन-वर्णित आसनों की सीमाओं को भी उल्लंघित कर गया है। यही बात बनारस के नैपाली बाबा के मंदिर में है जहाँ कि स्फटिक मणि की शिव-मूर्त्ति है। दूध के डालने से उभरती और नीचे जाती नजर पड़ती है उसी मंदिर के चारों ओर लकड़ी की बनी हुई छतों, पर खम्भों पर और किनारों पर सारे ही कामासन उत्कीर्ण हैं। यही बात भोलेश्वर के मंदिर में देखने को मिली किन्तु वहाँ ऐसा कोई भी नग्न-चित्र नहीं। वहाँ पर एक पूर्ण खड़ी हुई स्त्री का चित्र है। उसे इतना महीन वस्त्र पहनाया गया है कि उसके रोमकूप भी प्रत्यक्ष होते हैं। उस एक ही पत्थर में वस्त्र और वस्त्र वाले का दिखाना एक अद्भुत निर्माण है। वह वस्त्र मेरी दृष्टि में प्रचलित नाइलोन से भी सूक्ष्मतर है। किंतु प्रसिद्ध पुरी के जगन्नाथ मंदिर में खजुराहो के मन्दिर के चित्रों की आवृति देखी है पर खजुराहो-जैसी बीभत्सता नहीं। उन मूर्त्तियों में आश्लेषण प्रधान है। खजुराहो के निकट एक जैन-मन्दिर है जो एक मील दूर है।

वहाँ शांतिनाथ की पूर्ण पुरुषाकार एक मूर्त्ति है जो नग्न है तथा ऊँचाई में २२ फुट से कम नहीं। इसी प्रकार आदिनाथ की भी मूर्त्ति है एवं चारों तरफ़ जैन पुराणों के आधार पर कल्पित चित्र अंकित हैं। इनमें एक स्त्री का चित्र है जो बायें पैर से खड़ी होकर दायें पैर के तलुवे को उलटकर उसके चुभे हुए काँटे को अपने हाथ से निकाल रही है। काँटे की चुभन से उत्पन्न क्रीड़ा की जो सजीवता उसके मुख से व्यक्त की गई है वह कला को अमर बना रही है।

यही गति पुरुषोत्तम क्षेत्र जगन्नाथ पुरी के मन्दिर में दिखाई पड़ती है, वहाँ भी मन्दिर के चारों ओर ऐसी कामकला-प्रधान मूर्त्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनके विषय में यही कहकर समाधान करना पड़ता है कि ये सांसारिक भोग हैं जो मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करते है। जब इनसे मनुष्य वितृष्ण हो जायगा तब मन्दिरान्तर्विद्यमान भगवद्दर्शन का अधिकारी होगा, यही दिव्य सन्देश इन रचनाओं से मिलता भी है। जिस भगवान् की मूर्त्ति मन्दिरों में स्थापित की गई है उसका लक्षण यह है :—

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्ग योगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञान योगिभिः॥
(स्कन्द पुराण)

श्रीमद्भागवत १-२-११ में :—
वदन्ति तत् तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
यह लिखा है। तथा—
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य (धर्मस्य) यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गता॥
ज्ञान शक्ति बलैश्वर्य वीर्य तेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्द वाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः॥
यह भी लक्षण मिलता है। इस भगवान् की मूर्त्ति की कल्पना करने

वाले श्रद्धालु लोग इसके कई प्रकार के अवतार मानते हैं—जैसे लीलावतार, पुरुषावतार, अंशावतार, कलावतार, युगावतार, आवेशावतार, विभवावतार और अर्चावतार।

कला के भेद

इसीलिए कला भी (१) सौन्दर्य-प्रधान या आकृति-प्रधान (Formal)। (२) प्रतिकृति प्रधान (Representative) जिसमें प्राकृतिक घटना वर्णित होती है। (३) अभिव्यक्ति प्रधान (Expressive), जिसमें अपूर्व भाव को कलात्मक कृति द्वारा किया जाय, इस प्रकार तीन प्रकार की मानी जाती है।

इस कला के विषय में Rene Grousset ने

(i) The near and middle East.
(ii) The Civilisation of the East.
(iii) China and Central Asia.
(lv) Japan.

इस प्रकार ४ भाग लिखे हैं। इस पुस्तक की मौलिक रचना French भाषा मे की गई। पर श्रीमती केथराइन एलिसन फिलिप्स ने इसका इंगलिश ट्रान्सलेशन किया जिसे १६३२ में H. Hamilton, London ने प्रकाशित किया। इसमें कला के विकास का पूर्ण इतिहास है, अन्य पुस्तकें इसके ही आधार पर बनी दिखाई देती है। मैं तो इसका बहुत ऋण मानता हूँ। साथ ही श्री प्रो० बलदेव प्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०, मैकडोनल, व विटर-नित्ज़ आदि का भी आभारी हूँ जिनके आधार पर यह सामग्री संकलित की गई है। मैं लेखन-कला की अति प्राचीनता को मानता हूँ—क्योंकि "उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्" यह अथर्ववेद का वाक्य इस ओर ही संकेत कर रहा है। यही यज्ञेश्वर भट्ट आदि को भी अभिप्रेत है। तथापि इस पुस्तक में जितने विषयों पर प्रकाश डाला गया है मैं उनसे अक्षरशः सम्मात नहीं हूँ—पर किया क्या जाय, यह समय अपने अभिप्राय को व्यक्त करने का नहीं, क्योंकि

पाठ्यपुस्तकों का ध्यान है—स्वतन्त्र मत का प्रकाशन नहीं। इस पुस्तक में जिन छः मन्त्रों को सायणाचार्य ने बिना पद-पाठ के छोड़ दिया है उनका भी उल्लेख कर दिया है। बृहदारण्यक के विषय में मैकडानल के जो लिखा है वह अत्यन्त अस्पष्ट है, वहाँ की इंगलिश भी ठीक नहीं जँचती, पाठक उसको विचारें।

इस पुस्तक से पूर्व भी संस्कृति व कला के विषय में अनेक पुस्तकें निकली है, पर उनमें इतना विशद विवेचन नही, न क्रमिक विकास ही प्रदर्शित किया गया है। इस पुस्तक के निर्माण में मेरे अन्तेवासी प्रिय यदुनन्दन मिश्र एम० ए० ने बड़े उत्साह व लगन से कार्य किया, प्रिय सीताराम दाँत्रे एम० ए० ने प्रतिलिपि-विधान द्वारा तथा प्रिय कु० शैलेन्द्र प्रभा एम० ए० (मुजफ्फरनगर) ने नोट्स संग्रह करके जो मेरी सहायता की है वह हृदय-पटल पर चिर रात्राय अंकित रहेगी।

आदरणीय विद्वान् श्री प्रो० राजबली जी पाण्डेय एम० ए० डी० लिट् अध्यक्ष प्राच्येतिहासादि विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर जिस आत्मीयता का परिचय दिया उस सौजन्य का मैं किन शब्दों में वर्णन करूँ। वैदिक साहित्य एवं कला-शास्त्र-उपज्ञाता श्री डॉ० वासुदेव शरण जी अग्रवाल एम० ए० डी० लिट् की खोजों का तो मैने इस पुस्तक में अवलम्ब लिया है। अतः उनका बड़ा कृतज्ञ हूँ।

विषय-प्रवेश-लेखक विद्वद्वर डॉ० नरेन्द्र देव जी शास्त्री एम० ए० डी० फिल्, सम्मति देकर मेरा उत्साह-संवर्धन करने वाले मान्यवर श्री डॉ० बाबूराम सक्सेना एम० ए० डी० लिट्, श्री प्रो० सुरेन्द्रनाथ जी शास्त्री P. E. S. M. A. D. Phil, L L. B. अध्यक्ष संस्कृत विभाग ज्ञानपुर तथा संयोजक संस्कृत बोर्ड आगरा यूनिवर्सिटी, श्री प्रो० गोविन्द जी त्रिगुणायत अध्यक्ष सस्कृत विभाग K. G. K. College Moradabad श्री कुबेरनाथ शुक्ल एम० ए० प्रस्तोता वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, मित्रवर श्री पण्डित वीरेन्द्रनाथ जी श्रीवास्तव अध्यक्ष पुरा-

तत्व संग्रहालय मथुरा, श्री प्रो० देवदत्त जी शास्त्री एम० ए० प्राध्यापक संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी आदि का मैं हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में इस प्रकाशन के भार को वहन करने वाले श्री प्रिय भाई मनोहर लाल जी जैन मालिक फर्म मुन्शीराम मनोहर लाल, नई सड़क दिल्ली का भी कृत संवेदी हूँ, जिन्होंने इसके शीघ्र प्रकाशन द्वारा मुझे अनुग्रहीत किया है।

कानपुर
मकर संक्रान्ति
१४।१।५६

विनीत निवेदक
हरिदत्त शास्त्री

विषय-सूची

	प्राक्कथन	३
	विषय-प्रवेश	५-७,८-१२
	लेखक के दो शब्द	१३-४६
१.	अवतरणिका	१-२
२.	यूरोप में भारतीय साहित्य का अध्ययन	३-५
३.	भारत में लेखन-कला का प्रारम्भ	६-८
४.	वैदिक साहित्य	९-१०
५.	भारतीय साहित्य-निर्माण-काल विचार	११-१२
६.	वैदिक व लौकिक संस्कृत का भेद	१३-१४
७.	क्या संस्कृत बोलचाल की भाषा थी ?	१४-१५
८.	संस्कृत भारतीय भाषाओं की जननी है	१६
९.	बौद्ध और जैन-काल में संस्कृत की उपेक्षा	१६
१०.	संस्कृत का पुनः प्रचलन	१७
११.	प्राकृत का स्वरूप	१८
१२.	वेदों का निर्माण-काल	१९-२६
१३.	ऋग्वेद संहिता	२७-८१
१४.	यजुर्वेद	८२-९३
१५.	सामवेद	९४-९७
१६.	अथर्ववेद	९८-१११
१७.	ब्राह्मण साहित्य	११२-१२४
१८.	आरण्यक और उपनिषद्	१२४-१४७
१९.	सूत्र-साहित्य	१४८-१५८

२०. वेदाङ्ग १५८-१७४
२१. वैदिक कालीन भौगोलिक स्थिति १७५-१७८
२२. पणि-परिचय १७९
२३. वैदिक कालीन सामाजिक स्थिति १८०-१९२

उत्तरार्द्ध

कला-भाग

२४. कला का विकास (गुप्त साम्राज्य) १९३
२५. भारत के उद्योग और व्यापार १९४-१९७
२६. सिक्के १९७-२००
२७. सम्पत्ति और विलासिता २००-२०२
२८. कला २०३
२९. स्तूप-स्तम्भ २०४
३०. गुफाएँ—भवन-निर्माण कला २०५-२०६
३१. कलाओं के अनेक भेद २०७-२०८
३२. इण्डियाज पास्ट के अनुसार स्मारकों का विवरण २०९-२१०
३३. भारतीय कला का आकर्षण २११
३४. पूर्वकालिक भारतीय कला २,२-२१६
३५. धार्मिक कला २१७-२१८
३६. अमरावती कला २१९-२२०
३७. त्रिभङ्ग का विकास २२१
३८. सौन्दर्य-प्रसाधन कला २२२-२२४
३९. भारत के स्मारक २२५-२३६
४०. चैत्याङ्गण २३७-२४०
४१. आलेख्यकला २४१-२४४
४२. प्राचीन बौद्ध कला २४५-२४९
४३. बौद्ध यूनानी कला २५०-२५६
४४. कौन मन्दिर कहाँ है २५७

गुफा मन्दिर २५७-२५८
भारतीय चित्र कला की विभिन्न शैलियाँ २५९-२६०
सातवाहन युग की कला २६१-२६२
वाकाटक युग की कला २६३-२६४
मध्यकाल की कला-कृतियाँ २६५-२६७
मूर्त्तिकला और चित्रकला २६८-२७१
पाषाणोत्किरण कला २७२-२७५
धातु कला और उत्कीर्ण कला २७६
रंगीन चित्रकला २७७-२७८
अनेक युगीय भारतीय कला २७८-२७९
कला एवं इतिहास के शब्दों पर टिप्पणी २७९-३१२
इस कला की कुछ विशेषताएँ २९८
चित्रकला ३०१
अमरावती कला ३१२
भवन-निर्माण कला के प्रयुक्त ३१३-३२४
अन्य उपयोगी शब्द ३२४-३२६
कौन स्थान कहाँ पर है ३२७-३२९
नगरों के प्राचीन और आधुनिक नाम ३३०-३३६

अवतरणिका

"भारतीय साहित्य का इतिहास" कम-से-कम ३०० वर्ष के भारतीय बौद्धिक विकास का इतिहास है। यह विकास निरन्तर अबाध-गति से चलता रहा। इसका क्षेत्र भी बड़ा व्यापक है। यह भारत तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसका तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, लंका, मलाया, हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के द्वीपों तथा मध्य-एशिया पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। प्रमाण के लिए उन हस्तलिखित पुस्तकों को देखिये जो यत्र-तत्र उपलब्ध हुई हैं।

हमारे यहाँ साहित्य शब्द बड़े व्यापक अर्थ में लिया जाता है। इसमें लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, अधार्मिक, महाकाव्य, गीति-काव्य आदि काव्य तथा वर्णनात्मक एवं वैज्ञानिक गद्य साहित्य सभी कुछ समाविष्ट है।

सर्वप्रथम धार्मिक साहित्य प्रादुर्भूत हुआ। ब्राह्मणों, वेदों और बौद्धों के त्रिपिटकों के अतिरिक्त अन्य धर्मों की भी साहित्यिक कृतियाँ इसके अन्तर्गत हैं। मन्त्र, भजन, वन्दना, आवाहन, आख्यान, उपदेश तथा नीति और आचार-सम्बन्धी साहित्य से यह साहित्य भरा पड़ा है। अन्वेषकों के लिए इसमें अपार सामग्री निहित है।

धार्मिक साहित्य के साथ ही वीर-गीतियाँ भी प्रचलित थीं। इनके प्रतिनिधि ग्रन्थ 'रामायण' और 'महाभारत' हैं। इनको ही आधार बनाकर मध्यकालिक कवियों ने महाकाव्यों का प्रणयन किया। कृत्रिम, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं काल्पनिक होने के कारण ये रचनाएँ पाश्चात्य विद्वानों को रुचिकर न लगीं। इसीलिए भारत ने सरस, भावपूर्ण गीति-काव्य और नाट्य साहित्य को जन्म दिया।

सूत्र-रचना में भारत बेजोड़ रहा है। कथाओं और आख्यायिकाओं में भी भारत ने किसी का मुँह नहीं ताका। अप्सराओं, भूतों, पशुओं आदि की कथाएँ भी कम नहीं हैं। 'पञ्चतन्त्र' कथासाहित्य का प्रति-

निधि ग्रन्थ है। फ़िरदौसी ने इसका फ़ारसी में अनुवाद कराया। आज-कल का उपलब्ध 'पञ्चतन्त्र' असली नहीं। उर्दू-फ़ारसी वाला 'पञ्च-तन्त्र' हमारे मित्र पं० अयोध्याप्रसाद जी (वैदिक रिसर्च स्कॉलर, कलकत्ता) के पास अब भी सुरक्षित है। इसमें ५०० कथाएँ हैं।

भारतीय साहित्य अपनी इन विशेषताओं के कारण विश्व-साहित्य में स्वतन्त्र अस्तित्त्व रखता है :—

१—व्याकरण, शब्दकोष, दर्शन, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, नीति आदि सभी कुछ काव्य-रूप में पाया जाता है।

२—भारतवासी अपने साहित्य की गल्प-कथाओं (Fairy tales) को उपदेश का स्रोत मानते हैं।

३—गद्य और पद्य का कोई स्पष्ट विभाजन नहीं है।

४—कोई भी और कैसा भी विषय हो वह पद्य और गद्य दोनों के उपयुक्त है। यहाँ तक कि व्याकरण और शब्द-कोश भी पद्य-रूप में लिखे गये।

५—गद्य-पद्य का मिश्रित रूप यहाँ की एक बड़ी विशेषता है।

६—गद्य की अपेक्षा पद्य भाग अधिक है।

७—व्यवस्था की प्रवृत्ति भारतीय साहित्य में बड़ी जोरदार दिख-लाई पड़ती है। व्याख्याओं की व्याख्याएँ की गईं। ग्रन्थकारों ने स्वयं अपनी कृति की व्याख्याएँ की हैं।

भारतीय साहित्य व्यापक, मौलिक और अत्यन्त प्राचीन है। दर्शन, व्याकरण और नीति-सम्बन्धी भारतीय साहित्य विश्व में अनुत्तम है। पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है कि उन्हें अपनी-अपनी सभ्यता का उद्गम जानने के लिए अवश्य ही भारतीय साहित्य-सागर का अव-गाहन करना पड़ेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि विश्व-साहित्य में भार-तीय साहित्य को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। यूरोपीय साहित्य इससे बहुत अधिक प्रभावित है। यूरोप का वर्णनात्मक साहित्य भारत के कथा-साहित्य से अधिकतम प्रभावित है एवं जर्मन साहित्य और वहाँ के दर्शन पर भारतीय विचारों की अमिट छाप है।

प्रथम खण्ड

प्रथम अध्याय

यूरोप में भारतीय साहित्य का अध्ययन

१६५१ में Abraham Roger ने अपनी पुस्तक 'Open Deyre tot het Verborgen Heydendom' में ब्राह्मण साहित्य की काफ़ी सूचना दी है। उसमें भर्तृहरि की कुछ सूक्तियों (Proverbs) को भी पुर्तगाली भाषा में अनुवाद कराके प्रकाशित कराया था।

'Grammatica Granthamia Sen Samscrdumica' एक यूरोपियन लेखक का लिखा हुआ पहला संस्कृत व्याकरण है। इसके लेखक Jesuit Father Johann Ernst Hanxleden हैं, आपने ३० वर्ष भारत में रहकर अध्ययन किया।

Fra Paolino de St. Barthomeo ने दो संस्कृत व्याकरण और कुछ पुस्तकें लिखीं। उसकी पुस्तकों में ब्राह्मण साहित्य, भारतीय भाषाओं और धार्मिक विचारों का गहरा अध्ययन है।

वारेन हेस्टिंग्ज़ (Warren Hastings) ने भारतीय पण्डितों से 'विवादार्णव सेतु' नामक पुस्तक लिखवाई। उसका पहले फ़ारसी में अनुवाद हुआ। इसी अनुवाद से अंग्रेज़ी में अनुवाद हुआ। इसमें भारत के नीति-सम्बन्धी ग्रन्थों का निचोड़ है।

संस्कृत पढ़ने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स था। १७८५ में उसने 'भगवद्गीता' को, १७८७ में 'हितोपदेश' को और १७९५ में 'महाभारत' के 'शाकुन्तल आख्यान' को इंगलिश में अनूदित किया। १८०८ में उसने एक संस्कृत व्याकरण भी लिखा।

विलियम जोन्स ने १७८९ में कालिदास के 'शाकुन्तल' का अनुवाद किया। १७९२ में 'ऋतुसंहार' और १७९४ में 'मनुस्मृति' के अंग्रेज़ी अनुवाद किये। W. Jones ने ही सबसे पहले ग्रीक, लैटिन, जर्मन, केल्टिक और फ़ारसी भाषाओं का संस्कृत से साम्य दिखाया। यह भारत

में ११ वर्ष रहा। उसने १७८४ में बंगाल प्रान्त में Asiatic society की स्थापना की तथा 'शाकुन्तल' का अनुवाद किया जिसकी कि Herder और Gothe ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

हेनरी टॉमस कॉलब्रुक (१७६५–१८३७) ने संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद किये, तथा कई संस्कृत-ग्रन्थ समूल प्रकाशित करवाये। उसने संस्कृत भाषा और साहित्य को वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर भी कसा।

अलैक्जेण्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton—१७६५–१८२४) भारत से संस्कृत सीखकर १८०२ ई० में अपने देश इंगलैण्ड को वापस जा रहा था। फ्रांस में उसे नेपोलियन के एक दल ने बन्दी बना लिया। उसे पेरिस में रखा गया। उससे कई फ्रान्सीसी विद्वानों ने संस्कृत सीखी। इनमें फ्रेडरिक श्लेगेल (Fredrick Schlegel) का नाम सबसे प्रमुख है। श्लेगेल ने १८०८ में 'On the language and wisdom of the Indians' नामक पुस्तक लिखी, जिसने कि जर्मनी में संस्कृत के अध्ययन में क्रान्ति-सी मचा दी। इसीसे प्रोत्साहित होकर Fraz Bopp ने संस्कृत पढ़ी और ग्रीक, लैटिन तथा पर्शियन से उसकी तुलना करके तुलनात्मक भाषा विज्ञान (Comparative Philology) की नींव डाली। इसने 'रामायण' और 'महाभारत' के कुछ भागों का जर्मन में अनुवाद किया।

F. Schlegel के भाई August Wilhelm Von Schlegel ने १८२३ में 'Indische Bibliothek' नामक पत्रिका का एक अंक प्रकाशित कराया। इसमें अधिकांश लेख उसी के थे। ये लेख भाषा-विज्ञान सम्बन्धी थे। उसी साल उसने 'भगवद्गीता' का लैटिन अनुवाद प्रकाशित कराया।

Wilhelm von Humboldt का नाम भी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में नहीं भुलाया जा सकता। उसने 'भगवद्गीता' के आधार पर एक ग्रन्थ लिखा।

जर्मन विद्वान् Ruckert अनुवाद के क्षेत्र में बेजोड़ था। उसने कुछ भारतीय महाकाव्य और गीति-काव्यों को जर्मन में अनूदित किया।

१८३० तक यूरोपीय विद्वानों का ध्यान अधिकतर संस्कृत के Classical literature की ओर ही था। वेद और बौद्ध साहित्य की ओर उनका ध्यान नहीं गया था। १८३८ में Friedrich Rosen ने 'ऋग्वेद' के $\frac{1}{8}$ अंश का एक संस्करण लिखकर छपवाया। किन्तु इस कार्य को पूरा करने के पहले ही वह मर गया। पूरा संस्करण न निकल सका। फ्रेंच विद्वान् Eugene Burnouf ने अपने कुछ शिष्यों को इकट्ठा करके वेदों के अध्ययन का केन्द्र स्थापित किया। इन शिष्यों में Rudolf Roth और F. Maxmuller मुख्य हैं। Roth ने 'ऋग्वेद' पर अंग्रेजी टीका की। Maxmuller ने सायण की टीका सहित एक संस्करण 'ऋग्वेद' का छपवाया। मैक्समूलर के पूर्व ही Thomas Aufrecht ने सम्पूर्ण 'ऋग्वेद' का संस्करण लिखकर तैयार कर लिया।

Eugene Burnouf ने Lassen के साथ मिलकर १८२६ में 'Essai Sur le Pali' प्रकाशित की। इसीसे प्रोत्साहित होकर लोगों में पाली पढ़ने की प्रवृत्ति ने ज़ोर मारा। Burnouf के ग्रन्थ 'Intorduction a l'historic du Bouddhisme Indien' से प्रेरित होकर बौद्ध-साहित्य-विषयक खोजें शुरू हुईं।

१८५२ से १८७५ तक ना० Bohtlingk और Rudolph Roth ने मिलकर 'Sanskrit-Worterbuch' नाम का सात Volumes का शब्दकोष तैयार किया। १८५२ में ही Albrecht Weber ने संस्कृत साहित्य का इतिहास पहले-पहल लिखा। Theodor Aufrecht ने ४० वर्ष की मेहनत के बाद 'Catalogus–Catalogurum' लिखकर तैयार किया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यूरोप में भी संस्कृत का अध्ययन बड़ी लगन और परिश्रम से किया गया।

●

द्वितीय अध्याय

भारत में लेखन-कला का प्रारम्भ

हमें जो प्राचीनतम लिखित साहित्य उपलब्ध हुआ है, वहाँ से ही भारतीय साहित्य का प्रारम्भ न समझ बैठना चाहिए। एक लम्बे समय तक मनीषियों के कण्ठों में साहित्य आसन जमाये रहा। गुरु अपनी विद्या शिष्यों को ज्यों-की-त्यों कण्ठस्थ करा देते थे। यही क्रम चलता रहा।

तृतीय शताब्दी ई० पू० के अशोक-कालिक कुछ खुदे हुए लेख मिले हैं। उपलब्ध लेखों में यही सबसे पुराने हैं। किन्तु मैक्समूलर की तरह यह न कह बैठना चाहिए कि इसके पूर्व लेखन-कला भारत में थी ही नहीं।

भारतवासी ब्राह्मी लिपि को ही सबसे पुरानी बतलाते हैं। कहा जाता है कि इसे स्वयं ब्रह्मा ने प्रचलित किया। G. Buhler ने खोज करके बताया है कि ८६० ई० पू० के लगभग व्यापारियों ने लेखन-कला को जन्म दिया। लिखा-पढ़ी, हिसाब-किताब, लेन-देन, क्रय-विक्रय आदि का एक लिखित ब्यौरा रखा जाता था। इसके बाद राजाओं ने राज-कार्य के लिए जरूरी समझकर इसका संवर्धन किया।

साहित्य-लेखन के लिए लिपि कब चली, यह विवादास्पद प्रश्न है। वैदिक साहित्य में यह कहीं नहीं मिलता कि पहले लिपि प्रचलित थी। बौद्ध साहित्य में भी किसी हस्तलिखित ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि विद्या की अन्य शाखाओं में लेखन भी एक कला थी, किन्तु किसी ने कुछ लिखा भी था इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

हस्तलिखित ग्रन्थों के न मिलने का अर्थ यह तो नहीं हुआ कि लिपि थी ही नहीं। फिर यदि हस्तलिखित ग्रन्थ का उल्लेख न पाया

जाय तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि हस्तलिखित कोई ग्रन्थ था ही नहीं। इनके उल्लेख न होने का कारण यह है कि लेखन-कला उस समय इतने महत्त्व की कला न थी कि उसका ज़िक्र किया जाता। पठन-पाठन सभी ज़बानी होता था। लिखने का प्रचार बहुत कम था। लेखन-कला के अधिक प्रचार न होने के कुछ कारण ये हो सकते हैं :—

(i) बहुत दिनों से पठन-पाठन ज़बानी होता चला आ रहा था। अस्तु, लेखन-कला को, जो कि एक नई विद्या थी, इस काम में लाना ठीक न समझा गया।

(ii) सबसे पहले जब लोगों ने यह कला सीखी, उस समय एक विशाल साहित्य तैयार हो चुका था उनके कण्ठ में। इसने यह सिद्ध कर दिया कि लिखने के बिना ही जब साहित्य सुरक्षित रहकर बराबर बढ़ सकता है तो लेखन का क्या महत्त्व ?

(iii) शूद्र वेदों को न पढ़ सकते थे और न सुन सकते थे, ऐसा विधान था। फिर भला ऋषि लोग उनको लिखकर जोखिम क्यों उठाते। पता नहीं किस समय वेद की लिखित प्रति शूद्र के हाथ में पहुँच जाय और वह उसे पढ़कर वेद को अपवित्र कर दे।

(iv) लिखने के लिए जिस सामग्री की आवश्यकता होती है, वह भी तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं थी।

धार्मिक और उससे भिन्न साहित्य की पठन-पाठन-विधि भी भिन्न-भिन्न थी। धार्मिक साहित्य तो बड़ी सावधानी से पढ़ा-पढ़ाया जाता था। गुरु बोलता था, शिष्य उसे दोहराते थे। शब्द, उच्चारण, ध्वनि व लय सभी का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। यह बात लौकिक साहित्य में नहीं थी। समय-समय पर साहित्यकार उसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन आदि करते रहे।

लेखन-सामग्री में सबसे पहले ७वीं शताब्दी में भोजपत्र और बार्च वृक्ष की नोकीली लकड़ी का प्रयोग हुआ। भारत की गरम जल-वायु में ये शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि इस प्रकार के हस्तलिखित ग्रन्थ बहुत पुराने नहीं मिलते। १४वीं शताब्दी के इधर के

तो कई ग्रन्थ मिलते हैं किन्तु उधर के दुष्प्राप्य हैं। नेपाल में कुछ ऐसे ग्रन्थ १०वीं सदी के मिले हैं तथा जापान में छठी सदी के। काशगढ़ के आसपास ५वीं शती के भी कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

लकड़ी का भी प्रयोग बहुत पहले से होता चला आया है। M. A. Stein ने १९०० ई० में Taklamakan के बालुकामय स्थान से ५००० लकड़ी की गुटिकाएँ खोद निकालीं, इन पर लेख थे।

लिखने के काम में स्वर्ण-पत्र, रजत-पत्र, ताम्र-पत्र, शिलापट्ट आदि का भी प्रयोग किया गया। क्योंकि इन पर भी लिखे या खुदे लेख मिलते हैं। काग़ज़ का प्रचार मुसलमानों के आक्रमण-काल से प्रारम्भ हुआ। काग़ज़ पर लिखा गया पहला हस्तलिखित ग्रन्थ १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का है। उत्तर भारत में तो काग़ज़ का प्रचार होते ही भूर्जपत्रों का प्रचलन समाप्त हो गया। किन्तु दक्षिण भारत में यह बहुत समय तक चलता रहा।

अन्य देशों में चमड़ा भी लेखन-प्रयोग में लाया जाता था, किन्तु भारत में धर्म की दृष्टि से अशुद्ध माना जाने के कारण इसका प्रयोग न हुआ। भारतवासी अपने इन हस्तलिखित ग्रन्थों को लकड़ी के दो तख़्तों के बीच में दबाकर रखते थे। प्रायः उसके ऊपर किसी सुन्दर कपड़े का आवरण भी होता था। काग़ज़ पर सर्वप्रथम १२२३ या १२२४ में हस्तलिखित पुस्तक लिखी गई।

वैदिक साहित्य

वेद शब्द 'विद् ज्ञाने' धातु से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ ज्ञान है, किन्तु पवित्र और धार्मिक ज्ञान ही वेद शब्द का अर्थ माना जाता है। 'कुरान', 'बाइबिल' और 'त्रिपटिक' आदि से 'वेद' भिन्न प्रकार का ग्रन्थ है। वेद से हमारा तात्पर्य उस विशाल साहित्य से है जिसका प्रणयन शताब्दियों तक कुलपरम्परानुसार अबाध-गति से होता रहा। इस पर पवित्रता की मुहर किसी सभा या कचहरी में नहीं लगाई गई। लोगों ने स्वतः ही तथा निर्विवाद रूप से इस बात को स्वीकार किया है।

वैदिक साहित्य में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं उनके उपांगों का समावेश है। मन्त्र, प्रार्थना आदि के संग्रह को 'संहिता' की संज्ञा मिली। यज्ञ आदि से सम्बन्धित रचना 'ब्राह्मण' कहलाई। आरण्यक और उपनिषदों में ऋषि-मुनियों द्वारा की गई भगवद् आराधना और ईश्वरीय ज्ञान या अध्यात्म ज्ञान आदि का वर्णन है। संहिताएँ ४ हैं :—

१. *ऋग्वेद संहिता*—देवताओं की स्तुतियों का संग्रह।

२. *सामवेद संहिता*—गीति-रूप मन्त्रों का संग्रह।

३. *यजुर्वेद संहिता*—हवन और बलि-मन्त्रों का संग्रह, तथा

४. *अथर्ववेद संहिता*—जादू के मन्त्रों का संग्रह।

इन्हीं चार संहिताओं के आधार पर वेद भी चार प्रकार के मान लिये गए हैं—ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद।

कोई भी कृति, यदि उसका सम्बन्ध संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक-उपनिषद् में से किसी से है अथवा उक्त चार वेदों में से किसी से है, तो वह वैदिक साहित्य का ही अंग मानी जायगी।

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि पूरे वैदिक साहित्य का परिज्ञान हमें ब्रह्मा ने कराया। वेदों को मान्यता न देने वाले बौद्ध भी इतना तो मानते ही हैं कि सर्वप्रथम इनकी रचना ब्रह्माजी ने की थी। किन्तु उनका कथन है कि ब्राह्मणों ने उन्हें अशुद्ध और असत्य बना डाला।

वैदिक साहित्य से बड़ी घनिष्ठता लिये हुए एक दूसरे प्रकार की कृतियाँ भी उपलब्ध हैं जिनकी 'कल्पसूत्र' अथवा 'सूत्र' संज्ञा है। वे इस प्रकार हैं :—

१. *श्रौत सूत्र*—बड़े-बड़े यज्ञ, हवन आदि के नियम और विधि इनमें वर्णित है।

२. *गृह्य सूत्र*—साधारण उत्सवों और कर्मों की कार्य-विधि इनमें बतलाई गई है।

३. *धर्म सूत्र*—इनमें नीति-ग्रन्थ और स्मृतियाँ आती हैं।

इनमें से प्रत्येक उक्त चार वेदों में से किसी-न-किसी से सम्बन्धित अवश्य है। यह साहित्य मानवकृत माना जाता है।

सूत्रों का काल

सूत्रों में एक ओर तो वैदिक-याज्ञिक कर्मों को लिया गया है और दूसरी ओर जनसाधारण में प्रयुक्त नियमों को। ब्राह्मण-ग्रन्थों के व्यर्थ के विस्तार से बचने के लिए और स्मृति की सुविधा के लिए अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इन सूत्रों का प्रणयन किया गया। एक अक्षर या वर्ण-मात्र के बच जाने से सूत्रकार को पुत्रोत्पत्ति का-सा सुख मिलता था। इसीसे सूत्रों के संक्षिप्त कलेवर का परिज्ञान हो जाता है। भारत के सूत्र साहित्य का विश्व-भर में कोई जोड़ नहीं है। लिखा भी है :—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

●

तृतीय अध्याय

भारतीय साहित्य-निर्माण-काल विचार

भारत के साहित्य का एक बड़ा भाग अब भी अन्धकार में पड़ा है। काल-निर्धारण की कितनी ही पहेलियाँ अभी सुलझाने को शेष हैं। इस दिशा में जो-कुछ भी थोड़ा-बहुत किया गया है, वह सब अनुमान के आधार पर है। इसका फल अमरीकन विद्वान् W. O. Whitney के शब्दों में देखिये :—

"All dates given in Indian literary history are pins set up to be bowled down again."

इस काम में कुछ क्या, कई कठिनाइयाँ हैं। बहुत से ग्रन्थकारों के नाम तक हमें विदित नहीं। एक ही नाम वाले कई कवि भी हो गये हैं। इतना ही नहीं, एक ही कवि दो या अधिक नामों से प्रसिद्ध है। भाषा का भी क्या भरोसा ? कालिदास और अश्वघोष का ही उदाहरण ले लीजिये। भाषा की प्राञ्जलता और सौष्ठव देखकर लोग यही कहेंगे कि कालिदास अर्वाचीन व निम्न कोटि का कवि है। किन्तु ऐसा है नहीं। कालिदास पहले के हैं। अश्वघोष की भाषा में यदि शिथिलता पाई जाय तो क्या अश्वघोष पूर्ववर्ती हो जायगा ? अब रही लेखन-शैली की बात। उसको आधार बना लेना भी तो बुद्धिमत्ता न होगी। प्रायः देखा गया है कि कुछ साहित्यकार किसी प्राचीन ग्रन्थ-रत्न की शैली का अनुकरण कर एक नई रचना कर डालते हैं, ताकि उनकी कृति पुरानी समझी जाय। आज के किसी नाटक में यदि सरलता के दर्शन हों तो क्या वह भास के काल की कृति मान ली जायगी ?

ग्रन्थों के संशोधन और संवर्द्धन भी एक बड़ी समस्या खड़ी कर देते हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनके कुछ अंश यदि कहीं उद्धृत किये मिल जायें तो सोचना पड़ जाता है कि

यह आज की उपलब्ध पुस्तक का है या पहले के किसी संस्करण का। कुछ भी हो, भाषा का पल्ला पकड़कर इतना तो कहा ही जा सकता है कि वेद की ऋचाएँ सबसे पुरानी हैं। बौद्ध धर्म ५०० ई० पू० पल्लवित हुआ। बौद्ध साहित्य में वैदिक साहित्य के संकेत और उद्धरण मिलते हैं। अतः यह निश्चित है कि वेद पूर्ववर्ती हैं।

३२६ ई० पू० भारत पर सिकन्दर का आक्रमण सर्वविदित ही है। ग्रीक-प्रभाव से युक्त कोई भी ग्रन्थ निश्चय ही इसके बाद का होगा। ३१५ ई० पू० चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस और नन्द आदि को पराजित कर मौर्य-साम्राज्य स्थापित किया। उसी के कुछ दिनों बाद मेगस्थनीज़ भारत आया। उसके वर्णन में जिन-जिन ग्रन्थों का उल्लेख है उनका समय-निर्धारण तो हो ही जायगा। २६४ ई० पू० अशोक का राज्यारोहण सर्वविदित है।

फ़ा-ह्यान सन् ३९९ ई० पू० में भारत आया। ह्वेन-सांग ६३० ई० से ६४५ तक भारत में रहा। इन चीनी यात्रियों के वर्णन भी हमारी बड़ी सहायता करते हैं। अरबी यात्री अलबरूनी (Alberuni) ने भारतीयों की इस इतिहास-विषयक उदासीनता को बहुत धिक्कारा है। सचमुच भारतवासी क्या लिखा गया है की ओर अधिक झुके। किसने लिखा है और कब लिखा है से उन्हें कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहा। लिखने वाले भी अपने नाम और काल के प्रति मौन रहे।

किन्तु उत्तरकालिक साहित्यकारों ने अपनी कृतियों के नाम, अपने नाम, वंश-परिचय, तिथि आदि सभी कुछ लिखकर हमारी उलझन को दूर कर दिया है। आज बहुत से शिलालेख आदि की खोज हो रही है, जिससे कि अन्धकार के गर्त में पड़े साहित्य के अमूल्य टुकड़े प्रकाश में आ रहे हैं।

●

चतुर्थ अध्याय

वैदिक व लौकिक संस्कृत का भेद

प्राचीन भारतीय भाषा को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(i) वैदिक व (ii) संस्कृत। इन दोनों में आपस में उतना ही अन्तर है जितना कि होमरिक और लौकिक (Classical) ग्रीक भाषा में। वैदिक भाषा ही धीरे-धीरे अन्त में संस्कृत से एकाकार हो गई। वैदिक भाषा की पहली सीढ़ी पर भी कुछ विभिन्नता थी। पुरोहितों की मन्त्रों की भाषा और बातचीत की भाषा में भी अन्तर था।

संस्कृत भाषा वैदिक भाषा से सर्वथा भिन्न है। इतना अवश्य है कि भाषा-विज्ञान के नियम दोनों में ही समान रूप से लगते हैं, किन्तु असमानता भी कम नहीं है :—

वैदिक	संस्कृत
१. सन्धि-नियम नहीं होता।	१. होता है।
२. समास में विभक्ति-लोप नहीं होता।	२. होता है।
३. सुबन्त प्रत्ययों का परस्पर व्यत्यय होता है।	३. नहीं होता।
४. क्तिन् प्रत्ययों का व्यत्यय होता है।	४. नहीं होता।
५. लेट् लकार होता है।	५. नहीं होता।
६. आर्वी, त्रिष्टुपादि ४६ छन्द होते हैं।	६. इसमें इनका सर्वथा अभाव होता है।
७. भुजप्रयातादि २२६ छन्द नहीं होते।	७. होते हैं।
८. अलंकारों में केवल उपमा, रूपक व अभंग श्लेष ही होते हैं।	८. ५७ अलंकार होते हैं।
९. मात्रिक छन्द नहीं होते।	९. वार्णिक और मात्रिक दोनों छन्द होते हैं।

१०. कृत्रिमता कम है।	१०. अधिक है।
११. गद्य भाग में छन्द-नियम लगता है।	११. नहीं लगता।
१२. समास की सत्ता न्यून है।	१२. प्रचुर है।
१३. दृश्य-वर्णन नहीं होते।	१३. होते हैं।
१४. कथा-साहित्य नहीं होता।	१४. होता है।
१५. पद-नियम होता है।	१५. नहीं होता।
१६. बहुत से देवता हैं।	१६. प्रधान देवता तीन ही हैं।
१७. उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ३ स्वर होते हैं।	१७. नहीं होते।
१८. शब्दों के यौगिक अर्थ की प्रधानता है। यथा—अश्वा=फैलाने वाला (सूर्य, वायु)।	१८. रूढ़ि की प्रधानता होती है। यथा अश्वी=घोड़ी।
१९. प्रातिशाख्य नियम लगते हैं।	१९. नहीं लगते।
२०. तुमुन् लगाने पर गमध्यै, पातवै आदि बनता है।	२०. तुमुन् लगने पर गन्तुम्, पातुम् आदि बनता है।

दोनों भाषाओं के अर्थों में तो बहुत अन्तर आ गया है—यथा 'वध' शब्द का अर्थ वेद में 'भयंकर हथियार' होता है, किन्तु लोक में 'मार डालना'। इसी प्रकार न का अर्थ वेद में 'इव' है किन्तु लोक में इसका अर्थ 'नहीं' होता है।

क्या संस्कृत बोलचाल की भाषा थी ?

भारत की प्राचीन भाषा के लौकिक अंश को चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम काल में पाणिनि ने संयमित किया। तभी से यह 'संस्कृत' कहलाई। इसके नाम से ही पता चल जाता है कि यह 'प्राकृत' आदि से भिन्न है। इस भिन्नता का प्रदर्शन षष्ठ शताब्दी ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' में किया गया है। वैदिक संस्कृत से भिन्नता-प्रदर्शन हेतु प्राचीन

वैयाकरणों ने भी लौकिक संस्कृत को भाषा कहकर सम्बोधित किया है। उन्होंने इस भाषा की जो विशेषताएँ बतलाई हैं, वे एक बोली जाने वाली भाषा की हैं। पतञ्जलि तक के नियम अधिकतर उस बोली जाने वाली भाषा पर ही लागू होते हैं।

यह भाषा केवल पण्डित सम्प्रदाय की ही भाषा रही हो, ऐसी बात न थी। कारण यह है कि इसके लिपि-सम्बन्धी अनेक परिवर्तित या परिवर्द्धित रूप मिलते हैं। यास्क और पाणिनि उत्तरीय और पूर्वीय भाषा की विशेषताएँ बतलाते हैं। कात्यायन इसके स्थानीय परिवर्तनों का उल्लेख करते हैं। पतञ्जलि तो केवल एक नगर में ही बोले और लिखे जाने वाले शब्दों का विवरण देते हैं।

यह तो निर्विवाद है कि द्वितीय शताब्दी ई० पू० संस्कृत आर्यावर्त में बोली जाती थी। आर्यावर्त का विस्तार हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक था। परन्तु प्रश्न उठता है कि इसे कौन बोलता था ? यह सर्वमान्य है कि ब्राह्मण लोग संस्कृत-भाषी थे। पतञ्जलि ने उन्हें शिष्ट की संज्ञा दी है अर्थात् वे ही शुद्ध संस्कृत बोल सकते थे। संस्कृत केवल ब्राह्मणों की ही भाषा न थी, क्योंकि पतञ्जलि के भाष्य में एक स्थल ऐसा है जहाँ कि एक सूत तथा एक वैयाकरण के बीच संस्कृत शब्द 'सूत' की व्युत्पत्ति पर बहस होती है। इससे स्पष्ट है कि अन्य लोग भी संस्कृतज्ञ थे।

भारतीय नाट्य साहित्य में विभिन्न पात्रों के लिए विभिन्न भाषाओं का विधान है। शिष्ट समाज संस्कृत बोलता था, स्त्रियों के लिए विशेष बोलियाँ थीं, अन्य लोग प्राकृत-भाषी थे। इतना तो अवश्य था कि संस्कृत को समझते सभी लोग थे। क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृत-भाषी पात्रों के वाद-विवाद में संस्कृत की प्राकृत या प्राकृत की संस्कृत नहीं की गई है। दर्शक-गण भी संस्कृत जानते थे।

यद्यपि संस्कृत प्रारम्भ से ही साहित्यिक तथा कृत्रिम भाषा रही है, तथापि इसे बोलचाल की भाषा न मानना भूल होगी। आज भी संस्कृत विद्वत्समाज द्वारा बोली जाती है। संस्कृत का स्थान ठीक हिब्रू और लैटिन भाषाओं की ही भाँति है।

संस्कृत भारतीय भाषाओं की जननी है

जो कोई भी संस्कृत जानता था वह अवश्य ही एक या एकाधिक भाषाएँ बोलता था। वे अन्य भाषाएँ कौन सी हैं? यह प्रश्न संस्कृत का भारत की अन्य बोलियों से सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। सिन्ध के मुहाने से गंगा के मुहाने तक, हिमालय से विन्ध्याचल तक तथा दक्षिणी प्रायद्वीप की सभी बोलियाँ प्राचीन संस्कृत से ही उद्भूत हैं। इनका जन्म भी कोई आज का नहीं, बहुत पुराना है। यहाँ तक कि वैदिक ऋचाओं के रचना-काल में भी एक बोलचाल की भाषा थी जो कि ध्वनि-नियमों के अनुसार साहित्यिक भाषा से भिन्न थी।

बौद्ध और जैन-काल में संस्कृत की उपेक्षा

बुद्ध ने अपने उपदेश पण्डितों की भाषा में नहीं, अपितु साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में दिये। यह बात उक्त कथन का और भी स्पष्टीकरण करता है। इटैलियन भाषा की ही भाँति बुद्ध के समय की प्रचलित भाषा की विशेषता यह थी कि इसमें व्यंजन को छोड़ने तथा अन्तिम वर्ण के द्वित्व की प्रवृत्ति पाई जाती है। यथा—

सूत्र > सुत्त
धर्म > धम्म
विद्युत् > विज्जु आदि।

इस भाषा का नाम है पाली। अशोक-कालीन विभिन्न शिलालेख प्रमाणित करते हैं कि इसका अस्तित्व कम-से-कम ई० पू० तृतीय शताब्दी में तो था ही। तृतीय शताब्दी ई० पू० में लंका में इसका परिचय कराया गया। वहाँ यही भाषा सिंहल भाषा का मूलाधार बनी। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही अशोक-काल के आगे काफ़ी समय तक प्रशस्तियाँ, दानलेख आदि मध्य-युग की भाषा प्राकृत में ही लिखे गये। संस्कृत का इतना अधिक प्रचलन नहीं था। प्राकृत शिलालेखों के आधार पर पता चलता है कि उस समय संस्कृत भाषा जीवित अवश्य थी और उसका प्रयोग साहित्य-सर्जन के लिए ही होता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध व जैन धर्मों ने संस्कृत की उपेक्षा की।

संस्कृत का पुनः प्रचलन

कालान्तर में बौद्ध और जैन सम्प्रदायों ने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। फिर भी वे नवसिखुवे थे। उनकी भाषा में प्राचीनता के दर्शन होते हैं। उनकी इस कृत्रिम भाषा को संस्कृत और पाली के बीच की एक सीढ़ी मान लेना प्रगल्भता न होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध व जैन लोगों की भाषा में संस्कृत शब्दों ने धीरे-धीरे प्रवेश पाया। मथुरा में प्राप्त एक जैन शिलालेख के आधार पर ईसा की पहली शताब्दी तक प्राकृत का प्रचलन बतलाया गया है। इसके बाद संस्कृत का भी प्रचार हुआ। अन्त में सरल संस्कृत लिखी जाने लगी। ६ठी शताब्दी के बाद संस्कृत का बड़ा प्रसार हुआ, यद्यपि प्राकृत भी साथ-साथ चलती रही।

ह्वेन-साँग ने लिखा है कि ७वीं शताब्दी में बौद्ध लोग अपने धार्मिक वाद-विवाद में भी संस्कृत का प्रयोग करते थे। जैनियों ने भी किया, किन्तु प्राकृत को भी तिलांजलि नहीं दी। इस प्रकार मुसलमानों के आक्रमणों तक तो संस्कृत ही भारत की एकमात्र लिखी जाने वाली भाषा थी। संस्कृत की उन्नति के साथ-साथ प्राकृत भी बढ़ी और इस पर अपनी अमिट छाप छोड़ ही गई।

(१) इस प्रकार प्राकृत ने संस्कृत को अनेक नये शब्द प्रदान किये। तथा

(२) पाणिन्युत्तर काल में प्रचलित शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन किया।

●

वेदों का निर्माण-काल

दार्शनिक मत —भारत में बहुत समय तक वेद-रचना-काल का प्रश्न नहीं उठा। यहाँ के लोग वेद को ब्रह्माकृत मानते थे तथा मानते भी हैं। दार्शनिक वेद को एक दैवी आलोक मानते हैं। बौद्ध लोग भी कुछ ननुनच के साथ ब्रह्मा को ही वेदों का कर्ता स्वीकार करते हैं। वह ब्रह्मा स्वयम्भू, अनादि और अनन्त है। भिन्न-भिन्न कालों में महर्षियों के शुद्ध अन्तःकरण में समाधि की अवस्था में वेद-मन्त्रों का प्रादुर्भाव स्वतः हुआ। उन्होंने वेदों का प्रणयन नहीं, दर्शन किया। इसीलिए प्रसिद्ध है कि "ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः"। वस्तुतः 'मनुस्मृति' के अनुसार अग्नि, वायु, सूर्य और अंगिरा ऋषियों पर वेदों का प्रकाश हुआ।

मैक्समूलर का मत —इस दिशा में पहला प्रयास मैक्समूलर ने अपने 'History of Ancient Sanskrit literature' में प्रदर्शित किया है। आपका कथन है कि बौद्ध धर्म एकमात्र ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया है। ब्राह्मणों के मत का विरोध और खण्डन करने के लिए ही बौद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। अतः सम्पूर्ण वैदिक साहित्य बौद्ध धर्म के उद्गम काल (५०० ई० पू०) के पूर्व विद्यमान था।

इसके बाद मैक्समूलर ने अनुमान के आधार पर सूत्र, ब्राह्मण और संहिता-साहित्य का काल-निर्धारण इस प्रकार किया है :—

सूत्र काल—६०० से २०० ई० पू०।

ब्राह्मण काल—८०० से ६०० ई० पू०।

संहिता काल—१००० से ८०० ई० पू०।

काव्य के विकास में भी कम-से-कम २०० वर्ष अवश्य लगे होंगे। अतः वैदिक साहित्य का प्रारम्भ काल १२०० से १००० ई० पू० माना जा सकता है।

ज्योतिष का आधार —१८९३ में जर्मनी के एक नगर Bonn में प्रोफ़ेसर जेकोबी और बम्बई में भारतीय विद्वान् बाल गंगाधर तिलक ने अपने-अपने तर्क तथा अनुसन्धान के आधार पर अपने-अपने मत हमारे समक्ष प्रस्तुत किये। दोनों एक-दूसरे से बहुत दूर थे, दोनों की काल-

निर्धारण-प्रणाली अलग-अलग थी, तथापि दोनों एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

उनका कथन है कि ब्राह्मण-काल में नक्षत्र-गणना कृत्तिका नक्षत्र से प्रारम्भ होती थी। उन्हें उस काल का एक ऐसा वर्णन मिला है जबकि कृत्तिका नक्षत्र उदित था और वासन्त-संक्रान्ति (Vernal Equinox) भी थी। ग्रहों की गति की गणना के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि उक्त वासन्त-संक्रान्ति कृत्तिका नक्षत्र में २५०० ई० पू० हुई। इस प्रकार लगभग २५०० ई० पू० ही ब्राह्मणों का रचना-काल सिद्ध होता है।

वैदिक संहिताओं में उन्हें एक वर्णन मिला जिसमें वासन्त-संक्रान्ति मृगशिरा नक्षत्र में हुई बतलाई जाती है। अयन-गति-गणना के आधार पर यह दशा ४५०० ई० पू० में थी। अतः यही संहिताओं का निर्माण-काल कल्पित किया गया।

तिलक वैदिक साहित्य का समय ६००० ई० पू० ले जाते हैं, किन्तु जेकोबी ४५०० ई० पू० से ही संतुष्ट हो जाते हैं। उनके अनुसार संहिता-काल ४५०० ई० पू० से २५०० ई० पू० तक रहा। इसका उत्तरार्ध ही संहिताओं का रचना-काल हो सकता है। प्रो० जेकोबी को अपने मत की सत्यता पर एक कारण से और भी विश्वास हो गया। गृह्य सूत्रों में प्राचीन भारत की तत्कालीन एक वैवाहिकी प्रथा का निर्देश मिलता है। उसके अनुसार वर और वधू अपने नवीन सदन में एक बैल की खाल पर तब तक शान्तिपूर्वक बैठे रहते हैं, जब तक कि एक नक्षत्र उदित नहीं होता। नक्षत्र उदित हो जाने पर वह अपनी वधू को ध्रुव नक्षत्र के दर्शन कराता है और इसके बाद दोनों प्रार्थना करते हैं कि उनका सम्बन्ध ध्रुव की तरह ही चिरस्थायी हो।

जेकोबी के अनुसार इस वैवाहिकी प्रथा का उद्गम अवश्य ही उस काल में हुआ था जबकि ध्रुव नक्षत्र उत्तरी ध्रुव के इतने समीप रहा था कि लोगों को वह स्थिर दिखलाई पड़ता था। अब ध्यान देना चाहिए कि अयन-गति के कारण व्योम-मार्ग के क्रमिक परिवर्तन के

साथ-साथ उत्तरी ध्रुव सौर ध्रुव के चारों तरफ़ २६००० वर्षों में २३½° अंश का कोण बनाते हुए घूमने लगता है। इस प्रकार एक नक्षत्र दूसरे नक्षत्र के पीछे धीरे-धीरे घूमता रहता है। उत्तरी ध्रुव की तरफ़ घूमता-घूमता वही एक दिन उत्तरी ध्रुव या ध्रुव तारा बन जाता है। आजकल 'एलफा' (Alpha) नाम का एक नक्षत्र उत्तरी-गोलार्ध का ध्रुवतारा है। यह वैदिक साहित्य में वर्णित ध्रुवतारा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि २००० वर्षों में ही यह उत्तरी ध्रुव से इतनी दूर हटा हुआ रहा होगा कि इसे किसी भी प्रकार ध्रुव नहीं कहा जा सकता था। २७८० ई० पू० में Alfa Draconia नामक नक्षत्र ने ध्रुवतारे का नाम ग्रहण किया। यह ५०० वर्ष तक उत्तरीय ध्रुव के इतने समीप रहा कि दर्शकों को स्थिर रूप में प्रतीत होने लगा। यह काल ३००० ई० पू० का पूर्वार्ध ही कहा जा सकता है।

आपत्तियाँ—प्रो० ग्रे का विश्वास है कि १२५० ई० पू० में ग्रूमबिज २००१ (Groombidge 2001) नामक तारा, तथा १५०० ई० पू० ग्रूमबिज २०२६ नामक तारा विशुद्ध भारतीय गगन-मण्डल पर ध्रुव तारे के रूप में उदित था। फिर २७८० ई० पू० के Alfa Draconia को ही ध्रुव तारा क्यों माना जाय ?

शिलालेखादि का आधार—शिलालेखों के देखने से यह प्रमाणित होता है कि ३०० ई० पू० में आर्य भारतीयों ने दक्षिण भारत पर अधिकार कर लिया था और वहाँ ब्राह्मण धर्म का सिक्का जम गया था। यह भी सत्य है कि बौधायन और आपस्तम्ब की भाँति कुछ वैदिक शाखाओं का भी वहाँ प्रचार हो गया था। इससे सिद्ध होता है कि आर्यों की दक्षिण भारत विजय और भी पहले हुई। अनुमान से ७०० या ८०० ई० पू० ही इस विजय का समय रहा होगा। क्योंकि विजय के बाद धर्म-प्रचार इतनी शीघ्रता से हो ही नहीं सकता कि ३०० ई०-पू० ही विजय-काल मान लिया जावे।

इस आधार पर कुछ लोगों ने यह कल्पना कर ली कि १२०० ई० पू० या १५०० ई० पू० आर्य भारत के उत्तरी प्रदेश और अफ़गानिस्तान

में बस गये होंगे। किन्तु डॉ० बूलर इस बात का विरोध करते हैं। सचमुच यह हास्यास्पद ही है कि ५००,६०० या ७०० वर्ष के छोटे से समय में आर्यों ने १२३०० वर्गमील का प्रदेश जीत लिया होगा, यहाँ रियासतों का निर्माण भी कर दिया होगा, यहाँ की शासन-व्यवस्था भी सुधार ली होगी, धर्म का इतना प्रचार भी कर लिया होगा आदि, जब कि यहाँ के रहने वाले असभ्य जंगली न होकर सभ्यता में काफ़ी बढ़े-चढ़े थे। उन्हें हराकर, उनको पूर्णतः वश में करके, उनकी संस्कृति को कुचल कर अपना राज्य बनाना, अपनी सभ्यता और धर्म का प्रचार करना आदि के लिए यह समय अल्पतम है। ओल्डनबर्ग (Oldenberg) इतने समय में यह सब कुछ हो जाना सम्भव मानता है। उसने लिखा है—"One should consider what four hundred years have meant for the enormous plains of the Northern and Southern America." किन्तु यह तुलना तो ठीक नहीं। अमरीका की आदिम जातियाँ तो असभ्य और जंगली थीं। उनको मार भगाना या उनका दमन करना आसान था। किन्तु भारत के आदिवासी सभ्य थे। उनके अपने राज्य थे, विधान थे, संस्कृति थी, साहित्य था। अतः उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि आर्य परस्पर भी लड़ा करते थे। संगठित समुदाय न होने से उन्होंने धीरे-धीरे ही विजय की होगी, एकदम से नहीं। पूर्व और दक्षिण की ओर तो आर्य लोग बहुत ही धीरे-धीरे बढ़ पाये, द्रविड़ों से टक्कर पड़ जाने के कारण। इस प्रकार १५००ई० पू० के भी पहले उत्तरी भारत और अफ़गानिस्तान में आर्यों के बसने की सम्भावना हो जाती है। जब 'ऋग्वेद' के सूक्तों का प्रादुर्भाव हुआ होगा तो शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी होंगी। हमारा तर्क और बुद्धि यही स्वीकार करती है।

भाषा, साहित्य और संस्कृति की भित्तियों का आधार लेकर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रारम्भिक सूक्तों के काल तथा सूक्तों के संहिता के रूप में आने के काल के बीच अवश्य ही अनेक शताब्दियाँ बीत चुकी होंगी। इसी प्रकार 'ऋग्वेद संहिता' तथा अन्य संहिताओं के बीच में

काफ़ी समय का अन्तर होगा। संहिता और ब्राह्मण भी समय का बहुत-कुछ अन्तर रखते होंगे। सभी ब्राह्मण भी तो एक ही काल में न बन गये होंगे। ब्राह्मणों के बाद उपनिषद् काल तक भी न मालूम कितना समय बीत चुका हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य के आँख खोलने और आँख बन्द करने तक भारतीय आर्यों ने केवल सिंधु गंगा तक का छोटा-सा प्रदेश ही जीत पाया था। यदि इतने प्रदेश को ही जीतने में इतना अधिक समय लग सकता है तो सम्पूर्ण मध्य भारत और दक्षिण-भारत के जीतने में कितना समय लगा होगा। यह एक विचारणीय प्रश्न है।

मैक्समूलर ने बौद्ध साहित्य (५०० ई० पू०) से वैदिक साहित्य को पूर्ववर्ती ठहराया है। कुछ लोगों का मत है कि सबसे पहले के उपनिषदों का काल ६०० ई० पू० के पहले नहीं हो सकता। किन्तु डॉ० बूलर (Buhler) ने इसका विरोध किया। उन्होंने बताया कि बौद्ध साहित्य केवल वेदों की ही नहीं अपितु वेदांगों की भी पूर्व-कल्पना करता है। Buhler ने सिद्ध किया है कि ब्राह्मण धर्म के विरोधी केवल बौद्ध ही नहीं थे किन्तु उनके पहले भी इसके विरोधी कई समुदाय हो चुके हैं। उदाहरण के लिए जैन समुदाय। इसके प्रवर्तक का समय ७५० ई० पू० था। फिर भला यह कैसे कहा जा सकता है कि उपनिषद् ६०० ई० पू० के पहले के हो ही नहीं सकते।

१९०७ ई० में एशिया माइनर के बोघजकोइ (Boghazkoi) नामक स्थान में ह्यूगो विंकलर (Hugo Winckler) ने कुछ मृत्तिका-फलकें खोज निकालीं, जिनमें हिट्टाइट के राजा और मितनी के राजा के बीच हुए सन्धि-पत्रों का उल्लेख मिलता है। यह सन्धि उन मृत्तिका-फलकों के अनुसार ईसा पू० १४ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई थी। इन सन्धि-पत्रों में दोनों राज्यों के देवताओं का आवाहन किया गया है जो कि सन्धि-पत्रों के संरक्षक थे। देवताओं की सूची में अनेक बेबीलोनियन तथा हिट्टाइट के देवताओं के साथ-ही-साथ मित्र, वरुण, इन्द्र तथा

मितनी के देवता नासत्यौ (Nasatyau) का नाम है। अब प्रश्न उठता है कि एशिया माइनर में मितानियों के पास ये देवताओं के नाम कैसे पहुँचे। इस विषय में मतैक्य नहीं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार Ed. Meyer इन देवताओं को आर्य-काल का बतलाते हैं, उस आर्य-काल का जब कि भारतीयों और ईरानियों की भाषा और धर्म अविभक्त थे। मेयर साहब की यह भी कल्पना है कि इसी समय आर्यों ने मैसोपोटामिया और सीरिया में प्रवेश किया तथा इसी काल में वे उत्तर-पश्चिम भारत में भी बसने लगे थे। वैदिक ऋचाएँ जिनका आरम्भ १५०० ई० पू० के बाद का कदापि नहीं हो सकता, इस विकास की साक्षी हैं।

वरुण, मित्र, इन्द्र और नासत्यौ, इनके नाम के ये स्वरूप केवल वेद में ही मिलते हैं। इन देवताओं को भारतीय देवताओं के रूप में स्वीकार करते हुए जेकोबी, कोनो तथा हिलीब्रांट (Hilliebrandt) के ही मत का पृष्ठपोषण हम भी करते हैं। अन्य मत हमें मान्य नहीं। हमें मानना होगा कि जिस प्रकार आर्य पश्चिम से भारत में आये उसी प्रकार यदा-कदा यहाँ से पश्चिम की ओर भी वे लोग वापस गये होंगे। जाने का कारण या तो विजय हो सकती है या विवाह-सम्बन्ध। हिलीब्रांट का कहना है कि ऋग्वेद-काल में आर्य भारतीय भौगोलिक दृष्टिकोण से पश्चिम के निकट ही थे। P. Jensen के अनुसार बोघाखोई (Boghakhoi) में प्राप्त मृत्तिका-शालाकाओं में भारतीय संख्या के चिह्न भी पाये जाते हैं। इस प्रकार एशिया माइनर में इन भारतीय वैदिक देवताओं के नाम पहुँचना कोई खास बात नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वेदों का अस्तित्व १४०० ई० पू० के बहुत पहले से ही है।

विद्वानों का एक दल ऐसा भी है जो वेदों को कम-से-कम प्राचीन मानता है। J. Hertel का मत है कि 'ऋग्वेद' का प्रादुर्भाव उत्तर-पश्चिम भारत में नहीं अपितु ईरान में हुआ। इसका प्रणयन Zoroaster (५५० ई० पू०) के पहले नहीं हुआ। G. Husing और भी आगे बढ़ जाते हैं। वे कुनीफार्म शिलालेखों में प्राप्त होने वाले कुछ राजाओं के नामों को इस प्रकार घुमाते और मरोड़ते हैं कि वे भारतीय राजाओं के

नाम लगने लगते हैं। इन तथ्यों के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि करीब १००० ई० पू० में भारतीय आरमीनिया से अफ़गानिस्तान आये। यहाँ ही 'ऋग्वेद' की रचना हुई। क्योंकि 'ऋग्वेद' में वर्णित दृश्य अफ़गानिस्तान के ही हैं। इस प्रकार 'ऋग्वेद' की रचना १००० ई० पू० के बाद की सिद्ध की गई है।

प्रो० विंटरनिट्ज़ (Winternitz) के मतानुसार वेद-रचना-काल के सम्बन्ध में ज्योतिष तथा भूगर्भ-शास्त्र के आधार पर स्वीकृत की गई ६००० ई० पू० तथा २५०० ई० पू० की धारणाएँ पूर्णतया असम्भव हैं। इस प्रकार की संख्या स्वीकार करने का तो अर्थ यह हुआ कि एक लम्बे समय तक भारत में कोई ऐसी सांस्कृतिक उन्नति नहीं हुई जिसे कि वास्तविक उन्नति कहा जा सके। भारतीयों जैसी तीव्र बुद्धि वाली जातियों के लिए क्या यह आश्चर्य की वस्तु नहीं है ? यह कभी सम्भव नहीं हो सकता।

ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा के आधार पर पाणिनि द्वारा अपने व्याकरण में सुनियमित की गई शास्त्रीय संस्कृत तथा अशोक के शिलालेखों (३०० ई० पू०) की भाषा वेदों की भाषा के साथ निकट सम्बन्ध रखती है। ऋग्वेद-काल इन्हीं के आसपास का होना चाहिए।

निष्कर्ष

१. ज्योतिष के आधार पर निर्णीत धारणाएँ स्वीकार्य नहीं हो सकतीं। वैदिक संहिताओं में अनेक स्थल ऐसे हैं जिनके कई अर्थ अलग-अलग निकाले जा सकते हैं। कोई सम्प्रदाय किसी अर्थ को मानता है कोई किसी को। जब तक इनका एक सर्वसम्मत अर्थ निश्चित न हो जाय तब तक ज्योतिष की गणना कितनी ही निर्दोष क्यों न हो उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता।

२. ऐतिहासिक तथ्यों के सहारे जैसे कि कुनीफार्म शिलालेखों में प्राप्त होने वाले देवताओं के नामों के आधार पर ही वैदिक-काल का सम्बन्ध आर्य तथा भारोपीय जाति के साथ लगाना असंगत नहीं तो और क्या है ?

३. भाषा-सम्बन्धी तथ्यों के सहारे जैसे कि वेद की भाषा और अवेस्ता भाषा तथा संस्कृत भाषा के सम्बन्ध को जोड़ने से भी कोई तत्त्व नहीं निकलता।

सबसे बड़ा और विश्वसनीय प्रमाण तो यह है कि पार्श्व, महावीर और बुद्ध, सभी अपने सम्प्रदायों के साथ सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की पूर्व-कल्पना करते हैं। यह एक ऐसा प्रमाण, ऐसी मर्यादा और ऐसी सीमा है जिसका अतिक्रमण न तो हम कर सकते हैं और न हमें करना ही चाहिए।

अतः २५०० ई० पू० से लगाकर ७५० या ५०० ई० पू० तक वेद-रचना-काल मानना चाहिए।

●

षष्ठ अध्याय

ऋग्वेद संहिता

यह निर्विवाद है कि 'ऋग्वेद संहिता' वैदिक साहित्य में सबसे पुरातन एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे प्राय: ऋग्वेद मात्र कहकर याद किया करते हैं। आज हमें इसका केवल एक संस्करण मिलता है। यह संस्करण शाकल्य सम्प्रदाय वालों का है। सम्भव है कि इसके पहले कई संस्करण रहे हों। इस प्राप्य संस्करण में १०२८ सूक्त संग्रहीत हैं, जिनमें 'बालखिल्य सूक्त' भी सम्मिलित हैं। इन्हें १० मण्डलों में बाँट दिया गया है। आकार के आधार पर भी इसे अष्टकों और वर्गों में विभाजित किया है।

J. Wackernagel ने भाषा को लेकर ही यह सिद्ध कर दिया है कि यह रचना अत्यन्त ही प्राचीन है, कम-से-कम भारतीय साहित्य में तो प्राचीनतम है ही। यह न समझ लेना चाहिए कि इसकी रचना एकदम से हो गई। इसमें कुछ पुरातन और कुछ नूतन तथ्य इस प्रकार से गुम्फित कर दिये गए हैं कि सम्पूर्ण रचना एक ही लगती है। हिब्रू भाषा के स्तोत्र-ग्रन्थ की भाँति वे सूक्त, जो दीर्घकाल में भिन्न-भिन्न अवसरों पर रचे गये, किसी एक समय इन्हें संग्रह के रूप में गूँथ दिया गया। ये संग्रह प्रागैतिहासिक-काल के पुरुषों को मिले।

'ऋग्वेद' के मुख्य ऋषि ६ हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वशिष्ठ। द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक पारस्परिक समता दिखाई पड़ती है। उक्त ऋषियों में से गृत्समद द्वितीय मण्डल के, विश्वामित्र तृतीय के, वामदेव चतुर्थ के, अत्रि पंचम के, भरद्वाज षष्ठ के और वसिष्ठ सप्तम मण्डल के ऋषि हैं। इन सूक्तों की समता के कारण ही इन्हें पाश्चात्यों ने family books संज्ञा दी है। कण्व और अंगिरा तथा उनके वंशधर अष्टम मण्डलगत सूक्तों के ऋषि हैं।

प्रथम, अष्टम और दशम मण्डल ऐसे पारिवारिक ऋषियों की कृति नहीं हैं। इनमें महिलाओं के भी नाम हैं। नवम मण्डल में सोम का वर्णन है।

ऋषियों की इन सूचियों का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि वैदिक सूक्तों के वास्तविक कर्ताओं के नाम हमें अज्ञात ही हैं। Oldenberg और Ludwig आदि ने सिद्ध कर दिया है कि जो परम्परा गृत्समद, विश्वामित्र तथा उनके वंशधरों को उक्त सूक्तों का ऋषि बताती है वही परम्परा स्वयं सूक्तों के कथन के साथ मेल नहीं खाती। 'ऋग्वेद' की ऋचाओं में गृत्समद, विश्वामित्र तथा वसिष्ठ ऋषि को असंख्य पुराण-कथाओं तथा व्याख्यानों के नायकों के रूप में वर्णित किया गया है। फिर स्वयं ये ही इन सूक्तों के कर्ता कैसे माने जा सकते हैं ?

ऋग्वेद का मूल अंश और प्रक्षेप —मैक्डॉनल का अनुमान है कि family books अर्थात् द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक ही मूल-रूप से 'ऋग्वेद' में विद्यमान थे, अन्य मण्डल तो इसमें बाद में जोड़ दिये गए। अष्टम मण्डल में सप्तम मण्डल की अपेक्षा कम ऋचाओं का होना ही यह सिद्ध करता है कि यह अष्टम मण्डल family books से पृथक् है। प्रथम तथा अष्टम मण्डल में पर्याप्त साम्य है। प्रथम मण्डल के आधे से अधिक सूक्तों का ऋषि कण्व ही है। छन्द भी समान हैं। यह कहना कि दोनों मण्डलों में से कौन पूर्ववर्ती है या फिर दोनों पृथक् क्यों रखे गये, कठिन है। यह तो निश्चित है कि वे दोनों family books में बाद में जोड़े गये।

दशम मण्डल का प्रणयन पहले ९ मण्डलों के बाद हुआ होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसके सूक्तों के कर्ता पहले ९ मण्डलों में पारंगत हो चुके होंगे, तभी उन्होंने इस मण्डल को प्रणीत किया, कारण यह है कि इस मण्डल के सूक्तों में स्थान-स्थान पर पूर्व-मण्डलगत सूक्तों का उल्लेख मिलता है तथा उनकी अमिट छाप भी परिलक्षित होती है। इसके विषय और आकार पर दृष्टिपात करने पर भी स्पष्ट होता है कि दशम मण्डल अन्य मण्डलों से बाद की कृति है। दूसरा प्रमाण यह

है कि बहुत से पहले के देवता अपना महत्त्व खोने लगे। यथा—इस मण्डल में इन्द्र, अग्नि आदि ने अपनी प्रतिष्ठा कायम रखी, किन्तु उषा आदि अपना अस्तित्त्व खो बैठे। इस मण्डल में कुछ सर्वथा नये विचार देखने को मिलते हैं जिनका पहले के मनुष्यों में पता भी नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी १०वाँ मण्डल बाद का सिद्ध होता है। इसमें स्वर-सकोच का प्रचलन बढ़ गया है। 'र' की तुलना में 'ल' का प्रयोग बढ़ने लगा। बहुत से पुराने शब्द लुप्त हो गये और नये शब्द चल पड़े। यथा—लभ, काल, लक्ष्मी, एवम् आदि का प्रचलन होने लगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दशम मण्डल अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

'खिल' नामक कुछ पद्य भी कई हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध होते हैं। इनका अर्थ होता है 'Supplement' (पूरक)। ये भी बाद की रचनाएँ हैं। ११ बालखिल्य सूक्त, ११ सुपर्ण सूक्त और प्रैष सूक्त आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। इनकी गणना भी संहिता के सूक्तों में नहीं की जाती।

ऋग्वेद का काल

मैक्समूलर का मत—'ऋग्वेद' १२०० ई० पू० निर्मित हुआ, क्योंकि वैदिक साहित्य के चार काल हैं—छन्दः काल, मन्त्र काल, ब्राह्मण-काल और सूत्र काल। सूत्र काल में दो प्रकार की रचनाएँ हैं—(i) अनुक्रमणी और (ii) परिशिष्ट। अनुक्रमणी साहित्य के लेखक शौनक और कात्यायन हुए हैं—शौनक पहले हुए, कात्यायन बाद में।

(i) शौनक में छन्दों का स्वतन्त्र प्रयोग है, कात्यायन में नहीं। उसमें आधुनिकता अधिक है।

(ii) षड्गुरु शिष्य ने भारतीय विद्वानों तथा शास्त्रियों के काल-क्रमानुसार चार विभाग बतलाये हैं—(a) शौनक, (b) आश्वलायन, (c) कात्यायन और (d) पतञ्जलि।

महाभाष्यकार पतञ्जलि को द्वितीय शताब्दी ई० पू० का स्वीकार किया जा चुका है। अतः श्रौत सूत्रकार कात्यायन को कम-से-कम

पतञ्जलि से दो शताब्दी पूर्व होना चाहिए। भारतीय परम्परा कात्यायन को वररुचि से अभिन्न मानती है जिसे सोमदेव भट्ट ने 'कथा सरित्सागर' में नन्द का एक मन्त्री बताया है। नन्द को अशोक (२७० ई० पू०) के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य ने परास्त किया था। इस आधार पर वररुचि (कात्यायन) को लगभग ३२५ ई० पू० का माना जा सकता है। अब शौनक को निर्विवाद रूप से करीब ४०० ई० पू० का मान सकते हैं। किन्तु शौनक के पहले भी कई सूत्रकार हो गये हैं, तथापि हम सूत्र-काल का आरम्भ ६०० ई० पू० से मान लेते हैं।

विचार-परम्परा और साहित्यिक रचनाओं को दृष्टि-पथ में रख-कर ब्राह्मण-काल को सूत्र-काल से कम-से-कम २०० वर्ष पीछे ले जाना पड़ता है। अतः ब्राह्मण-काल ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक माना जा सकता है। उक्त विचार से ही मन्त्र-काल को १००० ई० पू० से ८०० ई० पू० तक मान सकते हैं।

सूत्रकार, ब्राह्मणकार और मन्त्रकार अपने से पूर्व छन्दःकाल का होना स्वीकार करते हैं एवं इस काल को भी कम-से-कम २०० वर्ष लगे होंगे। इस प्रकार छन्दःकाल १२०० ई० पू० से १००० ई० पूर्व तक सिद्ध हुआ। अतः 'ऋग्वेद' ही सबसे पहला वेद है इसलिए इसका समय लगभग १२०० ई० पू० अनुमित किया जा सकता है।

मैक्समूलर के मत का खण्डन

(१) भाषा और विचार-परम्परा के आधार पर अनुमान से ही विभिन्न कालों की तिथि निर्धारित की गई है, कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया गया।

(२) वैदिक कात्यायन और वार्तिक-कार कात्यायन एक ही थे इसका निर्णय अब भी नहीं हो पाया है। इसी प्रकार षड्गुरुशिष्य और सोमदेव भट्ट के कथन भी सर्वथा विवादास्पद हैं। फिर इनके आधार पर कैसे तिथि-निर्धारण किया जा सकता है।

(३) छन्द, मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र-कालों में से प्रत्येक में २००

वर्ष का ही अन्तर मानने में कोई प्रमाण नहीं, यह अन्तर ५०० या १००० वर्ष का भी माना जा सकता है।

(४) एक स्थान पर स्वयं मैक्समूलर ने वैदिक ऋचाओं का निर्माण-काल १५०० से १२०० ई० पू० माना है। अतः यह मत परिहार्य है।

ह्विटनी (Whitney) आदि का मत

वेबर (Weber)—१६वीं शताब्दी ई० पू० में फ़ारस और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेशों के निवासियों का एक संघ भारत में आकर सिन्ध घाटी में बसा और उस ही ने ऋचाओं की रचना की, उस संग्रह का ही नाम 'ऋग्वेद' है।

ह्विटनी—आप मैक्समूलर के चार कालों को मानते हैं, किन्तु प्रथम अर्थात् छन्दःकाल का समय आपने २००० से १५०० ई० पू० माना है।

केजी—आप भी Whitney साहब का अनुमोदन ही करते हैं।

हॉग (Haug)—आपने वेदांग ज्योतिष का निम्नस्थ अंश लेकर 'ऋग्वेद' का काल निर्धारित किया है।

"प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा॥"

इससे हॉग ने दो निष्कर्ष निकाले—(i) १२वीं शती ई० पू० में भी भारतीयों का ज्योतिष ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा था कि वे इस प्रकार का निरीक्षण कर सकते थे। (ii) प्रायः सभी मुख्य-मुख्य क्रिया-कर्मों का समावेश ब्राह्मण ग्रन्थों में हो चुका था।

ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण-काल १४००-१२०० ई० पू० है और संहिता-काल २०००-१४०० ई० पू०। किन्तु प्राचीनतम ऋचाएँ और याज्ञिक मन्त्र कुछ शताब्दी पूर्व ही लिखे गये होंगे। इस प्रकार वैदिक साहित्य का प्रारम्भ २४०० ई० पू० से मान सकते हैं। यही 'ऋग्वेद' का समय है।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित का मत

इन्होंने 'शतपथ ब्राह्मण' के निम्न संदर्भ के आधार पर 'ऋग्वेद' का काल निर्धारित किया है:—

"एकं द्वे, त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि अथैत एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिका स्वादधीत। एताह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।"

कृत्तिका की यह स्थिति करीब ३००० ई० पू० की होगी। यही काल 'शतपथ ब्राह्मण' का है। 'तैत्तिरीय संहिता' तो इससे भी पुरानी है। उसे ३००० ई० पू० के भी २०० वर्ष पूर्व माना जा सकता है। अस्तु, 'ऋग्वेद संहिता' तो ३२०० ई० पू० से भी पूर्व की होगी।

तिलक का मत

तिलक ने 'Orion' की भूमिका में लिखा है कि—"······The traditions recorded in the Rigveda unmistakably point to a period not later than 4000 B. C., when the vernal equinox was in orion or in other words, the dog-star commenced the equinoctial year."

संस्कृत साहित्य में स्थान-स्थान पर आये ज्योतिष-संकेतों के आधार पर तिलक ने संस्कृत-वैदिक-काल को चार भागों में बाँटा है—

(१) Pre-Orion period—६००० B. C. से ४००० B. C. तक
(२) Orion period—४००० B. C. से २५०० B. C. तक
(३) Krittika period—२५०० B. C. से १४०० B. C. तक, तथा
(४) Sutra period—१४०० B. C. से ५०० तक

जेकोबी का मत

ऋग्वेद-काल से लेकर अब तक ऋतुओं में जो क्रमिक परिवर्तन हुए हैं, उनके आधार पर जेकोबी ने निष्कर्ष निकाला है कि 'ऋग्वेद' का समय कम-से-कम ४००० ई० पू० तो अवश्य ही होगा।

Sir R. G. Bhandarkar का मत

भण्डारकर साहब ने 'Cambridge History of India' में वैदिक-काल के निर्धारण का भी प्रयत्न किया है। आपने वेद के 'असुर' शब्द से 'Assyrian' शब्द का साम्य दिखा कर वैदिक ऋचाओं का निर्माण-काल २५०० ई० पू० निश्चित किया है।

निष्कर्ष

केवल कुछ शब्दों को लेकर उनका अन्य निश्चित शब्दों से साम्य दिखा कर कोई मत खड़ा कर देना असंगत है। हमें तो 'ऋग्वेद' का समय कम-से-कम ४००० ई० पू० ही मान्य है।

ऋग्वेद के दो रूप

आलोचना की दृष्टि से 'ऋग्वेद' के दो काल हैं :—

(i) 'ऋग्वेद' का मूल रूप, जो कि अन्य सभी वेदों से पुराना है।

(ii) संहिता-पाठ युक्त ऋग्वेद, जो कि वैयाकरणों के अथक परिश्रम का फल है।

कण्ठस्थ करने की विधि से 'ऋग्वेद' की विषय-सामग्री शिष्य को गुरु से प्राप्त होती चली आई थी, इसीलिए इसके ग्रन्थ-रूप में प्रकाशन के समय यह विश्वसनीय न रह गया। क्योंकि कितना भी क्यों न हो, हमारी सावधानी के बावजूद भी, कुछ-न-कुछ अशुद्धियाँ तो आ ही गई होंगी। किन्तु फिर भी 'ऋग्वेद' अपनी प्रामाणिकता को अपेक्षाकृत अधिक अक्षुण्ण बनाये रहा। आगे चलकर संहिता-पाठ द्वारा 'ऋग्वेद' को बाँध दिया गया, जिससे कि अन्य परिवर्तनों की सम्भावना न रह जाय। ऋग्वेद के मूल पाठ और संहिता-पाठ में सैकड़ों स्थलों पर असमानता है किन्तु शब्द वे ही हैं जिनका प्रयोग 'ऋग्वेद' के प्रणेता ऋषियों ने किया था। मुख्य परिवर्तन केवल ध्वनि में ही हुआ।

ब्राह्मण काल तक 'ऋग्वेद' का स्वरूप निश्चित हो चुका था। 'शतपथ-ब्राह्मण' में एक स्थल है जहाँ पर कुछ आचार्यों द्वारा किये गए 'ऋग्वेद' के कुछ मन्त्रों में परिवर्तन के प्रस्ताव को ठुकरा दिये जाने का उल्लेख

मिलता है। संख्या सम्बन्धी यह विवरण सिद्ध करता है कि उस समय ऋग्वेद का स्वरूप निश्चित हो चुका होगा।

संहिता-पाठ का निर्माण-काल

अब प्रश्न उठता है कि संहिता-पाठ कब निश्चित किया गया? ब्राह्मण ग्रन्थों में यह बतलाया गया है कि अमुक शब्द में इतने अक्षर हैं। यह बात संहिता से मेल नहीं खाती। पुराने ब्राह्मण साहित्य में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता कि वेद-पाठ में ध्वनि का भी कोई स्थान है। अस्तु, स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के प्रणयन की परिसमाप्ति के बाद ही संहिता-पाठ निश्चित किया गया।

आरण्यक और उपनिषद् भी ब्राह्मण साहित्य के ही अंगभूत हैं। तथापि ऊपर का कथन उनके साथ लागू नहीं होता। उनमें वैदिक पाठ के ध्वनि सम्बन्धी बड़े बड़े सिद्धान्त भी हैं। इनमें ही पहले-पहल शाकल्य और माण्डूक्य आदि वैयाकरणों का नाम आता है। प्रातिशाख्यों में तो उक्त वैयाकरणों की सत्ता स्वीकृत की गई है। अस्तु, निश्चित है कि उपनिषद् और आरण्यक, ब्राह्मणों और प्रातिशाख्यों के बीच की कड़ी हैं। इसी बीच के समय में, या यों कहिये कि लगभग ६०० वर्ष ईसा-पूर्व संहिता-पाठ प्रणीत हुआ होगा।

ऋग्वेद संहिता के सुरक्षा के साधन

संहिता-पाठ बन जाने के बाद इसके स्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्न किये गए। पहला प्रयत्न 'पद-पाठ' का प्रणयन था। यह पद-पाठ संहिता-पाठ के साथ ही नहीं बनाया गया, यह बात तो इसी से स्पष्ट है कि इसमें अर्थ और विचारों की कई अशुद्धियाँ अन्तर्भूत हैं। पद-पाठ का प्रणयन संहिता-पाठ के कुछ काल पश्चात् ही हुआ होगा, क्योंकि—(i) 'ऐतरेय आरण्यक' के कर्ता इससे परिचित थे, (ii) इसके कर्ता शाकल्य मुनि यास्क के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि यास्क ने शाकल्य मुनि की कृति से उद्धरण दिये हैं। (iii) शाकल्य मुनि 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के

कर्ता शौनक मुनि से भी पूर्ववर्ती है, क्योंकि उक्त प्रातिशाख्य तो पद-पाठ पर ही आधारित है।

पद-पाठ ऋग्वेद के सूक्तों पर प्रामाणिकता की छाप लगा देता है। यह कथन इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के ६ सूक्त ऐसे हैं जिनका पद-पाठ नहीं मिलता, केवल संहिता-पाठ दिया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि पद-पाठ-कर्ता शाकल्य मुनि के ये सूक्त ऋग्वेद के ही हैं, यह मानने में पूर्व आपत्ति थी।

संहिता-पाठ को परिवर्तनादि से बचाने के लिए दूसरा कदम भी उठाया गया। इसे क्रम-पाठ कहते हैं। यह पाठ भी पुराना ही है, क्योंकि पद-पाठ की तरह ही इससे भी ऐतरेय-आरण्यक के कर्ता परिचित हैं। इस क्रम-पाठ में पद-पाठ का प्रत्येक अक्षर दो बार आता है—एक तो पूर्ववर्ती शब्द से सम्बन्धित है, दूसरा परवर्ती से। मान लो कि पहले चार शब्द अ, ब, स, द हों तो क्रम पाठ इस प्रकार होगा—अब, बस, सद।

क्रम पाठ पर ही आधारित एक जटा पाठ भी है जिसमें कि एक अक्षर तीन बार दोहराया जाता है, बीच वाला पाठ उलट कर रख दिया जाता है। यथा—अब, बअ, अब; बस, सब, बस।

घन-पाठ तो सर्वाधिक गूढ़ है। वह इस प्रकार का है—अब, बअ; अबस, सबअ, अबस; बस, सब, बसद आदि।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि वेद-मन्त्रों को मिलावट से बचाने के लिए और लेखन तथा मुद्रण की अशुद्धियों से उसकी रक्षा करने के लिए वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उसका कण्ठस्थ करना प्रारम्भ किया और उसके लिए पद, क्रम, जटा और घन-पाठों की व्यवस्था की गई।

(i) पद पाठ से पदच्छेद होता है, यथा—अग्निमीले का अग्निं ईले।

(ii) क्रम पाठ—अग्नि, ग्निमी, मीले।

(iii) जटा पाठ—अग्निं, गिंनअ, अग्निं अथवा

(iv) घन पाठ—अग्नि, ग्निम, अग्निमी, मीग्निअ, अग्निमी, अग्निमीले।

प्रातिशाख्यों को भी संहिता-पाठ का प्ररक्षक माना जा सकता है। पद-पाठ से संहिता-पाठ बनाने के लिए जिन-जिन परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है उनका प्रतिपादन प्रातिशाख्यों में हुआ है।

'ऋग्वेद' का अन्तिम प्ररक्षक अनुक्रमणियों को माना जाता है। इनमें सूक्तों, ऋचाओं, शब्दों और अक्षरों तक की संख्या दी गई है।

"पद-पाठ रहित ऋग्वेद मन्त्र"

निम्नलिखित छः मन्त्रों का पद-पाठ नहीं होता।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्द्धनम्
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ (७।५९।१२)
भद्रं नो अपि वातय मनः। (१०।२०।१)
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
(१०।२१।१०)
ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ (१०।१९०।१)
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतो वशी ॥ (१०।१९०।२)
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्ष मथो स्वः ॥ (१०।१९०।३)

इन मन्त्रों के पद-पाठ न होने का कारण विदित नहीं।

ऋग्वेद के संस्करण

ऋग्वेद का केवल एक ही संस्करण हमें प्राप्त है। किन्तु क्या पहले अन्य संस्करण भी थे? यह एक विचार्य प्रश्नवाचक चिह्न है। चरण-व्यूह में जो कि सूत्र-काल की ही एक रचना है, ऋग्वेद की ५ शाखाएँ बतलाई गईं हैं—(i) शाकल, (ii) वास्कल, (iii) आश्वलायन, (iv) (v) माण्डूकेय। इनमें से तीसरी व चौथी शाखा

ऋग्वेद के विविध संस्करण नहीं मानती। इनमें और शाकल शाखा में यही भेद है कि आश्वलायन सम्प्रदाय वाले ११ बालखिल्यों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनमें से कुछ को छोड़ कर शेष की सत्ता शांखायन शाखा स्वीकार करती है। यही कारण है कि पुराणों में केवल तीन शाखाएँ ही मानी गई हैं—(i) शाकल, (ii) वास्कल व (iii) माण्डूकीय।

हो सकता है कि माण्डूकीय शाखा का अपना कोई स्वतन्त्र संस्करण रहा हो किन्तु बहुत पहले से ही उसका पता-ठिकाना सभी कुछ लुप्त है। अस्तु, अब विचारने के लिए केवल दो ही शाखाएँ रह गईं—(i) शाकल व (ii) वास्कल। शाकल शाखा से वास्कल शाखा में केवल इतना ही भेद है कि वास्कल सम्प्रदाय वालों ने ८ सूत्र अधिक माने हैं। उन्होंने प्रथम मण्डल के सूक्तों का क्रम भी कुछ और प्रकार का रखा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शाकल शाखा ही ऐसी है जिसका संस्करण ही सर्वश्रेष्ठ है। इसका संस्करण ही ऐसा है जो कि आज तक उपलब्ध है।

ऋग्वेद में स्वर-बल (Accent)

अन्य संहिताओं की भाँति ऋग्वेद भी स्वर-चिह्नों से युक्त रूप (accented form) में प्राप्त होता है। धार्मिक दृष्टि से वेद का यथार्थ एवं शुद्ध उच्चारण करने के लिए accent ने बड़ा योग दिया है। Accent दो प्रकार के होते हैं—(i) Musical accent और (ii) Stress accent। वैदिक साहित्य में musical accent पाया जाता है। पाणिनि के कुछ काल बाद तक भी यही क्रम चलता रहा। ईसा की ७वीं शताब्दी में इस accent में परिवर्तन हुआ। आज का संस्कृत उच्चारण वैदिक accent के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यह कुछ-कुछ Latin के accent का-सा है। Accent के इस परिवर्तन का प्रधान कारण प्राकृत का प्रभाव है।

वेदों में तीन accents हैं–(i) उदात्त (ग्रीक का acute accent),

(ii) अनुदात्त (ग्रीक का Low-pitched accent) तथा (iii) स्वरित (ग्रीक का falling accent)।

Accent के चिह्नित करने की चार विधियां हैं:—

(i) 'ऋग्वेद' की—अनुदात्त के लिए अक्षर के नीचे पड़ी पाई, स्वरित के लिए अक्षर के ऊपर खड़ी पाई और उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं। यही विधि सर्वप्रमुख है।

(ii) 'कृष्ण यजुर्वेद' की मैत्रायणी और काठक संहिताओं वाली प्रक्रिया में उदात्त के लिए अक्षर के ऊपर खड़ी पाई पाई जाती है।

(iii) 'शतपथ ब्राह्मण' की प्रक्रिया में उदात्त के लिए अक्षर के नीचे पड़ी पाई।

(iv) 'सामवेद' की प्रक्रिया में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को १, २, ३ संख्याओं द्वारा प्रकट करते हैं।

ऋग्वेद के मण्डलों का ऋषियों से सम्बन्ध और संहिता का क्रम

पहले और दसवें मण्डलों में सूक्त संस्था (१९१) तो समान है ही, उनमें परस्पर यह भी समानता है कि उन दोनों में विभिन्न ऋषियों के सूक्तों के संग्रह संग्रहीत हैं। दूसरे मण्डल से सप्तम मण्डल तक प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध केवल एक ही ऋषि या उसके वंश से है। क्रम से उन ऋषियों के नाम हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ। अष्टम मण्डल का सम्बन्ध प्राधान्येन कण्व ऋषि के वंश से है। इस मण्डल में प्रगाथ नामक विशेष छन्द की बहुलता है, इसलिए इसके ऋषियों को 'प्रगाथ' भी कहा जाता है। नवम मण्डल की विशेषता यह है कि उसके लगभग सभी सूक्तों का देवता पवमान सोम है। ऋषि तो मण्डल २–७ के ऋषियों में से ही हैं।

ऋग्वैदिक सूक्तों में मन्त्रों की संख्या और छन्द

ऋग्वेद के सूक्तों में मन्त्रों की संख्या तीन से लेकर अठावन तक है। किन्तु एक सूक्त में प्रायः दस या तेरह मन्त्र ही रहते हैं। इन मन्त्रों को

१५ विभिन्न छन्दों में लिखा गया है। इनमें से सात छन्द बार-बार प्रयुक्त होते हैं। जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :—

दैव्येकम्—एक अक्षर वाले छन्द को दैवी गायत्री कहते हैं।

आसुरी पञ्चदश—पन्द्रह अक्षर वाले छन्द को आसुरी गायत्री कहते हैं।

प्राजापत्याष्टौ—आठ अक्षर वाले छन्द को प्राजापत्य गायत्री कहते हैं।

यजुषां षट्—छः अक्षर वाले छन्द को याजुषी गायत्री कहते हैं।

साम्नां द्वि—बारह अक्षर वाला छन्द साम्नी गायत्री कहलाता है।

ऋचां त्रि—अठारह अक्षर वाले छन्द को आर्च्ची गायत्री कहते हैं।

साम गायत्री में उत्तरोत्तर क्रमशः दो-दो अंक की वृद्धि होती है—(जैसे १२ अक्षर की साम गायत्री होती है, उसमें तीन अंक बढ़ा देने से वह सामोष्णिक छन्द हो जाता है। इसी प्रकार सामानुष्टुबादि में समझना चाहिए।) आर्च्ची गायत्री में क्रमशः तीन-तीन अंकों की वृद्धि होती है। प्राजापत्या गायत्री में उत्तरोत्तर क्रमशः चार-चार अंकों की वृद्धि होती है। जिस गायत्री में अंक की संख्या-वृद्धि नहीं की गई है उसमें उत्तरोत्तर क्रमशः एक-एक संख्या की वृद्धि होती है। आसुरी गायत्री में क्रमशः एक-एक संख्या का ह्रास हो जाता है।

याजुषी गायत्री, साम्नी गायत्री और आर्ची गायत्री ये तीनों एकत्रित होकर छत्तीस अक्षर की ब्राह्मी गायत्री होती है एवं याजुषी उष्णिक्, साम्नी उष्णिक् और आर्ची उष्णिक् ये तीनों मिलकर बयालीस अक्षर का ब्राह्मी उष्णिक् छन्द होता है। इसी प्रकार अनुष्टु-बादि में भी समझना चाहिए। प्राजापत्या गायत्री, आसुरी गायत्री और दैवी गायत्री ये तीनों मिलकर चौबीस अक्षर की आर्षी गायत्री होती है। प्राजापत्या उष्णिक्, आसुरी उष्णिक् और दैवी उष्णिक् ये तीनों एकत्रित होकर अट्ठाइस अक्षर का आर्षी उष्णिक् छन्द होता है। इस प्रकार अनुष्टुबादि में भी समझना चाहिए। बृहद् विवरण आगे के chart में देखिये—

	छन्दः	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुब्	जगती	ऋङ्कानां वृद्धि क्षयक्रमौ
१	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	४ वृद्धिः
२	दैवी	१	२	३	४	५	६	७	१ वृद्धिः
३	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	१ ह्रासः
४	प्राजापत्य	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	४ वृद्धिः
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	१ वृद्धिः
६	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२८	२४	२ वृद्धिः
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	३ वृद्धिः
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	६ वृद्धिः

ऋग्वेद की व्याख्याएँ

'ऋग्वेद' प्राचीनतम काल का भारतीय ग्रन्थ है। इसके अर्थज्ञान एवं इसकी समालोचना-हेतु पाश्चात्य विद्वानों को अधिक परिश्रम करना पड़ा। इस कार्य में उन्हें सायण भाष्य से पर्याप्त सहायता मिली। सायण का काल १४वीं शती का उत्तरार्ध है। सायण विजय नगर के रहने वाले थे, जिसके भग्नावशेष आज भी दक्षिण भारत में बेलाड़ी नगर के पास मिलते हैं। उन्होंने 'ऋग्वेद' पर ही नहीं, अपितु चारों वेदों पर विस्तृत व्याख्या लिखी है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने मूल का ही अधिक सहारा लिया है। १८५० ई० में H. H. wilson ने ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद करना प्रारम्भ किया। उनका मुख्य उद्देश्य था सायण और यास्क आदि के द्वारा वेद-मन्त्रों का जो अर्थ निश्चित किया गया है, उसका प्रतिपादन करना।

प्रो० रोथ ने एक नये मार्ग का ही आश्रय लिया। उनका उद्देश्य था वेद-मन्त्रों का वह अर्थ निर्धारित करना जो कि वेद के कर्ता ऋषियों को अभीष्ट था। यह कार्य वेद के टीकाकारों के पीछे पूँछ की तरह लगकर करना सम्भव न था। अस्तु, Roth ने उनकी सर्वथा उपेक्षा की और स्वतन्त्र रूप से अर्थ किया।

यास्क के पहले भी कई वेद-व्याख्याता हो चुके थे, जिनके मत परस्पर असमान थे। स्वयं यास्क ने ही सत्रह लोगों के नाम गिनाये हैं। 'नासत्यौ' शब्द के विभिन्न अर्थ ही उक्त वैभिन्न्य को प्रदर्शित करने में पुष्ट प्रमाण हैं। कोई इसका अर्थ 'सत्य ही है, झूठ नहीं' यह करता है। कोई 'सत्य के नेता' तो कोई 'नासिका से जन्म वाला' ऐसा अर्थ करता है। इसीलिए कौत्स का कहना था कि वेद-मन्त्रों का अर्थ करना अनावश्यक है, क्योंकि वेद अज्ञात, अर्थहीन एवं विरोधपूर्ण है। किन्तु यास्क ने उनका विरोध किया। उन्होंने व्युत्पत्ति का सहारा लेकर 'ऋग्वेद' के बड़े भाग की व्याख्या की है। एक मन्त्र के प्रकारान्तर से कई अर्थ बताये हैं। इससे स्पष्ट है कि यास्क को मार्गदर्शक कोई न मिला।

इसीलिए वह किसी निश्चित अर्थ पर पूर्ण विश्वास के साथ नहीं टिकता। यास्क के अर्थ कल्पनामूलक हैं।

कहीं-कहीं पर तो सायण भी यास्क से सहमत नहीं दिखलाई पड़ते। ऐसे स्थलों पर सोचना पड़ जाता है कि उन दोनों में से किसका अर्थ ठीक है। यास्क ने तो कल्पना का आधार लेकर एक ही मन्त्र के विभिन्न अर्थ दिखलाये हैं। सायण भी दोषों से नहीं बचे। उन्होंने भी अर्थ करते समय केवल एक ही मन्त्र-विशेष पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा। उनकी दृष्टि व्यापक नहीं है। यथा—'शरद्' का अर्थ उन्होंने कई स्थलों पर भिन्न-भिन्न किया है। यथा—शरदवैत्य का 'वर्षावसर' का 'नया' आदि। अस्तु, सायण को ही सम्पूर्णतः आधार बना लेना ठीक नहीं। उससे सहायता लेना आवश्यक है किन्तु यह नहीं कि प्रत्येक स्थल पर सायण की ही बात मानता चले।

Roth ने तो वेद की विभिन्न भारतीय टीकाओं का सर्वथा परित्याग किया है। उनका कहना था कि एक सुशिक्षित यूरोपियन वेद-मन्त्र का अर्थ एक ब्राह्मण व्याख्याकार से भी अच्छी तरह कर सकता है। Roth ने वेद के तुलनात्मक अंश, पूर्व-प्रसंग, व्याकरण, व्युत्पत्ति और भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी नियमों पर दृष्टि रखकर अर्थ किया है।

Bohtlingk के साथ मिलकर Roth ने संस्कृत का एक महान् कोष तैयार किया जो कि सात भागों में है। १८५८ से १८७५ तक का समय इसे बनाने में लगा। रोथ सदैव विज्ञान की भीत के सहारे चला है। इसीलिए वेद का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विद्यार्थी Roth का ही पल्ला पकड़ता है।

आज भी 'ऋग्वेद' का एक बड़ा अंश शोध-कार्य के लिए बचा हुआ है। आशा है साहित्य-मनीषियों के आगामी प्रयासों से यह अपूर्णता भी पूर्ण हो जावेगी।

ऋग्वेद में काव्यत्व

'ऋग्वेद' के अधिकांश मन्त्र धार्मिक गीतियाँ ही हैं। केवल दशम मण्डल में कुछ अधार्मिक पद्य मिलते हैं। अधिकांश मन्त्रों में किसी देवता-

विशेष की स्तुति की गई है, जिससे कि वह स्तोता को सुख-समृद्धि प्रदान करे। पहले लोगों का विश्वास था कि 'ऋग्वेद' प्राचीन लोक-गीतियों का संग्रह-मात्र है, किन्तु ऐसा नहीं है। 'ऋग्वेद' काव्यात्मक रचना का एक सुन्दर नमूना है।

कहीं-कहीं पर जैसे अग्नि एवं सोम की स्तुतियों में इस काव्यत्व का गला घोंट दिया गया है। इसके साथ ही 'ऋग्वेद' के काव्य में यथार्थ का विशेष अंश है। क्योंकि अधिकांश ऋग्वैदिक देवता प्राकृतिक शक्तियों के ही प्रतीक हैं।

'ऋग्वेद' की भाषा सरल एवं स्वाभाविक है। समासात्मक वाक्यों का प्रयोग कम हुआ है। विचार भी सीधे-सादे एवं कलात्मकता से शून्य हैं। चूँकि 'ऋग्वेद' कई ऋषियों की रचना है, अस्तु, स्थान-स्थान पर उत्कृष्टापकृष्टता परिलक्षित होती है। साधारणतया कहा जा सकता है कि पद-रचना-कौशल उत्तम कोटि का है। 'ऋग्वेद' का एक कवि अपनी कृति की तुलना एक रथ से करता है, जिसे कि एक कुशल यन्ता की भाँति वह चलाता है। वहाँ एक ऋषि ने अपनी कृति को सुन्दर और सुव्यवस्थित आभूषणों की संज्ञा प्रदान की है। इसी प्रकार एक ऋषि अपनी कृति को अलंकृत रमणी की तुलना प्रदान करता है।

'ऋग्वेद' में नीरसता एक बड़ा दोष है। प्रत्येक मण्डल में बार-बार उन्हीं देवताओं का स्तवन है। फिर बीस या तीस पद्य किसी एक ही की प्रशंसा में पढ़ते-पढ़ते हम ऊब जाते हैं। 'ऋग्वेद' में पाँच सौ ऋचाएँ केवल दो ही देवताओं की स्तुति में हैं। 'ऋग्वेद' के सूक्त धार्मिकता के मधुर रस से आद्योपान्त लिप्त हैं। भौतिक एवं प्राकृतिक शक्तियों को ही देवता मान लिया गया है। एक वेद-काल का व्यक्ति प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को एक बच्चे की तरह विस्मय की दृष्टि से देखता है। एक कवि सोचता है कि सूर्य आकाश में गिर क्यों नहीं पड़ता। दूसरा विस्मय करता है कि दिन को तारे कहाँ चले जाते हैं। तीसरा सोचता है कि रात-दिन नदियों के जल के मिलने पर भी समुद्र आपूरित क्यों नहीं

होता। इस प्रकार उनका हृदय उन शक्तियों के प्रति श्रद्धा से भर जाता था।

अवेस्ता भाषा के सहारे तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि ऋग्वेद-काल के बहुत से देवता उस समय से ही चले आ रहे थे जबकि आर्य और ईरानी शाखाएँ एक ही थीं। यथा—

ऋग्वेद—यम	अवेस्ता—यिम
ऋग्वेद—मित्र	अवेस्ता—मिहिर

कुछ धार्मिक कृत्य भी उसी काल से चले आ रहे थे। जैसे अग्नि-पूजा, सोमयज्ञ, गोपूजा आदि। धार्मिकता से ओतप्रोत काव्य तो 'ऋग्वेद' के पहले से ही चला आ रहा होगा क्योंकि त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् एवं गायत्री आदि मन्त्र पहले से ही विद्यमान थे। ईश्वर-सम्बन्धी विचार तो 'ऋग्वेद' को और भी पहले के भारोपीय काल से मिला।

संस्कृत		लैटिन	जर्मन
देवस्	>	deu-s	
द्यु, पितृ	>	jupitar	> Zeus, Pater

'ऋग्वेद' का कवि विश्व को भू लोक, वायु लोक और स्वर्ग लोक में बाँटता है। यह विभाजन ग्रीक लोगों को भी ज्ञात था।

ऋग्वेद-कालीन धर्म

(क) कुछ विशेषताएँ :—

(i) 'ऋग्वेद' के बड़े-बड़े देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के ही प्रतीक हैं।

(ii) तेज, शक्ति, दान एवं बुद्धि आदि गुण प्रायः सभी देवताओं में समान रूप से पाये जाते हैं।

(iii) प्रायः वैदिक देवताओं का युग्म-रूप में आवाहन किया गया है।

(iv) कहीं-कहीं तो सभी शक्तियाँ सभी देवताओं में बताई गई हैं। यथा—(५, ३, १) में अग्नि को ही उत्पत्ति-काल में 'वरुण',

प्रज्वलन-काल में 'मित्र' कहा गया है। उसे शक्ति का पुत्र कहा गया है। सभी देवता उसमें केन्द्रित हैं। पूजक के लिए वही अग्नि इन्द्र भी है।

(v) विभिन्न देवता एक ही शक्ति के रूपान्तर हैं, यथा—अग्नि के तीन रूप बतलाये गए हैं—पृथ्वी पर की साधारण अग्नि, वायु लोक की विद्युत् अग्नि एवं सूर्य की पवित्र अग्नि। इस प्रकार अग्नि, विद्युत् और सूर्य एक ही शक्ति के विभिन्न रूप हैं।

(vi) कहीं-कहीं एकेश्वरवाद (Pantheism) के दर्शन भी हो जाते हैं। एक देवता विशेष केवल सभी देवताओं का ही नही, अपितु प्रकृति का भी प्रतिनिधि है। यथा अदिति को सभी देवताओं, मनुष्यों और उन सब के रूप में स्वीकार किया गया है जो कि उत्पन्न हो चुके हैं या आगे उत्पन्न होंगे। यही भावना आगे चलकर वेदान्त-दर्शन में पल्लवित हुई।

(vii) 'ऋग्वेद' में प्रत्येक देवता को ही सर्वश्रेष्ठ देवता कह उसका स्तवन किया गया है। इसी आधार पर प्रो० मैक्समूलर ने Henotheism या Kathenotheism के सिद्धान्त को जन्म दिया। किन्तु एक देवता को सबसे बड़ा कहकर स्तुति करना केवल उस देवता की प्रतिष्ठा के लिए शिष्टाचार मात्र ही था। वैसे तो ऋषियों को प्रत्येक देवता का स्थान मालूम था क्योंकि सोमयज्ञ में उसी क्रम से देवताओं का आवाहन किया जाता था।

(viii) 'ऋग्वेद' के सामान्य देवता जन्मजात हैं क्योंकि उन्हें ध्रुव और पृथ्वी के पुत्र कहा गया है। पहले देवता अमर नहीं थे। अमरत्व तो उन्हें अग्नि और सवितृ द्वारा मिला या फिर सोमपान करने से मिला। इन्द्रादि कुछ देवता जरामरण के बन्धन से विमुक्त हैं किन्तु क्या सदैव उनकी यही स्थिति रहेगी, इसका 'ऋग्वेद' में कहीं भी उल्लेख नहीं है।

(ix) वैदिक देवताओं की शारीरिक रचना मनुष्यों की सी (anthropomorphic) है। उनके भी सिर, आँख, भुजा, हाथ, पैर आदि होते

हैं। किन्तु उनका शरीर ठोस नहीं अपितु छायात्मक है। यथा—अग्नि की लपटें ही उसकी जिह्वा हैं। सूर्य की किरणें ही उसकी भुजाएँ हैं, आदि।

(x) ऋग्वेद के धर्म में देव-मूर्तियों एवं मन्दिरों आदि का अस्तित्व नहीं है। मूर्ति-पूजा तो सर्वप्रथम सूत्र-काल में प्रारम्भ हुई।

(xi) कुछ देवता योद्धा-रूप में विविध वाहनों पर सवार हुए-हुए हमारे सम्मुख आते हैं। इन्द्र को छोड़कर शेष सभी शान्तिप्रिय हैं।

(xii) आशावादी वेदकालिक भारतीयों का विश्वास था कि देवता उन्हें दीर्घायु एवं समृद्धि प्रदान करते हैं। रुद्र ही एकमात्र अनिष्टकारक देवता माना जाता था। प्राकृतिक संकट का कारण वृत्र आदि असुर एवं रोगादि के कारण अन्य कोटि के असुर माने जाते थे।

(xiii) वैदिक देवताओं की एक विशेषता उनकी चारित्रिक सुदृढ़ता है। वे सदा ही ईमानदारी एवं गुणों के रक्षक तथा छल-कपट आदि के निरोधक रहे हैं।

(xiv) 'ऋग्वेद' में देवता और उनके पूजक अन्योन्याश्रित हैं। देवता के प्रसाद से ही पूजक को सुख, समृद्धि एवं दीर्घायु मिलती है और पूजक के होमादि से ही देवता का शरीर पुष्ट होता है।

(xv) 'ऋग्वेद' में देवताओं की संख्या ३३ है। ग्यारह-ग्यारह देवताओं के तीन समुदाय अलग-अलग द्यु, पृथ्वी और अन्तरिक्ष के अधिरक्षक हैं किन्तु मुख्य देवता कठिनाई से विंशति तक पहुँचते हैं जिनके कम-से-कम तीन सूक्त हों। इन्द्र—कम-से-कम २५० सूक्त, अग्नि—लगभग २०० सूक्त, सोम—१०० से अधिक। इसके विपरीत पर्जन्य तथा यम के नाम पर केवल तीन-तीन सूक्त ही हैं। अन्य देवता उक्त सीमाओं के बीच में ही आते हैं।

(xvi) वैदिक धर्म में देवियों का स्थान अत्यन्त गौण है। देव-पत्नियों के रूप में तो उनका महत्त्व और भी कम है। वे केवल देवताओं की प्रतिच्छाया मात्र हैं।

(xvii) वैदिक धर्म की एक विशेषता यह है कि इसमें बहुत से देवता युग्म-रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। यथा—मित्रावरुण, द्यावापृथ्वी

आदि। कुछ देवता समुदाय-रूप में भी आते हैं। यथा—मरुद्गण, आदित्यगण, वसुगण, विश्वेदेवाः, ऋभुगण आदि।

(ख) देवता–स्वरूप निरूपण

द्यौ—द्युलोक के देवताओं में सबसे प्राचीन है। यह प्रायः पृथ्वी के साथ युग्म-रूप से आता है। छः सूक्तों में इन्हें अखिल विश्व का पिता-माता कहा गया है। द्युः की तुलना मोतियों से सजे कृष्ण वर्ण के अश्व से की गई है। जो कि स्पष्टतः ताराखचित नभोमण्डल का निदर्शन है। मेघमाला के अन्दर से मुस्कराने वाले द्यौ से कवि का अभिप्राय विद्युत् से ही है।

एक ऋषि इन्द्र के प्रति 'ऋग्वेद' के अष्टम मण्डल में कहता है :—

"यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत। स्तोता मे गोषखा स्यात्।

वरुण के प्रति की गई स्तुतियाँ उन्नत और भावपूर्ण कविताओं में सबसे अच्छी हैं। वरुण ही एकमात्र ऐसा देवता है जिसके पास कवि डरते-डरते जाने का साहस करता है। वरुण ही अन्य देवताओं की अपेक्षा मानव-व्यवहार से अधिक सम्बन्धित है। वह अपराधियों को दण्डित करता है। सप्तम मण्डल में एक कवि वरुण से प्रार्थना करता है

"यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३ श्चरामसि।
अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः।

उत्तरकालिक पुराणों की भाँति 'ऋग्वेद' में भी वरुण समुद्र और जल का देवता है। वह जलोदर (dropsy) द्वारा पापियों को दण्डित करता है। सप्तम मण्डल में जलोदर से आक्रान्त एक मनुष्य प्रार्थना करता है कि :—

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मृळा सुक्षत्र मृळय।
यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः। मृळा सुक्षत्र मृळय।

सूर्य—द्यु लोक के देवताओं में सर्वप्रमुख है। वह एक सर्वदर्शक गुप्तचर है जो कि मानव के उचितानुचित कार्य-कलापों का निरीक्षण करता है। वह सप्ताश्ववाहित रथ पर बैठकर विचरण करता है।

जैसा कि (१, ११५, ४) से स्पष्ट है। वह अन्धकार को चर्मवत लपेट लेता है। उसके भय से उडुगण तस्कर की भाँति पलायन करते हैं। वह रोग और दुःस्वप्नों का अपसारणकर्ता है। सभी प्राणी उस पर आश्रित हैं।

सवितृ—यह आपादशिखोपान्त स्वर्णाभ देवता है। वह अपने हाथों में स्वर्णिम अस्त्र लेकर सभी प्राणियों की सहायता करता है और उन्हें प्रेरित करता है। वह देवताओं को अमरत्व और मनुष्यों को दीर्घ-जीवन प्रदान करता है। मृतात्माओं को स्वर्ग पहुँचाना भी उसी का काम है। वह अन्य देवताओं का नेता है। इन्द्र-वरुणादि सर्वाधिक शक्तिशाली देवता भी उसके संकल्प और गति का विरोध नहीं कर सकते। सवितृ सूक्तों की एक विशेषता यह भी है कि उनमें स् धातु के विभिन्न रूपों का बड़ी कलात्मकता से प्रयोग किया जाता है।

पूषन्—पूषा की पुरुषरूपता बहुत कम मिलती है। उसके पैर व दाहिने हाथ का वर्णन मिलता है, उसके भी पटियादार बाल व दाढ़ी भी हैं। उसके पास सुनहरी तलवार, टाँकी व अंकुश भी रहता है। इसके रथ में बकरे जुतते हैं तथा भोजन दलिया व सत्तू है। वह अपनी माता का प्रेमी व उषा का भी प्रेमी है। उसे सूर्य की पुत्री सूर्या का पति बताया गया है। उसका निवास-स्थान द्युलोक में है। वह प्राणियों का संरक्षक या साक्षी है। वह द्युलोक व पृथ्वी-लोक में गति करता है। उसे मार्ग या सड़कों का देवता भी कहते हैं। उसे त्यागियों का पुत्र 'विमुचीन पात्' कहा गया है। वह पशुओं का पालन करने वाला और उन्हें बिना हानि घर पहुँचाने वाला है। वह धन और शरीर की उन्नति करता है। पूषा को सूर्य का अधिदेवता बताया गया है।

विष्णु—विष्णु को 'त्रिविक्रम' के नाम से भी पुकारा गया है, जिसका कारण बलिदैत्य को हराने की कथा मानी जाती है। विष्णु का अर्थ भी तीनों लोकों को व्याप्त करने वाला देवता होता है। वेद में विष्णु, शब्द सूर्यवाचक भी है। इसे उरुगाय भी कहा गया है। उरुगाय का अर्थ होता है—जिसकी अनेक प्राणी स्तुति करें या जिसकी बड़ी

विशाल कीर्ति हो या जो अनेक देशों में गमन करे या जिसकी सामर्थ्य को देखकर भयभीत होते हुए शत्रुदल क्रन्दन कर उठें। विष्णु सब देवताओं में चतुरतम है। शिव और ब्रह्मा की भी विष्णु रक्षा करते हैं। कोष में विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई कहा गया है। विष्णु के सेवकों के लिए आनन्द का स्रोत प्रवाहित होता है। किसी-किसी मन्त्र में विष्णु शब्द का अर्थ 'यम' और 'वायु' भी किया जाता है। 'भागवत' में विष्णु के निवास-स्थान का नाम 'गोलोक' है। 'वृहदारण्यक उपनिषद्' के अनुसार विष्णु वह शक्ति है जो इन्द्रियों और आत्मा को उनके कर्मानुसार नियुक्त करती है। विष्णु शब्द सूर्य का भी वाचक है। वास्तव में विष्णु सूर्य की क्रियाओं का मूर्त रूप है।

अश्विनौ—ये युग्म-देव हैं जो कि सूर्य-पुत्री सूर्या के साथ स्वर्णिम रथ पर बैठकर चलते हैं। ये देव-वैद्य हैं जो कि अंधे को आँखें और लंगड़े को चलने की सामर्थ्य प्रदान करते हैं। कुमारी विश्पत्या के कटे पैर को उन्होंने लौह-निर्मित पैर को लगा कर ठीक कर दिया था। कुछ लोग उन्हें दो संध्याओं के रूप में मानते हैं, कुछ प्रातः एवं सायंकालिक नक्षत्र मानते हैं।

मरुत्—ये रुद्र और प्रश्नि के पुत्र हैं। इनका चित्रण योद्धा रूप में हुआ है। (२-३४-२) में इनका वर्णन है। ये अपने हाथ में विद्युत् लेकर, स्वर्णिम रथ पर चढ़कर चलते हैं (१-१६८-८)। इनके घोड़े चितकबरे हैं। एक स्थल पर तो उल्लेख है कि उन्होंने हवाओं को ही घोड़ों के स्थान पर जोत लिया। वे शेर के समान प्रचण्ड एवं भयंकर हैं। अपने रथ-चक्रों से वे पर्वतों को तोड़ डालते हैं (८-७-४)। वे जंगलों का तहस-नहस कर डालते हैं। उनका एक प्रमुख कार्य जल बरसाना भी है। इनके चलने से ध्वनि-सी होती है। इसीलिये इन्हें गायक भी कहा गया है। वे इन्द्र की सदैव सहायता करते हैं।

पर्जन्य—यह हवा और वर्षा का देवता है। केवल तीन सूक्तों में इसका स्तवन किया गया है। वृषभ से इसकी तुलना की गई है।

इन्द्र—इन्द्र वेदकालिक भारतीयों का राष्ट्रीय देवता है। चूँकि

उस समय के भारतीय युद्ध-प्रिय थे, अस्तु, इन्द्र भी एक योद्धा-देवता के रूप में आया है। उसकी प्रचण्ड शक्ति, युद्ध कला, वृत्र-विजय आदि की बार-बार प्रशंसा की गई है। वृत्र एक सर्प के रूप का राक्षस था। उसने पर्वत में जलराशि को रोक रखा था। इन्द्र जल को छुड़ाना चाहता था। उसने सोमपान कर शक्ति प्राप्त की और शीघ्रता से जाकर वृत्र का हनन किया। मुक्त जल-राशि वृत्र के शव के ऊपर से बह चली। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में इसका सुन्दर वर्णन है—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणां त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥
(१, ३२, १-२)

इन्द्र के इस राक्षस से युद्ध की यह कथा किसी शक्तिशालिनी प्राकृतिक शक्ति की ओर संकेत करती है। एक नहीं, अनेकों बार इन्द्र वृत्र का संहार करता है। उस समय आकाश और पृथ्वी कांप उठती है। प्राचीन भारतीय वेद-भाष्यकार हमें बतलाते हैं कि इन्द्र तड़ित्, झंझा और वर्षा का राजा है। जिन पर्वतों में जल रुका है वे बादल ही हैं। वृत्र ही अनावृष्टि स्वरूप राक्षस है।

हिलब्राण्ट ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वृत्र न तो मेघों का राक्षस था और न जलपिशाच, किन्तु यह शीतकाल रूपी राक्षस था, जिसकी शक्ति का दमन सूर्य देवता इन्द्र द्वारा किया जाता है। अर्थात् गर्मी पड़ने लगती है और जमी नदियाँ बह निकलती हैं। ये नदियाँ धारा-सम्पात वर्षा का जल नहीं किन्तु उत्तर-पश्चिम की कुछ नदियाँ हैं जो जाड़े में जम जाती हैं।

कुछ भी हो किन्तु यह तो निश्चित है कि वैदिक गायकों को इन्द्र-वृत्र के प्राकृतिक शक्ति वाले स्वरूपों का ज्ञान न था।

इन्द्र की स्तुतियाँ और उसका यश-वर्णन २५० सूक्तों में हुआ है। ऐसा कोई अन्य देवता नहीं है, जिसका चित्रण जीवन के इतने सत्या-

त्मक रूप (True to life) में किया है। इन्द्र के बाहु विशाल और सुशक्त हैं। वह सुन्दर ओष्ठों से सोमरस का पान करता है। जब पी चुकता है तो अपनी दाढ़ों को आनन्द से घुमाता हुआ अपनी सुन्दर दाढ़ी को हिलाता है। उसके बाल स्वर्णवत् हैं। उसकी सम्पूर्ण आकृति भी उसी वर्ण की है। उसका कद बहुत लम्बा है। आकाश और पृथ्वी मिलकर उसकी कटि-मेखला का काम देते हैं। शक्ति में कोई स्वर्ग या पृथ्वी का प्राणी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। जब उसने दोनों अनन्त लोकों को पकड़ा तो वे उसकी मुट्ठी में आ गये। उसे वृषभ कहा गया है। उसके पीने की शक्ति भी असीम है। उसने एक बार ३० पौण्ड सोमरस एक ही घूँट में पी लिया था।

इन्द्र का जन्म बड़े कष्ट से हुआ। यह माँ के गर्भ में ही बोल उठा था कि मैं यहाँ से बाहर नहीं निकलना चाहता, यह निन्दनीय मार्ग है, मैं पार्श्व भाग से बाहर जाऊँगा। यह युद्ध-प्रिय राष्ट्रीय देवता अन्य किसी भी देवता की अपेक्षा देवराज बनने के अधिक उपयुक्त है। 'ऋग्वेद' में प्रत्येक देवता को कहीं-न-कहीं सर्वप्रथम देवता बताया गया है। किन्तु यह चापलूसी मात्र है। सर्वप्रमुख देवता इन्द्र ही है। 'ऋग्वेद' के द्वितीय मण्डल में १२वें सूक्त की १५ ऋचाएँ इन्द्र के यश-वर्णन में अनुत्तम हैं। इन्द्र का विशेष वर्णन हमारी बनाई पुस्तक "ऋक् सूक्त संग्रह" में देखिये।

अग्नि—अग्नि-सूक्तों की ऋचाओं से ज्ञात होता है कि ये वैदिक कवि सरल, तीक्ष्ण तथा हृदयस्पर्शी वाणी का प्रयोग करने में भी सफल थे। अग्नि मानव का मित्र है। वह मनुष्य और देवताओं के बीच मध्यस्थ और दूत का काम करता है। इन्द्र तो योद्धाओं का देवता है, जबकि अग्नि गृहस्थों का। अग्नि उनके बाल-बच्चों की रक्षा करता है और उनके घर को समृद्धिपूर्ण करता है, इसीलिये इसे प्रायः 'गृहपति' कहा गया है।

वह प्रत्येक गृह का अतिथि है। समस्त अतिथियों में प्रथम अतिथि यही है। प्राचीन काल से ही जब नव वधू अपने नूतन सदन में आती है

तो अग्नि की परिक्रमा करती है। इसीलिये अग्नि को 'ऋग्वेद' (१, ६६, ८) में कुमारियों का प्रेमी और पति कहा गया है। जन्म-विवाह आदि पारिवारिक उत्सवों पर अग्नि की प्रार्थना की जाती है। अग्नि ही मनुष्यों द्वारा प्रदत्त भोजन देवताओं तक पहुँचाता है। वही देवताओं को यज्ञ में लाता है। इसीलिये यज्ञ को पुरोहित और होतृ भी कहा जाता है।

अग्नि-सूक्तों में पौराणिकता और काव्यात्मकता अनुस्यूत हैं। घी डालने से अग्नि ज्वाला का रूप धारण कर लेती है। कवि कहता है कि अग्नि का आनन चमक रहा है; जब इसका वर्णन ज्वालामय, केश वाले, लाल दाढ़ी वाले, तीक्ष्ण दंष्ट्रा या स्वर्ण-दन्ता के रूप में किया जाता है; जब ज्वालाओं को अग्नि की जिह्वा, और चतुर्दिक् प्रकाश फेंकने पर उसे चार नेत्रों वाला या सहस्र नेत्र बतलाया जाता है तो काव्यात्मकता और पौराणिकता एक ही छाया में आ खड़ी होती हैं।

अग्नि को भी वृषभ कहा गया है क्योंकि जलते समय इसमें वृषभ-नाद की-सी ध्वनि होती है। उठती हुई नोकीली लपटों को देखकर कवि इसे सहस्रशृङ्ग कहता है। कभी-कभी अग्नि को प्रसन्नता से हिनहिनाते हुए घोड़े की रूपता दी जाती है। इसे 'आकाश का पक्षी' भी कहा जाता है, क्योंकि तड़ित् भी इसी का एक रूप है।

अग्नि-सम्बन्धी पौराणिक कथाओं का उद्‌भव भी कवियों की रूपक और वक्रोक्ति-प्रधान भाषा में ही हुआ है। अग्नि के तीन जन्म या तीन जन्म-स्थान हैं। आकाश में वह सूर्य-रूप से चमकता है, पृथ्वी पर वह मनुष्यों द्वारा दो काष्ठदण्डों के संघर्ष से उत्पन्न होता है और जल में वड़वानल के रूप में स्थित है। क्योंकि दो अरणियों के रगड़ने से यह पैदा होता है, इसलिए इसकी दो माताओं की कल्पना की गई। 'ऋग्वेद' (१०, ७६, ४) में लिखा है कि यह बच्चे के रूप में पैदा होते ही अपनी दोनों माताओं को खा जाता है। माताओं का खाया जाना अरणियों का जलना ही है।

अग्नि-सूक्तों में कुल दो सौ सूक्त हैं। इनमें से अधिकांश का प्रयोग यन्त्रों में मन्त्रों के रूप में होता है। इतना होते हुए भी इनकी काव्यात्मकता तो स्वीकृत करनी ही पड़ेगी। उदाहरण के लिए 'ऋग्वेद' के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र को ही ले लीजिये :—

"अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।"
इति।

उषा—सूर्य, पर्जन्य, मरुत् और उषस् सूक्तों की ऋचाओं में गीतिकाव्य के कुछ आबदार मोतियों की चमक देखने को मिलती है। उषा के विषय में तो वैदिक गायकों ने एक से बढ़कर एक रूपक की खोज में होड़ लगा दी है। वह एक नवयुवती की तरह चमकती हुई आ जाती है जिसे कि उसकी माँ ने खूब सजाया है। वह नर्तकी की भाँति सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनती है और अपना वक्ष मनुष्यों को दिखाती है। प्रकाश का वस्त्र लपेटे वह कन्या पूर्व में आकर अपने सौन्दर्य का घूँघट खोल देती है। वह पूर्व का द्वार खोलकर मानो नीचे उतरने लगती है। इस प्रकार के वर्णनों के उदाहरण के लिए देखिये:—

"एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥
एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन् योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः॥

रुद्र—यह उत्तरकाल के रुद्र से सर्वथा भिन्न है। इसका स्तवन केवल तीन या चार सूक्तों में ही हुआ है। इसका नामोल्लेख विष्णु की अपेक्षा भी कम है। इसका निरूपण प्रायः धनुर्बाण-धारी के रूप में हुआ है। यह भयानक एवं अनिष्टकारी देवता है, किन्तु वह असुरवत् दुष्ट नहीं है। उसकी पोषण-शक्ति भी कम नहीं है। उसे सबसे बड़ा वैद्य कहकर प्रशंसित किया गया है।

सोम—पूरा नवाँ मण्डल एवं अन्य मण्डलों में कुछ अस्फुट सूक्तों में सोम-स्तवन है। वैदिक देवताओं में इसका तीसरा स्थान है। सोमलता के सम्पीडन एवं निस्सेचन आदि का विशद वर्णन मिलता है। इसकी

शुद्धि दस कुमारियाँ करती हैं जोकि बहनें हैं। ये हमारी दस अंगुलियों की प्रतीक हैं। पात्रों में प्रवेश करते हुए सोम से जो ध्वनि होती है उसकी तुलना योद्धाओं की तुमुल ध्वनि से की गई है। यह देवों का पेय पदार्थ है। इससे उन्हें अमरत्व प्राप्त होता है। यह अपने पूजकों को यम के लोक ले जाता है। स्वर एवं विचारों में आकस्मिक परिवर्तन कर देना तथा मदमत्त बना देना आदि इसके गुण हैं। यह वनस्पतियों का सिरताज है। इसका निवास-स्थान पर्वत को बतलाया है। इसका आदि स्थान स्वर्ग था, वहाँ से श्येन पक्षी इसे भूतल पर लाया। कुछ उत्तर काल की ऋचाओं में सोम को चन्द्रमावाची बतलाया है, यथा—'अथर्ववेद' एवं 'यजुर्वेद' में। 'ऋग्वेद' में भी एक जगह किसी पात्र में स्थित सोम की तुलना जल में स्थित चन्द्रमा से की गई है।

भाव देवता—'ऋग्वेद' में धार्मिक विचार-परम्परा का विकास स्थूल से भाव की ओर हुआ है क्योंकि दशम मण्डल में कुछ भाववाचक संज्ञाओं को देवता मान लिया गया है, यथा—श्रद्धा (Faith), मन्यु (Wrath); काम (Desire)···आदि। इसी कोटि का एक देवता बृहस्पति भी है जिसे कि Roth महोदय भक्ति की भावना का प्रतीक मानते हैं। किन्तु Macdonell उसे अग्नि के याज्ञिक कर्म का ही प्रतिरूप मानते हैं। यह वेदोत्तर-काल के बृहस्पति से सर्वथा भिन्न है।

(ii) देवियाँ

अदिति—इसका कोई स्वतन्त्र सूक्त नहीं है तथापि प्रायः इसका स्तवन किया गया है। इसकी दो विशेषताएँ हैं :—पहली यह कि यह आदित्य नामक देवताओं की माँ है जिनमें सर्वप्रमुख वरुण है। दूसरी यह कि वरुण के समान यह भी शारीरिक व्याधियों आदि से हमें मुक्त कर सकती है। यह बात ध्यान देने की है कि इसके कुछ पुत्र तो इसके भी पहले जन्म पा चुके थे। इस विरोधी वाक्य से परेशान न होना चाहिए। आदित्यों को अदिति का पुत्र कहने से अभिप्राय 'स्वतन्त्रता का पुत्र' या स्वतन्त्रता प्रिय हुआ करता था। आगे चलकर यही अदिति शब्द एक देवी का वाची बन गया।

इसके अतिरिक्त सरस्वती, पृथ्वी, रात्रि आदि के नाम भी आते हैं।

(iii) अप्सरसः

पहले इस शब्द का प्रयोग एक के अर्थ में होता था किन्तु आगे चलकर बहुत के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इन्हें जलपरियों के रूप में चित्रित किया गया है। बाद के वेदों में तो इनका निवास-स्थान द्युलोक से बढ़कर भूलोक तक फैल गया था। वे पेड़ों पर रहा करती थीं जहाँ से कि उनका मधुर संगीत सुनाई पड़ता था। ये अनुपम सुन्दरियाँ नृत्य, गान एवं क्रीडा-प्रेमी थीं। गन्धर्व ही नहीं मनुष्य भी इनसे प्रेम करते थे। यह बात 'उर्वशी-पुरूरवा' वाले आख्यान से स्पष्ट है।

(iv) पृथ्वीस्थानीय देवता

मनु—प्रथम यज्ञकर्ता थे। मानव-जाति के जन्मदाता भी हैं।

अंगिरा—इस ऋषि-समूह का इन्द्र से साहचर्य रहा है।

भृगु—मातरिश्वन द्वारा स्वर्ग से लाई गई अग्नि को इन्होंने पृथ्वी पर याज्ञिक ऋषि के रूप में विकरित किया।

'ऋग्वेद' में दूसरे प्रकार की रचनाएँ भी हैं जोकि केवल कर्मकाण्ड के लिए ही रची गईं। किन्तु ध्यान रहे कि यहाँ मर्यादा की एक कठोर रेखा खींचना सम्भव नहीं है। यह तो व्यक्ति-विशेष की अपनी अभिरुचि पर निर्भर है कि चाहे वह इन रचनाओं को पवित्र विश्वास का स्वाभाविक प्रवाह कहे, या दैवी शक्ति से प्रेरित कवि की कृति कहे अथवा याज्ञिक मन्त्रमात्र के रूप में स्वीकार करे। किन्तु यह सत्य है कि इन ऋचाओं में एक ही स्वर बार-बार अलापा गया है। एक ही प्रकार से एक ही शब्दों में कई देवता प्रशंसित हुए हैं—कोई नवीनता नहीं, कोई परिवर्तन नहीं। कुछ विशेष प्रकार के सूक्त भी हैं जिनमें एक साथ कई देवता यहाँ तक कि कभी-कभी सभी वैदिक देवता एक-एक करके प्रतिष्ठित किये गए हैं। यह उचित भी है क्योंकि सोमयज्ञ के अन्त में प्रत्येक देवता को अपना-अपना भाग मिलना ही चाहिए। इसका उदाहरण सप्तम मण्डल के दसवें सूक्त में मिलता है जहाँ कि लगातार १५ ऋचाओं

हों। किन्तु Winternitz इस धारणा से असहमत हैं। उनके अनुसार—'उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपञ्चना' आदि से स्पष्ट है कि शव गाड़ा गया, अस्थियाँ नहीं। अस्थियों को गाड़ने की प्रथा शव को गाड़ने की प्रथा का स्मरणावशेष है।

ऋग्वेद दशम मंडल के १६वें सूक्त में कुछ ऋचाएँ ऐसी भी हैं जो दाह-क्रिया की ही पोषक हैं, यथा—

"मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
यदा शृतं कृणवो जातवेदो ऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः॥"

(१०, १६, १)···आदि

(v) ऋग्वेद में पशु-वर्णन

अश्व—ये देवताओं के रथों को खींचते थे। वैदिक-याज्ञिक कर्मों में अश्व को सूर्य एवं अग्नि का प्रतीक मानते थे। 'ऋग्वेद' के प्रथम मण्डल के १६२ और १६३ वें सूक्तों से स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल से ही अश्वमेध यज्ञ होता रहा है।

गो—'ऋग्वेद' में सर्वाधिक महत्त्व का पशु है। उषा की रश्मियों एवं बादलों को गो कहा गया है। पृश्नि नाम का बरसने वाला बादल भी 'गो' है। कहीं-कहीं तो पृथ्वी को भी 'गो' की संज्ञा दी गई है। एक ऋषि द्वारा गाय को अदिति कहा जाना ही इसकी पवित्रता बतला देता है। यही बात अहन्या से भी स्पष्ट होती है। यह पशु भारतीयों के लिए अन्यून उपयोगी पशु है।

सर्प—इन्द्र का शक्तिशाली शत्रु वृत्र भी सर्प ही था। कहीं-कहीं अहिषु हन्य का उल्लेख भी है जो कि हमारा हितकारी है। आर्य सर्प-पूजक नहीं थे, किन्तु जब वे भारत में आये तो यहाँ के आदिवासियों से उन्होंने यह पूजा अपना ली।

(vi) वृक्षादि वर्णन

'ऋग्वेद' में इनका महत्त्व नगण्य है, तथापि १०वें मण्डल का पूरा ९७ वाँ सूक्त 'ओषधि' का ही है जिससे कि उसकी रोगापसारण-शक्ति

की प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार १०वें मण्डल के १४६ वें सूक्त में अरण्यानी की प्रशंसा है।

(vii) असुरादि वर्णन

इनकी दो कोटियाँ हैः—

(क) *देवताओं के शत्रु*—'ऋग्वेद' में असुर शब्द पहले देववाची था, किन्तु बाद में दैत्यवाची हो गया। 'ऋग्वेद' के दशम मण्डल के १२४वें सूक्त में ये दोनों अर्थ ही संक्रमित हैं। मुख्य असुर ये हैं—वृत्र, बलि, शुष्ण, स्वरभानु आदि।

(ख) *मनुष्यों के शत्रु*—इन्हें राक्षस कहते हैं। इनमें से कुछ की आकृति पशुओं के समान तथा कुछ की मनुष्यों के समान मानी गई है। 'अथर्ववेद' में तो इन्हें विभिन्न वर्णों का बतलाया गया है, यथा—नीले, पीले, हरे आदि। 'ऋग्वेद' में इन्हें मनुष्य तथा अश्वों के मांस का प्रेमी बतलाया है। 'ऋग्वेद' में कहीं-कहीं शव-भक्षक पिशाचों का उल्लेख भी मिलता है।

इस प्रकार 'ऋग्वेद' में देवताओं की कोटियां इस प्रकार हैं:—(i) देवता, (ii) देवियाँ, (iii) अप्सरा, (iv) पृथ्वी पर के देवता अर्थात् ऋषि-मुनि, (v) पशु आदि, (vi) वृक्षादि तथा (vii) असुरादि।

ऋग्वेद में दार्शनिक विचार

वैदिक विश्वास है कि मृतक पुरुष का जीवात्मा पूर्व पुरुषाध्यासित मार्ग से यमलोक को जाता है जहां कि उसके पितर सानन्द रहा करते हैं। उस लोक में अभाव एवं शारीरिक दुर्बलता का नाम नहीं है। सुख-समृद्धि एवं प्रसाद का वहाँ साम्राज्य है। युद्ध में वीर-गति-प्राप्त पुरुष तथा पुरोहित को उदार भाव से दान देने वाले लोग वहाँ जाने के अधि-कारी हैं। वैदिक धर्म में अविश्वास-कर्ताओं को तमसावृत अधम लोक मिलता है।

'ऋग्वेद' के कुछ मन्त्रों में देवलोक एवं पितृलोक (यम लोक)

भिन्न-भिन्न बतलाये गए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसी विचार का पल्लवन किया। यम को मृतकों का राजा माना गया है, मृत्यु का नहीं।

ऋग्वेद में संवाद-सूक्त

'ऋग्वेद' में देवता-स्तवन के साथ-ही-साथ बीच-बीच में कुछ संवाद-सूक्त भी आ गये हैं। १०वें मण्डल में इनका बाहुल्य है। कुछ संवाद-सूक्त ये हैं:—

(i) यम-यमी संवाद (१०वें मण्डल का १०वां सूक्त)
(ii) इन्द्र-वरुण संवाद (४, १२)
(iii) देव-गण एवं अग्नि संवाद (१०, ५२)
(iv) वरुण-अग्नि संवाद (१०, ५१)
(v) इन्द्र-इन्द्राणी संवाद (१०, ८६)
(vi) शर्मा (इन्द्र का दूत) और पणिगण (इन्द्र के शत्रु) संवाद।
(vii) उर्वशी-पुरूरवा संवाद (१०, ९५)।

यह सप्तम संवाद अर्थात् दशम मण्डल का ९५वां सूक्त सर्वाधिक प्रसिद्ध है। १८ ऋचाओं में उर्वशी और पुरूरवा का संवाद है। उर्वशी अप्सरा राजा पुरूरवा के साथ चार साल तक पत्नी के रूप में रहती है। गर्भवती होने पर वह विलुप्त हो जाती है। पुरूरवा उसे खोजता है और अन्त में उसे अन्य अप्सराओं के साथ एक झील में जल-क्रीड़ा करते पाता है। बस इतनी ही कथा 'ऋग्वेद' के इस सूक्त से मिलती है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में भी इनकी कथा है। वह इस प्रकार है:—

पुरूरवा की पत्नी होने के लिए उर्वशी ने तीन प्रतिबन्ध रखे थे। उनमें से एक यह था कि वह उसे (पुरूरवा को) कभी नंगा न देखे। दोनों पति-पत्नी के रूप में रहने लगे। गन्धर्व लोग उर्वशी को वापस बुला लेना चाहते थे। उन्होंने एक दिन रात में उर्वशी के पुत्रवत् प्रिय दोनों मेमनों को चुरा लिया। नींद खुलने पर उर्वशी को मेमने न दिखे, वह चिल्लाने लगी। पुरूरवा जल्दी से उठकर चोरों को पकड़ने दौड़ा। जल्दी में भूल गया कि वह नंगा है। इसी समय गन्धर्वों ने बिजली

चमका दी। उर्वशी ने उसे नंगा देख लिया। जब पुरूरवा लौटकर आया तो उर्वशी जा चुकी थी। खोजते-खोजते उसने उर्वशी को अन्य अप्सराओं के साथ एक तालाब में हंसों के रूप में तैरते देखा। यहाँ तक की कथा तो 'ऋग्वेद' से मिलती-जुलती है। इसके बाद ही 'ऋग्वेद' में उन दोनों का संवाद मिलता है। इसी को 'शतपथ ब्राह्मण' ने परिवर्धित कर दिया है। पुरूरवा ने बहुत प्रार्थनाएँ कीं कि वह लौट आवे, किन्तु व्यर्थ। यहाँ तक कि जब निराशा में वह कहता है कि मैं विशाल पर्वत से अपने-आप को गिराकर आत्महत्या कर लूँगा तो उर्वशी केवल यह उत्तर देती है :—

"पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।"
(१०, ९५, १५)

दोनों का पुर्नमिलन हुआ या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख न 'ऋग्वेद' में है और न 'शतपथ ब्राह्मण' में। कहते हैं कि पुरूरवा गन्धर्व हो गया और स्वर्ग में अपनी प्रियतमा से उसका पुर्नमिलन हुआ। पुरूरवा-उर्वशी की यह प्रेम-कथा 'कृष्ण यजुर्वेद', 'हरिवंश', 'विष्णु पुराण', 'कथा सरित्सागर' और 'विक्रमोर्वशीय' आदि में पल्लवित हुई है।

'ऋग्वेद' के दशम मण्डल का १०वाँ सूक्त भी इसी कोटि का है। इसमें यम और यमी का सम्वाद है। सृष्टि के आदिम युग्म से मानव-जाति कैसे बनी यही इस कथा का सार है। मानव-जाति को बनाये रखने के लिए यमी अपने भाई यम को व्यभिचार के लिए प्रलुब्ध करती है किन्तु यम मीठी वाणी द्वारा अपनी बहन के प्रस्ताव की निन्दा करता है, इस सगोत्र सम्बन्ध को महर्षियों के विधान द्वारा अनुचित बतलाता है और इस प्रकार उसके प्रस्ताव का निराकरण करता है। देवता भी यही चाहते हैं कि यम-यमी मानव-जाति की प्रवृद्धि की दृष्टि से यह अवैध सम्बन्ध स्थापित करें। यमी की वासना बढ़ती गई, यहाँ तक कि उसने खीझकर यम से कहा कि तुम पुरुषत्वहीन हो, तुम में पुरुषोचित भावनाएँ नहीं और भावुक हृदय नहीं। यम यह कहकर इस संवाद की इतिश्री कर देता है कि तुम किसी अन्य पुरुष का आलिंगन करो जिसकी

भावनाएँ उत्तेजित हों। यम-यमी की इस कथा का अन्त क्या है, इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। पता नहीं कि बहन-भाई में ही यह अवैध सम्बन्ध स्थापित हुआ या किसी अन्य से यह सम्बन्ध कराया गया।

सूर्या सूक्त भी इसी कोटि का है। इसमें सूर्या (सूर्यपुत्री) और सोम (चन्द्र) का विवाह वर्णित है। कुल ४७ ऋचाएँ हैं। अश्विनीकुमारों ने यह विवाह कराया। इन ऋचाओं में कुछ तो ऋचाएँ अश्विनीकुमारों और सूर्या को उद्देश्य करके कही गई हैं, कुछ में आशीर्वाद और मन्त्र-मात्र हैं। वैवाहिक दम्पती की पारस्परिक सुन्दर प्रेमाभिव्यञ्जना, विवाहयात्रानुगामी दर्शकगण की भाव-व्यञ्जना, वर का अपनी प्रियतमा के हाथ का चुम्बन करते हुए मधुर स्वरों का उच्चारण, नूतन सदन में नव विवाहित दम्पती का अनुराग-भरा स्वागत और नव-वधू पर आशीर्वचनों की वर्षा आदि ही इन ऋचाओं का वर्ण्य विषय है। इन ऋचाओं की सरलता, सरसता और भाव और भाव-प्रवणता इस आशीर्वचन से स्पष्ट हो जाती है:—

"इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं १ सं सृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः॥"
(१०, ८५, २७)

ऋग्वेद सप्तम मण्डल का १०३वाँ 'मण्डूक सूक्त' इसी प्रकार का है। इसमें मण्डूकों की ब्राह्मणों से तुलना की गई है। सूखे दिनों में वे शान्ति व्रत धारण करने वाले ब्राह्मणों की तरह पड़े रहते हैं। वर्षा आने पर वे प्रेममोद से एक-दूसरे का अभिनन्दन करते हैं, जैसे कि पिता अपने प्रत्यागत पुत्र का। एक मेढक दूसरे मेढक की आवाज का उत्तर ठीक उसी प्रकार देता है जैसे कि शिष्य गुरु के वाक्य को दोहराते हैं। अन्त में ऐश्वर्य-वृद्धि हेतु यह प्रार्थना की गई है:—

"गोमायुरदादजमायुरदात्पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्तः आयुः॥"

ये सब कल्पनाएँ विनोद-प्रधान प्रतीत होती हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हें याज्ञिक गीतों के अनुकरण-गीत (Prosody) के रूप में स्वीकार

किया है। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मणों के प्रति विद्वेषमूलक व्यंग के रूप में स्वीकार करते हैं। Bloomfield ने पूर्णरूपेण सिद्ध कर दिया है कि यह वर्षा कराने का मन्त्र (rain spell) है। मेढकों की ब्राह्मणों से तुलना करने का अर्थ ब्राह्मणों पर व्यंग नहीं, किन्तु मेढकों की (अर्थवादरूप) प्रशंसा है।

'ऋग्वेद' के १०वें मण्डल का ३४वाँ सूक्त 'अक्ष-सूक्त' सबसे सुन्दर है। एक जुआरी का स्वगत-भाषण (soliloquy) है। इसमें वह बड़ी हृदय-वेदना और पश्चात्ताप-पूर्ण स्वर से जुए के कारण हुई अपनी दुर्दशा का वर्णन करता है :—

"न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्।।"
(१०, ३४, २)

अन्त में वह अक्ष से प्रार्थना करता है कि वह उसे मुक्ति प्रदान करे, उसकी इच्छा है कि वह जुआ खेलना छोड़ दे।

कुछ दान-स्तुतियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार के करीब चालीस सूक्त हैं। किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो शुद्ध दान-स्तुति से पूर्ण केवल एक ही सूक्त है, और वह है प्रथम मण्डल का १२६वाँ सूक्त। अन्य सूक्तों की कुछ अन्तिम ऋचाओं में ही दान-स्तुति मिलती है। इनमें से कुछ विजय सूक्त हैं जिनमें इन्द्र की स्तुति की गई है।

'ऋग्वेद' प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त में प्रहेलिकाएँ मिलती हैं, जिनमें से अधिकांश दुर्बोध्य हैं, यथा:—

"सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः।।"
(१, १६४, २)

इसका अर्थ इस प्रकार हो सकता है—यज्ञ के साथ पुरोहित यज्ञ द्वारा सूर्य के रथ को संयोजित करते हैं। यह रथ सात अश्वों द्वारा या एक अश्व के सात रूपों द्वारा खींचा जाता है। इसमें तीन मध्य भाग हैं—गर्मी, जाड़ा और वर्षा। इन्हीं से होकर मानव-जीवन पूर्ण व्यतीत

होता है। हो सकता है कि इसका कुछ और ही अर्थ हो। नीचे लिखी प्रहेलिकाओं का अर्थ भी इसी प्रकार अस्पष्ट है:—

"तिस्रो मातृस्त्रीन्पितृन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्।"
(१, १६४, १०)

"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो ३ योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।"
(१, १६४, ३३)

किन्तु यह प्रहेलिकायें बिल्कुल स्पष्ट हैं, यथा—

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥"
(१, १६४, ४८)

इसका अभिप्राय एक वर्ष से है। जिसमें १२ महीने, ३ ऋतुएँ और करीब ३६० दिन होते हैं। इस प्रकार के प्रहेलिकात्मक प्रश्न प्राचीन भारत में अत्यन्त लोकप्रिय थे। 'यजुर्वेद' और 'अथर्ववेद' में भी इस प्रकार की प्रहेलिकाएँ हमें प्राप्त होती हैं।

'ऋग्वेद' के विभिन्न विषयों पर एक दृष्टि डालने पर हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'ऋग्वेद' अपने मूलरूप में आज के 'ऋग्वेद' से अधिक विस्तृत था और उसका एक बड़ा अंश छन्द-परम्परा के न होने के कारण लुप्त हो गया तथा यही प्राचीनतम आर्य काव्य है।

लौकिक सूक्त—कुछ सूक्त ऐसे भी हैं कि जिनमें देवता आदि की प्रशंसा नहीं कही गई है। यथा—दशम मण्डल में 'अथर्ववेद' के से कुछ अभिचार-मन्त्र। द्वितीय मण्डल के ४२ और ४३वें सूक्त, शकुन-शास्त्र सम्बन्धी हैं। प्रथम मण्डल का १९१वां सूक्त विषैले सर्पादि का तथा दशम मण्डल के १६३वां सूक्त यक्ष्मा रोग का निरोधक है। दशम मण्डल के ५८वें तथा ६०वें सूक्त मरणासन्न व्यक्ति के आयुवर्धक मन्त्रों से युक्त हैं। ५वें मण्डल का ५५वां सूक्त निद्रा को बुलाने

वाला है। दशम मण्डल के १८३ वें सूक्त में सन्तान-प्राप्ति का विधान है। इसी मण्डल के १६२वें सूक्त में बच्चों के विनाशकर्ता प्रेतात्मा के निराकरण का विधान है। शत्रुविनाश के लिए भी दशम मण्डल का १६६वाँ सूक्त है। इसी मण्डल के १४५वें सूक्त में एक पत्नी द्वारा अपने पति को सपत्नियों से विमुख कराकर अपने बश में कर लेने का विधान है।

समाज सूक्त

इसमें स्वतन्त्रता, आचार-सम्बन्धी प्रश्न, प्रहेलिकाएँ आदि अन्तर्भूत हैं।

(i) *विवाह सूक्त*—दशम मण्डल का ८५वाँ सूक्त सर्वप्रमुख है। इसमें ४७ ऋचाएँ हैं। इनमें काव्यात्मकता तो उतनी नहीं किन्तु विवाह-विधि का विशद वर्णन है। पहले पाँच मन्त्रों में (१—५) सोम तथा चन्द्रमा का स्वरूप वर्णित है। अगले १२ मन्त्रों में (६—१७) सोम तथा सूर्य-पुत्री सूर्या के विवाह का वर्णन है। वैसे तो अश्विन स्वयं सूर्या के प्रेमी हैं, किन्तु वे यहाँ सोम के सारथि के रूप में सूर्य-देवता के पास आकर उपस्थित होते हैं तथा सूर्या की मँगनी करते हैं। सूर्य राजी हो जाते हैं तथा अपनी पुत्री को दो चक्रों वाले शालमली वृक्ष की लकड़ी से बने किंशुक पुष्पों से सजे तथा दो श्वेत-वर्ण वृषभों से वाहित रथ पर बैठाकर उसके पतिगृह को भेज देते हैं। अगले दो मंत्रों में (१८-१९) सूर्य एवं चन्द्र का वर्णन है। अगले १४ मन्त्रों में (२०-३३) वर-वधू के प्रति शुभकामनाओं एवं आशीर्वचनों का सन्निवेश है। अगले दो मन्त्रों में वधू के वस्त्राभरण का वर्णन है। अगले ६ मन्त्रों में (३६—४१) पुनः विवाह-कर्म आते हैं। अन्तिम ६ मन्त्रों में (४२—४७) में वर-वधू के प्रति पुनः आशीर्वचन हैं जब वधू पुनः अपने पतिगृह में आ जाती है।

(ii) *अन्त्येष्टि-क्रिया सूक्त*—एतद्विषयक पाँच सूक्त हैं। वे पाँचों १०वें मण्डल में ही हैं—१४ से १८ तक। १५वें सूक्त में यम का, १५वें में पितरों का, १६वें में अग्नि का, १७वें में पूषन् तथा सरस्वती का स्तवन है। केवल १८वें सूक्त में ही पूर्णतया अन्त्येष्टि क्रियाओं का सन्निवेश है।

इन सूक्तों में भाषा की सुन्दरता दर्शनीय है। इनसे स्पष्ट है कि वैदिक भारतीयों में मृतक को गाड़ने और जलाने वाली दोनों प्रथाएँ थीं। साधु-सन्तों एवं दो वर्ष से कम उम्र के बच्चों को तो भूमि में गाड़ देते थे, अन्य सभी की दाह-क्रिया होती थी। अग्नि ही मृतक की आत्मा को पितृलोक तक पहुँचाने वाली मानी गई है। दाह-क्रिया के पूर्व एक बकरे की बलि दी जाती थी जिसकी आत्मा पहले ही पहुँचकर पितरों को उस मृतक की आत्मा के आने की सूचना दे देती थी। 'ऋग्वेद' के इन सूक्तों में इस बात की सूचना भी मिलती है कि आगामी जन्म के लिए सुरक्षित रखने के लिए मरण-काल में भी अन्न-वस्त्राभूषणों का दान दिया जाता था। इसी प्रकार पति के साथ ही पत्नी के प्राण-त्याग की सूचना भी मिलती है जिससे कि अगले जन्म में वे दोनों पुनः मिल सकें।

उक्त १८वें सूक्त के अन्तिम मन्त्र में विधवा को पति की चिता से उठाने के लिए और नये पति का वरण करने के लिए कहा गया है। यह नया पति उसके पूर्व पति का भाई ही होता था। इससे तत्कालीन विवाह-प्रथा पर प्रकाश पड़ता है।

(iii) *दान स्तुतियाँ*—ये केवल प्रथम एवं दशम मण्डल के तथा अष्टम में बालखिला सूक्तों में पाई जाती हैं।

(iv) *सिद्धान्त सूक्त*—नवम मण्डल के ११२वें सूक्त में चरित्र-सुधार की ओर विशेष झुकाव है। इसमें विभिन्न लोभों के प्रति मनुष्य के अत्यधिक आकर्षण के प्रति मीठी चुटकियाँ ली गई हैं। दशम मण्डल के ११७वें सूक्त में अच्छे कार्य करने के कर्त्तव्य पर विशेष जोर दिया गया है। दशम मण्डल के ७१वें सूक्त में चतुर वाणी की प्रशंसा ११ मन्त्रों में की गई है। एक जगह पर तो बताया गया है कि स्त्रियों से मित्रता करना उचित नहीं क्योंकि उनका हृदय भेड़ियों के समान होता है :—

"न वै स्त्रीणां सख्यानि सन्ति, शालावृकाणां हृदयान्वेता।"

दार्शनिक विचार

एतद्विषयक छः या सात सूक्त हैं। विश्व की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन ऋषियों का मत है कि सामान्य देवताओं ने या व्यक्तिगत देव-

ताओं ने यह विश्व बनाया किन्तु इस विचार से उस मत में बाधा पड़ती है जहाँ कि देवताओं को द्यावापृथ्वी का पुत्र बतलाया गया है। इस विरोधी वचन का समाधान वे ऋषि यह कहकर करते हैं कि पुत्र अपने जनक को पैदा करता है। उदाहरण के लिए दशम मण्डल के ५४वें सूक्त के तीसरे मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि इन्द्र ने अपने शरीर से ही अपने माता-पिता को जन्म दिया। दशम मण्डल के ७२वें सूक्त के चौथे मन्त्र में तो इसका जन्म अदिति से और अदिति का जन्म दक्ष से बतलाया गया है।

सृष्ट्युत्पत्ति सूक्त—वैदिक धर्म की विचार-परम्परा एक स्वतन्त्र सृष्टिकर्ता का स्वीकार करती है, जिसका पद सभी अन्य देवताओं से ऊँचा है। उसको सृष्टि-उत्पत्ति सूक्तों में पुरुष, विश्वधर्मन्, हिरण्यगर्भ या प्रजापति आदि विविध नामों से स्मरण किया गया है। पुरुष सूक्त (१०, ६०) में सृष्टि की उत्पत्ति एक महामानव से हुई बतलाई गई है जिसके सहस्र शीष एवं सहस्र पाद थे। यद्यपि एक महामानव से सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना बहुत ही पुरानी है, किन्तु 'ऋग्वेद' में यह कल्पना एक विलक्षणता लिये हुए है। उसके विभिन्न अंगों के शरीर से विलग हो जाने पर ही सृष्टि बनी। उसके शिर से आकाश, नाभि से वायु, पैर से पृथ्वी, मस्तिष्क से चन्द्रमा, आँख से सूर्य और श्वास से हवा बनी। इस सूक्त की एक विशेषता सर्वेश्वरवाद (Pantheism) है। इसके अनुसार इस विश्व में जो कुछ भी है या होगा वह सभी ईश्वर है। इस सूक्त की अन्य विशेषताएँ ये हैं:—

(i) यह सूक्त बाद में जोड़ा हुआ प्रतीत होता है क्योंकि इसमें वेदत्रयी का स्पष्ट उल्लेख है।

(ii) यह सर्वेश्वरवाद सम्बन्धी साहित्य का सबसे पुराना सूक्त है।

(iii) 'ऋग्वेद' में सबसे पहले इसी सूक्त में चार वर्णों का विधान बतलाया गया है। कहते हैं कि पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य एवं पैरों से शूद्र बने।

अन्य सृष्ट्युत्पत्ति सूक्तों में भी सृष्ट-कर्ता संयुक्त देवता-समूह नहीं, किन्तु केवल एक आदि देवता है। 'ऋग्वेद' के (१, ११५, १) तथा (१, १६४, ४६) से पता चलता है कि सूर्य ही सृष्टि का कर्ता है। दशम मण्डल के ८२वे सूक्त में 'जल' को ही विश्व तथा देवों का उत्पन्नकर्ता माना गया है। इसी मण्डल के १८१वें सूक्त में हिरण्यगर्भ को सृष्टिकर्ता बतलाया गया है। हिरण्यगर्भ से अभिप्राय शायद निकलते हुए स्वर्णिम सूर्य से है। प्रत्येक ऋचा के अन्तिम चरण में प्रश्न किया गया है कि—"वह देवता कौन है ?" १०वें मन्त्र के अन्तिम चरण में इसका उत्तर दे दिया गया है कि—"प्रजापति है।" किन्तु सम्भवतः यह मन्त्र 'ऋग्वेद' में बाद में प्रक्षेपित किया गया होगा।

(१०, १२) और (१०, १२६) ये दो अन्य सृष्ट्युत्पत्ति सूक्त हैं जिनमें दार्शनिक रूप से सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है। इनके अनुसार असत् (non-existant) व सत् (existant) की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वैदिक युग

'ऋग्वेद' में दो प्रकार की ऋचाएँ पाई जाती हैं। एक तो धार्मिक विचारों से पूर्ण हैं दूसरी उनसे भिन्न हैं। जिस पूर्णता के साथ धार्मिक विचारों का प्रदर्शन 'ऋग्वेद' में किया गया है वह अनुपम है। धर्मनिरपेक्ष (Secular) सूक्त यद्यपि कम हैं तथापि उनसे ही तत्कालीन सामाजिक दशा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

आर्यों का नदी ज्ञान—ऋग्वैदिक ऋचाओं में कुछ भूगोलिक वर्णन भी मिलते हैं, जिनसे कि आर्यों का निवास-स्थान निश्चित रूप से मालूम पड़ता है। जब आर्य लोग भारत में आये होंगे तो उन्होंने उत्तर-पश्चिम भारत पर निवास किया होगा। जिसे आज हम पञ्जाब (Land of five rivers) कहते हैं। 'ऋग्वेद' में इस स्थल पर लगभग २५ जल-धाराओं के नाम मिलते हैं। दो या तीन को छोड़कर शेष सभी सिन्धु नदी से मिल जाती हैं। मुख्य नदियाँ ये हैं—वितस्ता (झेलम), असीक्नी (चनाब), परुष्णि या इरावती (रावी), विपाशा (व्यास) व शतद्रु (सतलज)।

कुछ आर्य जातियाँ सिन्धु के सहारे सुदूर उत्तर में ही बस गईं। अधिकांश आर्य-निवास इन सहायक नदियों के ही किनारे हुआ। कुया (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रुमु (कुरम) तथा गोमती (झेलम) आदि। 'ऋग्वेद' में सिन्धु और सरस्वती नदियों के नाम बार-बार आते हैं। सिन्ध की प्रशंसा में तो पूरा-का-पूरा दशम मण्डल का ७५वाँ सूक्त बना डाला गया। इसी सूक्त की दो ऋचाओं में इसकी अठारह सहायक नदियों की प्रशंसा भी की गई है। कवि ने सिन्ध को गति एवं जल की मात्रा में सब नदियों से बढ़ कर बतलाया है। दूसरी सहायक नदियाँ इसकी ओर ठीक उसी प्रकार बहती हैं जैसे की रँभाती हुई गायें अपने बछड़े की ओर। तुमुल ध्वनि करती हुई सिन्ध नदी एक डकारते हुए साँड की तरह अग्रसर होती है।

'ऋग्वेद' में प्रायः सप्त सिन्धु का नाम आता है। यदि इसे संख्या-वाची माना जाय तो सात नदियाँ इस प्रकार हैं —काबुल, सिन्ध तथा पञ्जाब की पाँच नदियाँ। बाद में सरस्वती की अत्यधिक मान्यता के कारण काबुल के स्थान पर सरस्वती की ही गणना की जाती रही होगी। "सरस्वती का अस्तित्व एक विवादपूर्ण प्रश्न है। Roth आदि कुछ प्रमुख विद्वान् यह मानते हैं कि यह तो सिन्ध नदी का ही एक नाम है जो कि उसकी पवित्रता का द्योतक है किन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि सरस्वती एक स्वतन्त्र नदी का नाम है जो कि सतलज तथा जमुना के बीच में थी, तथा दृशद्वती के साथ मिलकर ब्रह्मावर्त की पूर्वी सीमा बनाती थी। यह नदी आजकल धार के मरुस्थल में लुप्त हो जाती है। यह बात भी असम्भव नहीं प्रतीत होती कि आर्यों के उस काल में यह समुद्र से जाकर मिलती रही तो इसका आकार भी बड़ा रहा होगा ?

'ऋग्वेद' के एक मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह सरस्वती और दृशद्वती (घाघरा) के किनारों पर प्रज्वलित होवे। इससे स्पष्ट है कि उस काल में सिन्ध, उसकी सहायक नदियाँ तथा सरस्वती और घाघरा के तट-प्रदेश याज्ञिक कर्म सम्पादन करने तथा वेद-रचना करने के लिए पवित्र माने जाते थे।

'ऋग्वेद'-काल के अन्तिम प्रहर में आर्य जातियाँ सिन्ध प्रदेश से बढ़कर गंगा-यमुना प्रदेश तक आ चुकीं थीं। क्योंकि 'ऋग्वेद' के अंतिम भाग में यमुना का तीन बार और यमुना का एक बार नाम आया है।

ऋग्वेद में समुद्र का वर्णन नहीं—'ऋग्वेद' की ऋचाओं के रचना-काल में आर्यों का दक्षिण की ओर निगमन नहीं हुआ था। अस्तु, वे लोग समुद्र से अपरिचित थे। केवल नाम मात्र सुन रखा था। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि समुद्र से सम्बन्धित रूपक और उपमाएँ 'ऋग्वेद' में नहीं मिलतीं। यहाँ तक कि मत्स्य शब्द का प्रयोग भी केवल एक बार ही हुआ है। 'ऋग्वेद' में समुद्र शब्द भी मिलता है, किन्तु वह 'सागर' वाची नहीं है। उसका अर्थ केवल व्युत्पत्तिमूलक 'जल का समुदाय' ही है। समुद्र शब्द सिन्धु के उस निचले भाग के लिए आया है, जहाँ कि वह इतनी चौड़ी हो गई है कि मध्य धारा में स्थित नाव किनारे से नहीं दीख पड़ती। जहाँ कहीं भी नौका-विहार (Navigation) का प्रसंग आता है, सदा ही नदी को पार करना ही बतलाया गया है। समुद्र को पार करने का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता।

पर्वत वर्णन—'ऋग्वेद' में 'हिम वन्तः' शब्द मिलता है। इससे स्पष्ट है कि आर्य लोग हिमालय पर्वत से परिचित थे। आर्य विचार-परम्परा के अनुसार प्रजापति ही इसकी रक्षा करते थे। पर्वत के विषय में जानने पर भी उन्हें 'मूँजवत्' के अतिरिक्त और किसी दूसरी पर्वत-चोटी का पता भी न था। वे मूँजवत् चोटी को सोम का निवास-स्थान मानते हैं। यह चोटी काबुल घाटी के पास के किसी पहाड़ की है।

आर्यों को विन्ध्याचल के विषय में कुछ भी नहीं मालूम था। न ही नर्मदा नदी का कहीं उल्लेख है।

ऋषियों का निवास स्थान व भौगोलिक परिचय

आर्यों के नदी-ज्ञान व पर्वत-ज्ञान से स्पष्ट है कि वे लोग उत्तर-पश्चिम भारत के प्रदेश में बसे हुए थे। इस प्रदेश में पञ्जाब और काबुल सम्मिलित थे। यह ऐसा प्रदेश है जहाँ कि रावलपिंडी को छोड़-

कर अन्य स्थानों में पहाड़ों के दर्शन नहीं होते और इसीलिए वहाँ अच्छी वर्षा नहीं होती। केवल बरसात में कुछ पानी की बौछारें आकर रह जाती हैं किन्तु यहाँ प्रातः-सायं नभोमण्डल की सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है।

इसी आधार पर प्रो० होप्किन्स ने बतलाया कि वरुण, उषस् आदि पुराने सूक्त पंजाब में ही बनाये गए। किन्तु शेष सभी सूक्त सरस्वती के पावन तट पर प्रणीत हुए। इस मत में कुछ सम्भावना तो है ही, हमें यह कदापि अभिमत नहीं कि उस समय से आजकल पंजाब की जलवायु पूर्णतः बदल गई है। 'ऋग्वेद' के अनुसार दैनिक याज्ञिक कर्मों में सोम की अत्यन्त आवश्यकता होती थी। सोमवल्ली पर्वतों पर उगती थी, वह सुप्राप्य थी। किन्तु ब्राह्मण काल में उल्लेख मिलता है कि सोम दुष्प्राप्य लता थी। उसे बड़ी दूर से लाया जाता था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण काल में आर्य जातियाँ पंजाब से पूर्व की ओर हट आई थीं, तभी तो कहा गया है कि सोम बड़ी दूरी से लाया जाता था। उस समय सम्भवतः आर्यों का निवास-केन्द्र गंगा-यमुना का मैदान रहा हो।

'ऋग्वेद' में चावल का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए स्पष्ट है कि उस समय आर्य लोग भारत के दक्षिण-पूर्वी कोने तक न आ पाये थे। जहाँ कि नियमित रूप से मानसून द्वारा वर्षा होती है और फलतः चावल अधिकता से पैदा होता है।

वृक्ष ज्ञान—'ऋग्वेद' में कई बड़े-बड़े वृक्षों का नामोल्लेख मिलता है। उसमें अश्वत्थ सर्वप्रमुख है। इसका दूसरा नाम पिप्पल है, इसका फल मीठा होता है तथा चिड़ियों का भोजन है। इससे सम्भावना की जा सकती है कि यह अंजीर का पेड़ है, किन्तु भारतवासी इसे पीपल का पेड़ ही मानते हैं। 'ऋग्वेद' में यह वृक्ष बड़ा पवित्र माना गया है। क्योंकि इसकी लकड़ी से सोमरस रखने के लिए पात्र बनाये जाते थे। अथर्ववेदादि बाद के वेदों में तथा आजकल भी इसकी पवित्रता अक्षुण्ण है।

किन्तु ध्यान रहे कि 'ऋग्वेद' में न्यग्रोध (बरगद) वृक्ष का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है जो कि भारत का एक विशेष वृक्ष है। इसका महत्त्व भारतीयों के लिए पीपल से भी अधिक है। 'ऋग्वेद' में ही क्या 'अथर्व वेद' में भी केवल दो बार ही इसका नाम आता है।

पशु ज्ञान

वन्य पशु—'ऋग्वेद' के कवि जंगली पशुओं में सबसे अधिक सिंह से परिचित थे। उसका निवास-स्थान पहाड़ी प्रदेशों के जंगल बतलाये जाते हैं तथा यह भी बतलाया जाता है कि उसे जाल में फँसाकर पकड़ते थे। सिंह की गर्जन-ध्वनि ने वैदिक कवि का ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया है।

चीते का स्वभावानुकूल स्थान बंगाल के दल-दली जंगल (सुन्दर वन) माने जाते हैं, किन्तु 'ऋग्वेद' में एक स्थान पर भी उसका नाम नहीं आता। बाद के वेदों में अवश्य ही चीते ने सिंह का स्थान पा लिया था।

'ऋग्वेद' हाथी से कुछ अधिक परिचित है। दो स्थलों में उसका नाम आया है। उसे एक 'मृग' कहा गया है जो कि हस्तिन् (हाथ वाला अर्थात् सूँड़ वाला) है। धीरे-धीरे यह पशु इतना प्रचलित होता गया कि हस्तिन् शब्द ही हाथी का वाची हो गया। 'ऋग्वेद' में एक स्थल ऐसा भी है जिससे पता चलता है कि 'ऋग्वेद' के काल के अन्तिम प्रहर में हाथी को फँसाकर पकड़ने का काम भी चल पड़ा था। हाथी स्वभावतः हिमालय की उस तराई भूमि में पाया जाता है जो कि कानपुर की देशान्तर रेखा से पूर्व की ओर फैली हुई है।

'वृक' (भेड़िया) का नाम सिंह से भी अधिक बार आया है। कई स्थानों पर वराह (सुअर) का भी उल्लेख है, जिसका कि कुत्तों की सहायता से शिकार करते थे। महिष (भैंस) पालतू तथा जंगली अवस्था दोनों में पाया जाता है। ऋक्ष (रीछ) का नाम केवल एक बार आया है। इसी प्रकार दशम मण्डल के ८६ वें सूक्त में ही केवल कपि (बन्दर) का उल्लेख है, जिसका कि पालतू पशु के रूप में चित्रण किया गया है।

पालतू पशु—गाय का स्थान सर्वोपरि था। उसे धन-तुल्य समझा जाता था। यज्ञोपरान्त दक्षिणा-रूप में गाय दी जाती थी। 'ऋग्वेद' की ऋचाओं से पता चलता है कि सायंकाल गायों के लौट आने पर रात-भर के लिए उन्हें एक कोठे में बन्द कर दिया जाता था, तथा प्रातः उन्हें पुनः जंगल में जाने के लिए खोल दिया जाता था। गाय का जंगल से लौटकर अपने बछड़े को बार-बार चाटना, तथा अपने बछड़े के प्रति उत्कण्ठा से उसका रँभाना आदि ने 'ऋग्वेद' के कवि का ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया। 'शुक्ल यजुर्वेद' में तो गौ की हत्या करने वाले के लिए दण्ड-विधान की योजना है, किन्तु 'ऋग्वेद' में ऐसा कुछ भी नहीं है। विवाह-सूक्तों से पता चलता है कि गाय का वध भी होता था। इन्द्र को सन्तुष्ट करने के लिए बहुत से बैलों का भी वध होता था। दिन में जब कि गायें जंगल में चरा करती थीं, उस समय बैलों से हल जोतने तथा गाड़ी खींचने का काम लिया जाता था।

दूसरा स्थान अश्व का है। युद्धप्रिय आर्य जातियाँ इसका उपयोग रथ खींचने में करती थीं। रथों की दौड़ भी होती थी, जिसमें कि घोड़े को ही जोता जाता था। 'अश्वमेध' एक महत्त्वपूर्ण यज्ञ माना जाता था, जिसमें कि घोड़े की बलि चढ़ाई जाती थी।

इसके अतिरिक्त भेड़ें, बकरियाँ, गधे और कुत्ते भी पाले जाते थे। कुत्तों से शिकार, पशुओं को घेरकर लाना, रात में रखवाली करना आदि का काम लिया जाता था।

पक्षी-वर्णन

'ऋग्वेद' में हंस का नाम प्रायः लिया जाता है। उसका पानी में तैरना तथा अन्य हंसों के साथ पंक्तिबद्ध होकर आकाश में उड़ना बतलाया गया है। उसमें एक विशेष गुण यह है कि वह जल तथा सोम को अलग-अलग कर देता है।

चक्रवाक का नाम एक बार आया है जहाँ कि प्रातःकाल चक्रवाक-मिथुन की तरह अश्विनी कुमार आये थे। 'ऋग्वेद' में मयूरी को विष

दूर करने वाली बतलाया गया है। इसी प्रकार पीत वर्ण 'शुक' (तोतों) का भी उल्लेख है।

खनिज-पदार्थ-ज्ञान

यद्यपि पंजाब में सिन्ध और झेलम नदियों के बीच में नमक का पहाड़ है तथा 'ऋग्वेद' में कहीं भी नमक का उल्लेख नहीं मिलता। स्वर्ण से 'ऋग्वेद' के कवि सम्यक् परिचित थे। उत्तर-पश्चिम की नदियों में स्वर्ण के कण पाये जाते होंगे। इसीलिए तो सिन्धु नदी को स्वर्णिम या सोने की सतह वाली कहा गया है। यह भी उल्लेख मिलता है कि राजाओं के पास अत्यधिक मात्रा में सोना होता था।

स्वर्ण के बाद अयस् का नाम आता है। कुछ स्थलों पर तो यह धातु मात्र के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। किन्तु कुछ स्थलों पर यह बतलाना कठिन हो जाता है कि इसका प्रयोग ताँबे के लिए किया गया है या लोहे के लिए। ऐतिहासिक दृष्टि से तो लोहे के पहले से ही ताँबे का प्रयोग होता चला आ रहा है, 'ऋग्वेद' में भी इसका रंग कुछ लाल बतलाया गया है, किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि ऋग्वेद-कालीन आर्यों को लोहे का पता नहीं था।

लोहा और चांदी सम्मिलित रूप से पाये जाते हैं। किन्तु आश्चर्य है कि चाँदी का उल्लेख 'ऋग्वेद' में कहीं भी नहीं मिलता।

भारत के आदिवासी (Aborigines)

आर्यों को यहाँ के आदिवासियों के साथ सतत संघर्ष करना पड़ा। यह बात उन स्थलों से स्पष्ट हो जाती है जहाँ कि लिखा है इन्द्र ने अपने आश्रितों (अर्थात् आर्यों) के लिए १००० दस्युओं को बन्दी बना लिया था, ३००० दस्युओं को मार डाला था······आदि। आर्य लोग यहाँ के आदिवासियों को दस्यु, दास या अनार्य कहा करते थे। इन दो जातियों में वर्ण-भेद था। आर्य श्वेत वर्ण थे, अनार्य कृष्ण वर्ण। इसी वर्ण-भेद (रंग-भेद) के कारण, वर्ग-भेद (जाति-भेद) चल पड़ा। विजित जातियों में से जो लोग भाग खड़े हुए उन्हें दस्यु और जो पकड़े

गये उन्हें दास कहा जाने लगा। इन्हीं दासों से आर्यों का चौथा वर्ण शूद्र बना। 'ऋग्वेद' के यजमान् द्वारा पुरोहित को १०० गधे, १०० भेड़ें और १०० दास दान-रूप में मिलने का उल्लेख मिलता है। उक्त दस्युओं को यज्ञ न करने वाला, ईश्वर में विश्वास न करने वाला और अपवित्र बतलाया गया है। उनका जीवन एक ग्रामीण जीवन था। वे पशुपालन करते थे तथा सुरक्षित स्थानों में रहते थे जिन्हें कि पुर कहा जाता था। यह उल्लेख मिलता है कि इन्द्र ने अपने आश्रितों के हितार्थ दस्युओं के १०० पुरों का विनाश किया।

आर्य जातियाँ

'ऋग्वेद' में प्रायः उल्लेख मिलता है कि आर्य लोग मुख्यतः पाँच जातियों में विभक्त थे—पुरु, तुर्वस्त्र, यदु, अनु और द्रुह्यु। ये जातियाँ परस्पर लड़ा करती थीं। उनमें से चार ने कुछ अन्य जातियों से मिलकर एक संघ बनाया और दस राजाओं की अध्यक्षता में त्रित्सु लोगों के राजा सुदास से परुष्णि नदी के किनारे युद्ध हुआ तथा इस नदी के कारण उन राजाओं की भारी क्षति हुई।

पुरु लोग सरस्वती के दोनों किनारों पर रहते थे। कुछ लोग पश्चिम में भी अवश्य ही छूट गये होंगे क्योंकि सिकन्दर के आक्रमण के समय परुष्णी नदी के किनारे कुछ पुरु जाति के लोगों का होना बताया जाता है। 'ऋग्वेद' में पुरु जाति के राजा त्रसदस्यु का नाम आता है जो कि परुकुत्स का पुत्र था। उसका उत्तराधिकारी महाबली त्रिक्षि हुआ। तुर्वस्त्र जाति का उल्लेख कई बार आया है। तुर्वस्त्र और यदुवंश के लोगों में मित्रता थी। यादवों के साथ ही कण्व ऋषियों का परिवार रहता था। अनु जाति के लोग परुष्णी नदी के किनारे रहते थे और भृगु ऋषियों का परिवार भी उन्हीं के साथ रहता था। इन लोगों का द्रुह्यु जाति के लोगों से साथ था।

मत्स्य और मरल वंश के लोग भी त्रित्सु वंश के शत्रु थे। तृतीय मण्डल के ३३वें सूक्त से पता चलता है कि भरत वंश के लोग सुदास

से युद्ध करने के लिए विश्वामित्र के साथ विपाशा और शतुद्रु नदियों के किनारे आये। उसी मण्डल के ५३वें सूक्त से पता चलता है कि विश्वामित्र पहले सुदास के पुरोहित रह चुके थे। विश्वामित्र ने अपने मन्त्रों के बल से भरतवंशी सेनाओं को उक्त नदियों के पार करा दिया। किन्तु सप्तम मण्डल के ३३ वें सूक्त से स्पष्ट है कि इस युद्ध में भरत-वंशियों की पराजय हुई क्योंकि सुदास को वसिष्ठ की सहायता प्राप्त थी। त्रित्सु जाति सम्भवतः परुष्णी नदी के पूर्व में रहती थी। जब सुदास का उक्त दस राजाओं से युद्ध हुआ तो सुदास की सहायता अन्य पाँच जातियों ने भी की जिनमें कि सृञ्जय जाति प्रमुख थी।

'ऋग्वेद' में कुछ ऐसी जातियों का भी उल्लेख है जिनका नाम मात्र मिलता है यथा—उशीनर, चेदि, क्रिवि आदि। उशीनर, सृञ्जय, मत्स्य एवं चेदि जातियाँ महाकाव्य काल तक बनी रहीं। अन्य जातियों ने मिलकर नई जातियों को जन्म दिया। यथा 'भरत' और 'पुरु' जातियों ने मिलकर कुरु जाति बनाई। इसी प्रकार सम्भवतः क्रिवि, तुर्वश और यदु आदि पाँच जातियों ने मिलकर पञ्चाल जाति को जन्म दिया। यह ध्यान देने की बात है कि 'ऋग्वेद' में इक्ष्वाकु नाम के एक महाबली राजा का भी वर्णन आता है।

वैदिक आर्य जातियाँ पिता प्रधान थीं, इसलिए उस समय राजतन्त्र (Monarchy) की ही प्रधानता थी। पुरु एवं त्रित्सु वंश में क्रम से एक ही परिवार के कई सदस्य राजा होते गये। किन्तु कभी-कभी राजा का चुनाव भी होता था। किन्तु इसका कहीं उल्लेख नहीं कि राजा किसी राजवंश से हो या फिर किसी उच्च कुल से चुना जाता था। राजा को उस समय सर्वाधिकार नहीं प्राप्त था। वह प्रजा की इच्छा से संयमित रहता था। युद्ध के अवसर पर अवश्य ही उसका सम्पूर्ण राज्य पर एका-धिकार हो जाता था।

पुरोहित-प्रथा का प्रचलन

प्रत्येक आर्य जाति में एक पुरोहित रखने की प्रथा चल पड़ी। पुरोहित राजा का गुण-गान भी करता था और उससे यज्ञ आदि धार्मिक

कर्मों का सम्पादन भी कराता था। पुरोहित द्वारा की गई दान-स्तुतियाँ प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण होती थीं। फिर भी यह तो निश्चित ही है कि उस समय राजा लोग अपने प्रधान पुरोहितों को स्वर्ण, गो, अश्व, रथ, आभूषणादि दान-स्वरूप दिया करते थे। सप्तम मण्डल के ३३ वें सूक्त में बतलाया गया है कि वसिष्ठ ऋषि सुदास के पुरोहित थे। उन्होंने उक्त सूक्त में लिखा है कि उन्हीं की प्रार्थनाओं के बल से ही सुदास की विजय हुई। आगे चलकर पुरोहित का रखना और उसे अधिक-से-अधिक दान देना एक प्रथा बन गई। ब्राह्मण काल में तो प्रत्येक धार्मिक कर्म में पुरोहितों की दक्षिणा भी नियत कर दी गई। इतना ही नहीं वरन् पुरोहित का पद भी उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त किया जाने लगा। इस पुरोहित-प्रथा के कारण ही वर्ण-विभाजन प्रारम्भ हुआ।

आर्य जातियों का वर्ण-विभाग

पहले तो प्रत्येक आदमी प्रत्येक काम करता था, किन्तु जब आर्य लोग पूर्व की ओर बढ़े, तो उनका निवास-क्षेत्र बड़ा विस्तृत हो गया। आर्य जातियों में परस्पर युद्ध तो हुआ ही करते थे, कभी-कभी यहाँ के आदिम वासी भी विद्रोह कर बैठते थे। अस्तु, एक ऐसे जन-समुदाय की आवश्यकता थी जो कि केवल प्रतिरक्षा का काम ही करे। इस प्रकार रक्षण-कार्य भी जब उत्तराधिकार में सौंपा जाने लगा, तब तो एक जाति ही बन गई। इसका नाम 'क्षत्रिय' रखा गया।

युद्ध में विजय तथा विद्रोह-शमन में पराक्रम के साथ ही तन्त्र-मन्त्र भी महत्त्वपूर्ण समझा गया। मन्त्रों के यथार्थ उच्चारण से ही हित होता था। अशुद्धोच्चारण से प्रायः अहित हो जाता था। अस्तु, कुछ लोग केवल इसी काम में नियुक्त किये गए। पठन-पाठन तथा यज्ञादि सम्पादन-कार्य उन्हें सौंपे गए। इस प्रकार ब्राह्मणों की अलग जाति बन गई। शेष लोग अपने को सुरक्षित समझकर कृषि, उद्योग और व्यापारादि करने लगे। इनसे ही वैश्य जाति बनी। विजित दस्युओं से किस प्रकार शूद्र जाति बनी इसका वर्णन पीछे कर चुके हैं।

'ऋग्वेद' के केवल दशम मण्डल के ९०वें सूक्त में उक्त चार वर्णों का नामोल्लेख मिलता है। ध्यान रहे कि जाति-बोधक ब्राह्मण शब्द 'ऋग्वेद' में केवल आठ बार ही मिलता है जब कि किसी ऋषि या पुरोहित के लिए इसका प्रयोग ४६ बार हुआ है। इससे स्पष्ट है कि यह वर्ण-व्यवस्था उस समय नई-नई ही थी। इसका अधिक प्रचलन न हो पाया था।

सामाजिक दशा

परिवार में पिता ही 'गृहपति' अर्थात् घर का मालिक होता था। एक प्रेमी यदि अपनी प्रेमिका से विवाह करना चाहता था तो उसे अपने किसी मित्रादि को दूत बनाकर लड़की के पिता के पास उसकी सम्मति लेने के लिए भेजना पड़ता था। विवाह लड़की के पिता के घर में ही होता था जहाँ कि वर, उसके सम्बन्धी और मित्रादि बरात लेकर आते थे। यहाँ पर गोमांस से बरातियों का स्वागत होता था। वर-वधू अग्नि की परिक्रमा करते थे। विवाह-विधि पूरी हो जाने पर सुसज्जित वधू अपने पति के साथ दो बैलों द्वारा खींचे जाने वाले एक सजे-सजाये रथ पर बैठकर पति-गृह को आती थी। ३००० वर्ष पुरानी यह विवाह-प्रथा आज भी भारत में प्रचलित है।

बच्चों की ही तरह पत्नी भी अपने पति के आश्रित थी। किन्तु ब्राह्मण काल की अपेक्षा उसका पद विशेष महत्त्व का था। वह पति के साथ याज्ञिक कर्मों में भाग लेती थी। वह घर के नौकर-नौकरानियों पर ही शासन नहीं करती थी किन्तु अपने पति के अविवाहित भाई एवं बहनों अर्थात् अपने देवरों और देवरानियों पर भी नियन्त्रण रखती थी। वह 'गृह-पत्नी' थी।

वैसे तो उचित आयु के होने पर लड़के-लड़कियों की शादी कर दी जाती थी किन्तु 'ऋग्वेद' में कई जगह ऐसी लड़कियों का उल्लेख भी है जिन्होंने विवाह नहीं किया और अपने पिता के घर में रहते-रहते ही बुड्ढी भी हो गईं।

पुत्र-जन्म शुभ माना जाता था। इसीलिए लोग अपने देवताओं से

भूमि, पशु, अन्न, धन आदि के साथ ही पुत्र-प्राप्ति की याचना भी करत थे। कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता कि किसी ने कभी पुत्री के जन्म के लिए प्रार्थना की हो। पुत्री का जन्म एक संकट या अभिशाप समझा जाता था। यही धारणा आज तक भारतवासियों में अक्षुण्ण बनी है।

आर्यों का नैतिक स्तर

उस समय भ्रष्टाचार तथा स्त्री-अपहरण (Abduction & Rape) बहुत बड़े अपराध माने जाते थे। अवैध पुत्र-जन्म (illegitimate birth) को बड़े प्रयत्नों से छिपाया जाता था। इससे स्पष्ट है कि उस समय के लोगों का नैतिक स्तर ऊँचा था। 'ऋग्वेद'-काल के भी पूर्व बुड्ढे मनुष्यों को यों ही मरने के लिए छोड़ दिया जाता था। 'ऋग्वेद' के कुछ स्थल ऐसे हैं जो कि सिद्ध करते हैं कि उस समय भी यह प्रथा प्रचलित थी।

अपराधों में सबसे अधिक प्रचलित डकैती थी। चोर और डाकू रात के अँधेरे में दूसरे के पशुओं को चुरा ले जाते थे। पकड़े जाने पर उन्हें एक खम्भे के सहारे रस्सी से बाँध दिया जाता था, यही उनकी सजा थी।

आर्य जाति की वेश-भूषा

लोग एक ढीला कुर्ता (cloak) और एक अधोवस्त्र पहना करते थे। उनकी रंगाई और उन पर सोने का काम भी होता था। आभूषणों में गले का हार, बाजूबन्द, पैर के कड़े, कर्णाभूषण आदि मुख्य थे। केश-प्रसाधन भी होता था। स्त्रियाँ अपने केशों को कंघे से सुलझाकर बाँधती थीं। किन्तु पुरुष यों ही केशों को संभालकर जूड़ा बना लेते थे। पुरुष दाढ़ी भी रखते थे, किन्तु कभी-कभी क्षौर-कर्म भी होता था। उत्सव आदि पर स्त्री-पुरुष पुष्प-मालाएँ भी पहनते थे।

आर्यों का खान-पान

मुख्य भोजन दूध और घी था। दूध या तो गो-दोहन के बाद कच्चा ही पी लिया जाता था या फिर उसमें अन्नादि डालकर उसे पका लेते थे

और फिर उसे खाते थे । दूध सोम के साथ मिश्रित करके भी सेवन किया जाता था । घी मनुष्यों का भी भोजन था और उस समय के देवताओं का भी । अन्न या तो भूँजकर खाया जाता था या फिर उसे चक्की में पीसकर दूध मिलाकर रोटी बनाकर खाया जाता था ।

विभिन्न तरकारियाँ और फल भी भोजन के अंग थे । मांसाहार केवल विशेष उत्सवों पर ही होता था । अधिकतर गाय या बैल का मांस (beaf) ही खाया जाता था । माँस को या तो भूँजकर खाते थे या फिर धातु या मिट्टी के बर्तनों में पकाकर खाते थे । पीने के बर्तन लकड़ी के ही बने होते थे । मद्य-पान भी होता था । दो प्रकार के मद्य होते थे—

१. सोम—इसका निस्सेचन और पान केवल बड़े-बड़े धार्मिक उत्सवों पर ही होता था क्योंकि पहाड़ों से दूर हट आने के कारण सोमलता उन लोगों के लिए दुष्प्राप्य वस्तु बन गई थी । देतवाओं को भी सोम अर्पित किया जाता था ।

२. सुरा—जिस तरह आजकल चावल, आलू, जौ, महुआ आदि से शराब बनती है उसी प्रकार उस समय भी किसी अनाज से सुरा बनाई जाती थी। द्यूत-क्रीड़ा के साथ सुरा-पान का अभिन्न सम्बन्ध था। किसी कवि ने क्रोध, द्यूत तथा सुरा को सभी अनर्थों की जड़ बतलाया है ।

आर्यों की युद्ध-प्रियता

तत्कालीन आर्य युद्ध-प्रिय थे । वे या तो पैदल लड़ते थे, या रथों पर । रथों में दो आदमी होते थे, एक तो योद्धा और दूसरा सारथी । अश्व-सेना नहीं थी । योधा-गण कवच और शिरस्त्राण उपयोग में लाते थे । धनुष और बाण ही मुख्य अस्त्र थे । बाण की नोकें या तो धातु-निर्मित होतीं थीं या फिर विष में बुझाई जाती थीं । भालों और फर्शों का भी कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है ।

जीविका के साधन और व्यापार

आर्यों की जीविका का प्रमुख साधन 'पशु-पालन' था वे भूमि,

पुत्र व धन के साथ ही पशुओं की वृद्धि भी अपने देवताओं से माँगते थे। अफ़गानिस्तान की ओर से आने पर आर्य लोग कृषि का कुछ ज्ञान भी ले आये थे, अस्तु, ऋग्वेद के काल में पशु-पालन के बाद दूसरा धन्धा 'कृषि' ही था। बैलों से चलाये जाने वाले हलों का प्रयाग खेत जोतने के काम में होता था। जोतने के बाद बीज बोते थे। आर्य लोग सिंचाई भी करते थे। पक जाने पर फ़सल को हँसियों से काटते थे। गट्ठे बनाकर उन्हें खलिहान तक ले जाते थे और उन्हें कूटकर अनाज तथा भूसा अलग कर लेते थे। पशु-पालन और कृषि के अतिरिक्त आर्य लोग 'शिकार' भी करते थे। आखेट में धनुर्बाण का प्रयोग भी होता था और जाल का भी। चिड़ियाँ, शेर, हिरण, सूअर आदि का शिकार किया जाता था।

जल यात्रा केवल नदियों तक ही सीमित थी। पेड़ के तनों को खोखला करके नावें बनाईं जाती थीं। उनमें लंगर, पाल आदि न होते थे। व्यापार विनिमय-पद्धति पर होता था। विनिमय का माध्यम गाय थी। धीरे-धीरे स्वर्णाभूषण और जवाहरात को विनिमय का माध्यम बनाया गया। यद्यपि ऋग्वेद-काल में लोगों की आवश्यकताएँ सीमित थीं और लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लिया करते थे तथापि 'ऋग्वेद' में कुछ उद्योग-धन्धों का भी उल्लेख है। दास कर्मकार रथ बनाते थे जिसमें बड़ी कुशलता की आवश्यकता होती थी। सुनार धातुओं को गलाकर बर्तन बनाते थे। कुछ चर्मकार चमड़े को सींते तथा तैयार करते थे। स्त्रियाँ सीना-बुनना भी जानती थीं। चटाइयाँ आदि बुनकर प्रयोग में लाईं जाती थीं।

मनोविनोद के साधन

कर्मठ एवं युद्ध-प्रिय आर्यों का प्रधान मनोरंजन का साधन रथ की दौड़ था। इसका पता उन रूपकों और उपमाओं से चलता है जो कि इस खेल से अनुप्रेरित की गई हैं। द्यूत-क्रीड़ा भी प्रचलित थी। यह खेल चार पाँसों से खेला जाता था। किन्तु 'ऋग्वेद' में इसका कोई उल्लेख

नहीं मिलता कि यह खेल खेला किस प्रकार जाता था। इस खेल से हमारी जो दुर्दशा होती है उसका मनोरंजक चित्रण अक्ष-सूक्त में देखा जा सकता है। नृत्य भी मनोविनोद का एक प्रधान साधन था। स्त्री-पुरुष दोनों ही नाचते थे। नृत्य खुली हवा में होते थे, यह बात (१०, ७६, ६) से स्पष्ट है। स्त्रियों में अधिकतर कुमारी ही नाचती थीं।

'ऋग्वेद' में कई स्थल ऐसे हैं जो सिद्ध करते हैं कि तत्कालीन आर्य लोग संगीत-प्रेमी थे। दुन्दुभि (ढोल), वाण (बाँसुरी) और वीणा (सितार) आदि वाद्यों का भी प्रयोग होता था। किसी ऋषि का कथन है कि यम लोक में मधुर वंशी की ध्वनि सुनाई पड़ती है। एक सूक्त यह भी बतलाता है कि पितरों के प्रति किये गए यज्ञों के अवसर पर वीणा का वादन होता था। इसके अतिरिक्त गान-विद्या का अभ्यास भी किया जाता था।

इस प्रकार आर्य लोग अपना मनोविनोद करते थे।

●

सप्तम अध्याय

यजुर्वेद

यजुर्वेद का प्रणयन-स्थान

'यजुर्वेद' के काल में वैदिक सभ्यता का केन्द्र सिन्ध घाटी से हटकर गंगा-यमुना के मैदान में पहुँच गया था जहाँ कि कुरु और पञ्चाल वंश के लोग रहते थे। कौरवों के अधिकृत प्रदेश का नाम कुरुक्षेत्र था, जो कि सतलज और यमुना के बीच के मैदान में स्थित था। आज सरहिन्द उसी स्थान पर बसा है। ठीक इसी के पूर्व में पाञ्चालों का प्रदेश था जो कि मेरठ से इलाहाबाद तक व्याप्त था। यह प्रदेश गंगा-यमुना के दोआब में स्थित था। कुरुक्षेत्र में ही ब्राह्मण धर्म और ब्राह्मण समाज की सभ्यता का विकास हुआ। कुरुक्षेत्र, पाञ्चाल, मत्स्य और शूरसेन प्रदेश मिलकर 'ब्रह्मावर्त' कहलाये जहाँ कि बड़े-से-बड़े योद्धा और बड़े-बड़े ऋषि हो गये है।

'यजुर्वेद' अध्वर्यु संज्ञक पुरोहितों की प्रार्थना-पुस्तक है। 'ऋक्' तथा 'साम' से 'यजुः' भिन्न है। इसमें गद्यात्मक मन्त्र भी हैं। कहा भी है-"गद्यात्मको यजुः।" यह भी कहा गया है कि-"अनियताक्षरावसानो यजुः।"

पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' की भूमिका में कहा है कि अध्वर्यु वेद' अर्थात् 'यजुर्वेद' की १०१ शाखाएँ थीं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका कर्मकाण्ड में विशेष महत्त्व रहा होगा। अध्वर्युओं को अलग-अलग याज्ञिक कार्य करने पड़ते थे। इससे सम्भव है कि उनमें शाखागत भेद उत्पन्न हो गया हो और इसी कारण इस वेद की विभिन्न शाखाएँ हो गई हों। आज हमें 'यजुर्वेद' की केवल पाँच शाखाएँ ही उपलब्ध होती हैं।

यजुर्वेद की शाखाएँ

१. *कठ शाखा*—इसकी कपिष्ठल नाम की एक उपशाखा भी थी। कठ शाखा के लोग यूनानी आक्रमण के समय पंजाब में रहते थे। बाद में वे काश्मीर में जा बसे। आज भी वहाँ ही पाये जाते हैं। कपिष्ठल उपशाखा पूर्णतः लुप्त हो चुकी है।

२. *कालाप शाखा*—इसी का नाम मैत्रायणीय शाखा भी है। इस समुदाय के लोग नर्मदा के मुहाने से दक्षिण की ओर करीब १०० मील तक तथा नासिक से बड़ौदा तक के क्षेत्र में फैले हुए थे। आज इस सम्प्रदाय के लोग गुजरात में और विशेष रूप से अहमदाबाद में पाये जाते हैं।

३. *तैत्तिरीय शाखा*—इस सम्प्रदाय के लोग नर्मदा के दक्षिण में पाये जाते थे। आज भी इसकी दो उपशाखाएँ—आपस्तम्ब शाखा और हिरण्यकेशिन् शाखा गोदावरी नदी के आसपास के प्रदेश में पाई जाती है। इसे 'आपस्तम्ब संहिता' भी कहते हैं।

४. *वाजसनेयी शाखा*—इस सम्प्रदाय के लोग गंगा-यमुना के दक्षिण-पूर्व के मैदान में विद्यमान थे। आज वे लोग उत्तर-पूर्वीय और मध्य भारत के बड़े भारी क्षेत्र में फैले हैं।

यजुर्वेद के संस्करण

१. *मैत्रायणी संहिता*—इसमें चार काण्ड हैं। इसका ५४ प्रपाठकों में पुनर्विभाजन किया गया है। Prof. L. V. Schroeder ने इसका सम्पादन किया।

२. *काठक संहिता*—यह कठ सम्प्रदाय वालों का संस्करण है। इसके सम्पादक भी Schrocder साहब ही हैं।

३. *कपिष्ठल-कठ संहिता*—आज यह अपूर्ण रूप में तथा विभिन्न खण्डों में उपलब्ध होती है।

४. *तैत्तिरीय संहिता*—इसमें सात काण्ड हैं। इसका ४४ प्रपाठकों में पुनर्विभाजन किया गया है। यह उक्त सभी संस्करणों से उत्तर काल की है।

५ *वाजसनेयी संहिता*—याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम पर ही इस संहिता का नामकरण हुआ, क्योंकि वे ही इस वेद-शाखा के मुख्य शिक्षक थे। इस संहिता में काण्व और माध्यन्दिन इन दो साम्प्रदायिक शाखाओं का समावेश है।

पहली चार संहिताओं में आपस में गहरा सम्बन्ध है। अतः वे मिलकर एक वर्ग बनाती हैं, जिसे 'कृष्ण यजुर्वेद' की संज्ञा दी गई। पाँचवीं संहिता को 'शुक्ल यजुर्वेद' कहते है। इसीलिए 'यजुर्वेद' को दो भागों में भी बाँटा गया है—(१) कृष्ण यजुर्वेद और (२) शुक्ल यजुर्वेद। 'कृष्ण यजुर्वेद' और 'शुक्ल यजुर्वेद' में मुख्य अन्तर यह है कि 'शुक्ल-यजुर्वेद' की संहिता में केवल मन्त्र हैं। मन्त्र का अभिप्राय उन प्रार्थनाओं और याज्ञिक नियमों से है जिनका उच्चारण पुरोहित यज्ञ के अवसर पर करता है। 'कृष्ण यजुर्वेद' की संहिताओं में मन्त्रों के साथ-साथ याज्ञिक विधियों और उक्त विधियों पर वादविवाद आदि भी सम्मिलित हैं। इस 'वाजसनेयी संहिता' में केवल याज्ञिक कर्मोपयोगी मन्त्र ही हैं। इनके दो संस्करण आज भी मिलते हैं। Prof. Weber ने ही इन दोनों संस्करणों का सम्पादन किया। कुछ विद्वानों का कहना है कि कृष्ण का अर्थ है 'अव्यवस्थित' और शुक्ल का 'सुव्यवस्थित'। 'अव्यवस्थित मन्त्रों को ठीक क्रम से लगाकर एक सुव्यवस्थित संहिता बनाई गई होगी। यही 'वाजसनेयी संहिता' है।

वाजसनेयी संहिता का विशेष विवरण—इसमें चालीस अध्याय हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इनमें से अन्तिम पन्द्रह अध्याय बाद की रचना हैं। कुछ लोग तो अन्तिम बाईस अध्यायों को बाद में रचित बतलाते हैं। पहले पचीस अध्यायों में बड़े-बड़े यज्ञों में प्रयुक्त की जानेवाली प्रार्थनाएँ मिलती हैं। पहले दो अध्यायों में चन्द्रदर्शन और पूर्णमाशी को किये गए यज्ञों में प्रयुक्त प्रार्थनाएँ हैं। तीसरे अध्याय में दैनिक अग्निहोत्र और चातुर्मास्य यज्ञों से सम्बन्धित प्रार्थनाएँ हैं। चौथे से लेकर आठवें अध्याय तक सोम यज्ञ से सम्बन्धित प्रार्थनाएँ हैं। इसमें पशु-यज्ञ की

प्रार्थनाएँ भी सम्मिलित हैं। इन सोम-यागों में कुछ केवल एक दिन में और कुछ कई दिनों में समाप्त होते हैं। एक दिन में समाप्त होने वाले यज्ञों में से 'वाजपेय यज्ञ' भी है। इसे सम्भवतः योद्धा पुरुष ही किया करते होंगे। इसमें रथ-धावन प्रतियोगिता भी होती थी। सोम रस के साथ-साथ सुरा का भी पान होता था। राजाओं से सम्बन्धित एक 'राजसूय यज्ञ' का भी उल्लेख है। इन दो प्रकार के सोमयागों की प्रार्थनाओं का संग्रह ९वें और १०वें अध्याय में है। ११वें अध्याय से लेकर १८वें अध्याय तक की प्रार्थनाएँ मुख्यतः 'अग्नि चयन' उत्सव सम्बन्धी हैं। इसका क्रम वर्ष भर चला करता है। इसके लिए जो अग्नि-वेदिका बनती थी, उसकी संज्ञा भी अग्नि ही दी गई है। १०८०० ईंटों से इस का निर्माण होता है। इसका आकार-प्रकार एक पंख-फैलाये पक्षी की तरह होता है। इस वेदी के सबसे नीचेवाले स्तर पर पाँच याज्ञिक पशुओं के सिर रखे जाते हैं और शेष शरीरों को उसी जलाशय में फेंक देते हैं जिससे कि ईंटों तथा अग्नि-पात्रों के निर्माण-हेतु मिट्टी ली जाती है। ये ईंटें और अग्नि-पात्र बड़े समारोह के साथ पकाये जाते थे। इनके अलग-अलग नाम भी हैं, जिनके कि अपने-अपने लाक्षणिक अर्थ भी हैं।

१९वें, २०वें और २१वें अध्याय में सौत्रायणी उत्सव का प्रयोग विधान है। इसमें भी सोम की जगह सुरा का पान होता था। अश्विनी-कुमारों, सरस्वती और इन्द्र को इसकी आहुति दी जाती थी। पुनः अपना राज्य पाने के इच्छुक निर्वासित राजा, उन्नति के इच्छुक ब्राह्मण, धन की इच्छा वाले वणिक, विजय-कामी योद्धा आदि इस उत्सव का अनुष्ठान करते थे। २२वें अध्याय से लेकर २५वें अध्याय तक 'अश्वमेध-यज्ञ' का विधान और उससे सम्बन्धित मन्त्र आदि मिलते हैं। कोई शक्ति-शाली राजा या चक्रवर्ती आदि ही इसका अनुष्ठान करता था। इस यज्ञ का उद्देश्य 'वाजसनेयी संहिता' के २२वे अध्याय के २२वें मन्त्र में सुन्दर शब्दों में वर्णित है। यहाँ पर ही इस संहिता के पूर्व-रचित भाग की समाप्ति हो जाती है।

२६वें अध्याय से लेकर ३५वें अध्याय तक 'खिल' की कोटि में

रखे गये हैं। वस्तुतः २६वें से लेकर २९वें अध्याय तक के मन्त्र तो इसके पूर्व के अध्यायों के परिशिष्ट मात्र ही हैं। ३०वें अध्याय में कोई प्रार्थना न होने पर भी नवीनता है। इसमें 'पुरुष मेध यज्ञ' में बलि के लिए प्रयुक्त व्यक्तियों की गणना कराई गई है। इस यज्ञ का प्रयोग बड़े विषम देवताओं की तुष्टि के लिए किया जाता था। इसमें १८४ व्यक्तियों की बलि चढ़ाई जाती थी। इनमें पुरोहित वर्ग के लिए एक ब्राह्मण, राजकुल के लिए एक योद्धा, मरुत देवों के लिए एक वैश्य, संन्यासी वर्ग के लिए एक शूद्र, अन्धकार के लिए एक चोर, नरक के लिए एक हत्यारे, पाप के लिए एक हिजड़े, वासना के लिए एक नर्तकी, कोलाहल के लिए एक नायक, नृत्य के लिए एक भाट (बन्दी), गान के लिए एक अभिनेता, मृत्यु के लिए एक शिकारी, द्यूत के लिए एक जुआरी, निद्रा के लिए एक अंध पुरुष, अन्याय के लिए एक बधिर पुरुष, यश के लिए एक धोबिन, कामना के लिए एक रंगरेज स्त्री, यम के लिए एक वन्ध्या स्त्री, उत्सव के आमोद के लिए एक वंशी-वादक, पृथ्वी के लिए एक पंगु, स्वर्ग के लिए एक गंजे पुरुष···आदि की बलि दी जाती थी। इसी प्रकार का ३१वां अध्याय भी है। इसमें 'पुरुष सूक्त' संकलित है। इसमें 'ऋग्वेद' की ही भाँति यह बतलाया गया है कि पुरुष की बलि के द्वारा ही विश्व की उत्पत्ति होती है। पुरुष के साथ विश्व की अभिन्नता को 'उपनिषद्' कह सकते हैं।

३२वें अध्याय को भी इसीलिये उपनिषद् ही कहना उचित है। सृष्टिकर्ता प्रजापति का पुरुष तथा ब्रह्म के साथ अभेद बतलाया गया है। ३४ वें अध्याय के पहले ६ मन्त्र भी उपनिषद् की कोटि में आते हैं। इन्हें शिव-संकल्प की संज्ञा मिली है। ३२वें अध्याय से ३४वें अध्याय तक की प्रार्थनाएँ 'सर्वमेध यज्ञ' में प्रयुक्त होती थीं। यही सबसे बड़ा यज्ञ है। इसमें अपना सब कुछ पुरोहित को यज्ञ की दक्षिणा में देकर जंगल चले जाने और अपना शेष जीवन वहीं बिताने का विधान बतलाया गया है।

३५वें अध्याय में कुछ अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी ऋचाएँ हैं जो कि

'ऋग्वेद' से ली गई हैं। ३६वें से लेकर ३९वें अध्याय में, 'प्रवार्य' उत्सव में प्रयुक्त की जाने वाली प्रार्थनाएँ हैं। इसमें एक कढ़ाई गरम करके लाल कर ली जाती है। यह कढ़ाई सूर्य का बोधक है। इस लाल कढ़ाई में दूध डालते है। इस दूध को अश्विनीकुमारों को भेंट-स्वरूप प्रदान करते हैं। इस उत्सव के अन्त में याज्ञिक पात्रों को इस विधि से रखा जाता है कि मनुष्य की-सी आकृति बन जाती है। दूध के बर्तनों से सिर बनता है। इसके ऊपर बालों के स्थान पर कुशा रख देते हैं। दो छोटे दुग्ध पात्र रखकर कान बनाये जाते हैं। दो छोटे स्वर्ण-पात्रों से नेत्र बनाये जाते है। दो कटोरों को रखकर एड़ियाँ बनाई जाती है। इस आकृति पर जो आटा डाला जाता है वही मज्जा को और दुग्ध-मिश्रित मधु रक्त को प्रदर्शित करता है। ये प्रार्थनाएँ और ये विधान एक रहस्य का उद्बोधन करते हैं। अन्तिम ४०वाँ अध्याय पुनः उपनिषद् है। इसका विशेष उल्लेख आगे उपनिषद् वाले परिच्छेद में किया जावेगा।

इस 'वाजसनेयी संहिता' के अलावा 'शुक्ल यजुर्वेद' में एक शाखा और है जिसे 'काण्व संहिता' कहते हैं।

काण्व संहिता का विशेष वर्णन—इसमें ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक्य और २०८६ मन्त्र हैं। इसका सम्बन्ध 'पञ्चरात्र' आगम के साथ विशेष रूप से है। इस पर सायण ने भाष्य लिखा है। पहले इस का प्रचार उत्तर भारत में था किन्तु आजकल केवल महाराष्ट्र में ही सीमित है।

अब 'कृष्ण यजुर्वेद' की संहिताओं का भी सविस्तार उल्लेख कर देना अनुचित न होगा।

काठक संहिता—पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में यह एक पंक्ति मिलती है—"ग्रामे-ग्रामे कलापकं काठकं च प्रोच्यते" (४, ३, १०१) इससे स्पष्ट है कि इस संहिता का काफ़ी प्रचलन रहा है। इसमें पाँच खण्ड हैं—(i) इठिमिका, (ii) मध्यमिका, (iii) ओरमिका, (iv) याज्यानुवाक्या, (v) अश्वमेधाद्यनुवचन। इन खण्डों के बाद भी क्रमशः स्थानक, अनुवचन

अनुवाक्य तथा मन्त्र—वे विभाग माने जाते हैं। तदनुसार इसमें ४० स्थानक, ११३ अनुवचन, ८४३ अनुवाक्य तथा ३०६१ मन्त्र हैं।

कपिष्ठल-कठ संहिता—पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में 'कपिष्ठले गोत्रे' का प्रयोग करके सूचित किया है कि कपिष्ठल एक ऋषि थे। इससे शास्त्र के प्रमुख आचार्य होने के कारण उनके नाम पर ही इसका नाम चल पड़ा। यह अधूरे रूप में मिलता है। इसके प्रथम अष्टक में आठ अध्याय हैं। द्वितीय व तृतीय अष्टक खण्डित हैं। चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अष्टक के मन्त्र-तन्त्र खण्डित हैं किन्तु शेष सभी अष्टकों में अध्यायों की अनिश्चित संख्या है। यह 'काठक संहिता' से अनेक बातों में पृथक तथा भिन्न है।

मैत्रायणी संहिता—यह गद्य-पद्य रूप में मिलता है। इसमें चार काण्ड हैं। पहले काण्ड में ११, दूसरे में १३, तीसरे में १६ और ४ में १४ प्रपाठक हैं। इसमें अनेक यज्ञों का वर्णन, उनकी विधि और प्रार्थनाएँ आदि हैं। उदाहरण के लिए—चातुर्मास्य, वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय, सौत्रायणी आदि यज्ञ। इसके मन्त्रों की कुल संख्या ३१४४ है। इसमें से १७०१ ऋचाएँ तो 'ऋग्वेद' से ली गई हैं।

तैत्तिरीय संहिता—इसमें ७ काण्ड, ४४ प्रपाठक और ६३१ अनुवाक्य हैं। इसमें भी राजसूय, वाजपेय, याजमान, पौरोडाश आदि यज्ञों का वर्णन है। इस पर सायण की टीका भी मिलती है।

'कृष्ण यजुर्वेद' की इन चारों शाखाओं में बड़ा साम्य है।

'यजुर्वेद संहिता' का कुछ भाग तो पद्य और कुछ गद्य में है। इसके गद्य में भी पद्य का-सा सौन्दर्य मिलता है क्योंकि वे ध्वनियुक्त हैं। इसमें जो पद्य हैं वे अधिकांश 'ऋग्वेद' के हैं जो पद्य 'ऋग्वेद' से लिये गए हैं उन्हें पूरा-पूरा नहीं लिया है किन्तु उसकी कुछ पंक्तियों या कुछ खण्डित रूप में मन्त्रों का इस संहिता में समावेश किया गया है।

सबसे सरल प्रार्थनाएँ वे हैं जिनमें केवल देवता का नाम लेकर आहुति दी जाती है यथा—'इदमग्नये', 'इदमिन्द्राय' आदि। प्रार्थनाएँ बड़ी सरल और मधुर हैं। यथा प्रातःकाल सूर्य ही आलोक है, आलोक

हो सूर्य है। इसी प्रकार सायकाल अग्नि ही आलोक है, आलोक ही अग्नि है। इसी प्रकार के सरल वाक्यों में पवित्र कर्मों के उद्देश्य बतलाये जाते हैं। यथा—एक शाखा से एक टहनी तोड़कर गायों के पास से बछड़ों को हाँकता हुआ पुरोहित कहता है 'यह तुम्हारी रस-वृद्धि के लिए हे', 'यह तुम्हारी शक्ति-वृद्धि के लिए है।' अग्नि में काष्ठ खण्ड डालते हुए कहा जाता है—'हे अग्ने! यह तुम्हारा ही धन है, इसमें तुम बढ़ो और समृद्ध बनो। हम भी इसी प्रकार बढ़ें और समृद्ध बनें।' राज्याभिषेक के समय राजा नीचे भूमि को देखकर कहता है 'अ पृथ्वी! तुम मुझे कष्ट मत देना, मैं भी तुम्हें कष्ट नहीं दूँगा।'

इस संहिता के मन्त्रों में देवता की ही सर्वत्र प्रार्थना नहीं की गई है। कहीं-कहीं याज्ञिक पात्र और याज्ञिक कर्मों को देवताओं के साथ सम्बद्ध किया गया है, यथा—पुरोहित यज्ञकर्ता की पत्नी को एक रस्सी से बाँधता हुआ कहता है 'तुम अदिति के समान एक माता हो।' इसी प्रकार सोम-यज्ञ का कर्ता अपने-आपको रस्सी में बांधता हुआ कहता है 'तुम्हीं अंगिराओं की शक्ति हो, तुम उनके समान कोमल हो, तुम मुझे शक्ति प्रदान करो।' तब वह अपने अधोवस्त्र में एक गाँठ बाँधता है और कहता है, 'तुम्हीं सोम की ग्रन्थि हो।' फिर सिर पर वस्त्र लपेटते हुए कहता है 'तुम्हीं विष्णु की रक्षा हो और यज्ञकर्ता की भी रक्षा हो।' जब पुरोहित किसी यज्ञ-पात्र को हाथ में लेता है तो कहता है 'मैं सविता की प्रेरणा से तुम्हें विष्णु के हाथों से और पूषन् के हाथों से ग्रहण कर रहा हूँ।'

अरणियों के मंथन द्वारा अग्नि पैदा की जाती थी। नीचे का काष्ठ-खण्ड माँ समझा जाता था और घर्ष वाला काष्ठ-खण्ड पिता समझा जाता था। इन दोनों के संघर्षण से पुत्र-रूप में अग्नि का जन्म होता था। इसी प्रकार दूसरी जगह दोनों अरणियों को पुरूरवा और उर्वशी नामक दो प्रेमियों के रूप में बतलाया है। ये दोनों 'आयु' को जन्म देते हैं। नीचे के घर्षण-काष्ठ को पुरोहित यह कहकर लेता है कि 'तुम अग्नि की उत्पत्ति-स्थान हो।' तब वह लघु काष्ठखण्ड को नीचे रखते हुए कहता है कि 'तुम उर्वशी हो' और यह कहकर कि 'तुम पुरूरवा हो' वह

ऊपर वाली घर्षण-यष्टिका को नीचे की घर्षण-यष्टिका पर रख देता है। फिर यह कहता हुआ वह घर्षण-क्रिया का आरम्भ करता है—"मैं तुम्हें गायत्री छन्द से घुमाता हूं, मैं तुम्हें त्रिष्टुप् छन्द से घुमाता हूँ, मैं तुम्हें जगती छन्द से घुमाता हूँ।'

इस प्रकार के महत्त्वहीन मन्त्र 'यजुर्वेद' में भरे पड़े हैं। कहीं-कहीं कुछ लम्बे गद्य में मन्त्र मिलते हैं जिनका कुछ अर्थ अवश्य है।

"ओ अग्नि। तू शरीरों का रक्षक है, मेरे शरीर की रक्षा कर। हे अग्नि! तू जीवन दाता है, मुझे जीवन दे। हे अग्नि! तू शक्तिदायक है, मुझे शक्ति दे। हे अग्नि! मेरे शरीर में जो भी कमियाँ हैं उन्हें भी पूरा कर।" (वाज० ३१७)

हम इन मन्त्रों को अर्थहीन कहते हैं। कारण यह है कि इन मन्त्रों में बहुत सी ऐसी चीजों का सम्बन्ध और मेल दिखलाया गया है जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध होता ही नहीं। यथा एक भोजन का पात्र अग्नि पर इन शब्दों के साथ चढ़ाया जाता है—"तुम आकाश हो, तुम पृथ्वी हो, तुम मातरिश्वन की कढ़ाई हो।" अथवा सोम के साथ खरीदी जाती हुई गाय को उद्देश्य करके पुरोहित कहता है—'तुम विचार हो, तुम दिमाग हो, तुम बुद्धि हो, तुम पुरोहित की दक्षिणा हो, तुम स्वामित्व के योग्य हो, तुम यज्ञ के योग्य हो, तुम दो सिर वाली अदिति हो।" (वाज ४, १६)

एक जगह यज्ञ-पात्रों के लदे यान के जुए, (yoke) को उद्देश्य करके पुरोहित कहता है,—"तुम रथ के जुए हो, पीड़ा पहुँचाने वाले को पीड़ित करो, उसे पीड़ित करो जो हमें पीड़ा देता है, उसे पीड़ित करो जिसे हम पीड़ा देते हैं।" (वाज० १,८)

इस प्रकार के कई उदाहरण में 'मैत्रायणी संहिता' से दिये जा सकते हैं। 'यजुर्वेद' में प्रहेलिकाएँ भी हैं। आध्यात्मिक पहेलियों के अतिरिक्त कुछ साधारण कोटि की प्रहेलिकाएँ भी मिलती हैं। 'यजुर्वेद' में इसका भी उल्लेख है कि किन अवसरों और उत्सवों में पहेली बुझाने का खेल खेला जाता था। 'वाजसनेयी संहिता' के ३३ वें अध्याय में कुछ पहेलियाँ मिलती

हैं, जिनसे कि पुरोहित लोग अश्वमेध यज्ञ में अपना मनोविनोद किया करते थे। इनमें से कुछ तो बच्चों की पहेलियों के समान हैं, कुछ में धार्मिकता, कुछ में गूढ़ता और कुछ में उपनिषदों की दार्शनिकता भरी है। उदाहरणार्थ 'वाजसनेयी संहिता' के ३३ वें अध्याय की ४५ से लेकर ५१ तक की ऋचाओं को देखा जा सकता है।

यजुर्वेद का धर्म

'यजुर्वेद' धार्मिक पक्ष में 'ऋग्वेद' से पृथक् नहीं हुआ। इतना अवश्य हुआ कि देवताओं का स्वरूप कुछ बदल गया था। यथा—'प्रजापति' का महत्व 'ऋग्वेद' में अन्य देवताओं के समक्ष फीका पड़ जाता है किन्तु 'यजुर्वेद में उसका चित्रण एक प्रधान देवता के रूप में हुआ है। 'ऋग्वेद' का रुद्र 'यजुर्वेद' में शिव, शंकर, महादेव आदि कई नामों से पुकारा गया है। 'ऋग्वेद' की अपेक्षा 'यजुर्वेद' में विष्णु का अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। 'असुरों' का प्रयोग 'यजुर्वेद' में केवल राक्षसादि के लिए ही हुआ है न कि 'ऋग्वेद' की तरह 'शक्तिशाली' के लिए। 'ऋग्वेद' में अप्सराओं का स्थान उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि 'यजुर्वेद' में बढ़ा दिया गया है।

'ऋग्वेद' में सूर्य-पूजा का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु 'यजुर्वेद' काल में यह धर्म का एक अंग बन चुकी थी। 'ऋग्वेद' में हमारी पूजा के लक्ष्य देवता थे, जिनके हाथ में हमारा सुख-दुःख निर्भर था। यज्ञादि तो हम उन्हें केवल प्रभावित और प्रसन्न करने के लिए करते थे। किन्तु 'यजुर्वेद' में हमारा लक्ष्य देवताओं से हटकर यज्ञों पर भी आया।

यजुर्वेद में जाति-भेद

धर्म की-सी दशा ही जाति-भेद की भी थी। तत्कालीन आर्य केवल चार वर्णों में बँटे हों, ऐसा ही न था, अपितु 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'वाजसनेयी संहिता' में तो अन्य बहुत सी मिश्रित जातियों का भी उल्लेख है। इन सबमें ब्राह्मणों का स्थान सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से सर्वोच्च था। ब्राह्मणों का यह प्रभुत्व लगभग २०५० वर्षों तक निरन्तर चलता रहा। इस प्रकार 'यजुर्वेद' की सामाजिक स्थिति भी 'ऋग्वेद' की सामाजिक स्थिति से भिन्न थी।

यजुर्वेद में विविध विधान

'यजुर्वेद' में देवताओं को प्रसन्न करने का एक विचित्र विधान है। इसके अनुसार देवताओं के यथासम्भव अधिक-से-अधिक नाम गिना दिये जाते थे। फिर एक-एक नाम लेकर आहुति दी जाती थी। 'वाजसनेयी संहिता' के १६ वें अध्याय का 'शतरुद्रीय' इसी का उदाहरण है। इसी प्रकार शिव के सहस्र नाम गिनाने वाला एक सूक्त 'तैत्तिरीय संहिता' के चतुर्थ अध्याय में भी है। इसी के आधार पर बाद में 'विष्णु सहस्र नाम', 'शिव सहस्रनाम,' 'सूर्य सहस्र नाम' आदि का प्रचलन चल पड़ा।

'यजुर्वेद' में एक अन्य प्रकार की प्रार्थनाएँ भी दिखलाई पड़ती हैं। आगे चलकर इससे हमारे साहित्य को बड़ी हानि हुई। इसे एकाक्षर की रचना कहा करते हैं। इनका कोई अर्थ नहीं होता और यदि कभी होता भी रहा होगा तो आज तो यह अर्थ विलुप्त हो चुका है। इनका उच्चारण कुछ यज्ञों में बड़ी पवित्र भावना से किया जाता था। सबसे पहले 'स्वाहा' को लीजिये। इससे प्रत्येक देवता के लिए आहुति डाली जाती है किन्तु इसका अर्थ क्या है? स्वधा भी इसी प्रकार का शब्द है। वैसे तो इसका भी कोई अर्थ नहीं होता, फिर भी पितरों को दी गई बलि या आहुति आदि के लिए इसका प्रयोग होता है। इसी प्रकार वषट्, वेट्, वाट् आदि का अर्थ भी शब्दकोषों में नहीं मिलता। 'ओ३म्' शब्द की पवित्रता और गूढ़ता अक्षुण्ण है। उपनिषदों में इसका ब्रह्म से एकत्व मिलता है। 'कठोपनिषद्' (१, १६) में इसके विषय में कहा गया है—"यह अक्षर वस्तुतः ब्रह्म ही है। यह सर्वोत्तम है। जो इसे जानता है उसकी सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।"

कुछ शताब्दियों के बाद इस प्रकार के गूढ़ अक्षरों का प्रयोग इतना बढ़ा कि कई पृष्ठों तक उम्, आम्, ह्म्, ऊम्, एम्, ओम्, फट्, अः आदि निरर्थक शब्दों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, जैसे कि तन्त्रों में। यह ध्यान देने की बात है कि मन्त्र का अर्थ पहले ऋक् और यजुः दोनों ही था। इसमें मन्त्र भी थे और प्रार्थनाएँ भी। किन्तु आज तो इसका अर्थ

केवल इन्द्र-जाल आदि में प्रयुक्त मन्त्र-मात्र रह गया है।

यदि 'यजुर्वेद' को हम किसी साहित्यिक रचना के रूप में पढ़ें तो यह अरुचिकर, अर्थहीन और महत्त्वहीन सी लगती है। किन्तु धर्म के विद्यार्थी के लिए तो यह बड़े महत्त्व की है। 'यजुर्वेद' को पढ़े बिना हम ब्राह्मणों को नहीं समझ सकते। इस प्रकार 'यजुर्वेद संहिता' भारतीय धार्मिक और दार्शनिक विचार-परम्परा की आधार-शिला कही जा सकती है।

●

हैं । इसका कारण सांकल्पिक और आकस्मिक परिवर्तन भी हो सकता है। सम्भव है कि संगीत की दृष्टि से कुछ शब्दों को तोड़-मरोड़कर आवश्यकतानुकूल बना लिया गया हो। यही अधिक ठीक मालूम होता है क्योंकि 'सामवेद' में पाठ की ओर ध्यान न देकर गेयता की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया है।

उस विद्यार्थी को, जोकि उद्गातृ-पुरोहित बनना चाहता था, आर्चिक की सहायता से पहले संगीत की शिक्षा में दीक्षित होना पड़ता था। इसके बाद उसे कुछ स्तोत्रों को कण्ठ करना पड़ता था। ये स्तोत्र उत्तरार्चिक में मिलते हैं। इस प्रकार वह उद्गाता-पुरोहित बन जाता था।

पूर्वार्चिक में ५८५ ऋचाएँ हैं। इन पर अनेक साम आधारित हैं जिनका कि यज्ञों के अवसर पर प्रयोग होता था। साधारणतः साम का अर्थ उस संहिता से लगाया जाता है जिसे कि गाए जाने के लिए बनाया गया हो। किन्तु पहले इसका अर्थ स्वर या गीत था। पाश्चात्य देशों के लोग किसी छन्द, ताल या लय के आधार पर गान की सत्ता बतलाते हैं।

उत्तरार्चिक में ४०० गेय साम है। प्रत्येक में ३-३ ऋचाएँ हैं। पूर्वार्चिक में ऋचाओं का क्रम छन्दों और लक्ष्यभूत देवताओं के आधार पर है, जबकि उत्तरार्चिक में यज्ञों के आधार पर। पूर्वार्चिक में छः प्रपाठक हैं। पहले पाँच प्रपाठकों में मन्त्रों के दश 'दशतय' (दशक) हैं। छठे प्रपाठक में मन्त्रों के नौ 'दशतय' हैं। इस प्रकार कुल दशतय (decades) ५६ हुए। इनमें से पहले बारह दशकों के मन्त्र 'अग्नि'-विषयक हैं, अन्तिम ग्यारह दशकों के मन्त्र 'सोम'-विषयक हैं, बीच के शेष ३६ दशतय के मन्त्र 'इन्द्र'-विषयक हैं। दूसरे अर्थात् उत्तरार्चिक में ६ प्रपाठक हैं जिनमें से प्रत्येक में दो और कभी-कभी तीन भाग हैं। इनमें छोटे-छोटे मन्त्र-समूह पाये जाते हैं। यह आर्चिक प्रथम आर्चिक की अपेक्षा उत्तरकाल का है और इसका साहित्यिक महत्व भी कम है क्योंकि इसके बहुत मन्त्र तो प्रथम आर्चिक के मन्त्रों की पुनरावृत्ति मात्र हैं। साथ ही पूर्वार्चिक में अनेक योनि और अनेक ताल-लय हैं, जोकि उत्तरार्चिक में नहीं पाये जाते। उत्तरार्चिक वैसे ही आर्चिक का सुधरा हुआ रूप माना जा सकता है।

कौथुम शाखा के दोनों भाग-हमें केवल संहिता-पाठ देते हैं। पहले ताल, लय, आदि का प्रयोग शायद मौखिक रूप से होता था, किन्तु बाद में ताल, लय वाद्य आदि का सम्बन्ध कर दिया गया और वे संहिता-पाठ ही गान कहलाये। शनैः-शनैः इन्हें काट-छाँटकर या बढ़ा-घटाकर गाने योग्य बना दिया गया। स्वरों को प्रायः १, २, ३, ४, ५, ६ और ७ इन संख्याओं द्वारा प्रकट किया गया है। गाते समय पुरोहित इन स्वरों का प्रकठीकरण अपने हस्त-संकेतों और अंगुलि-संकेतों के द्वारा करते हैं।

पूर्वार्चिक में 'ग्राम-गेय-गान' और अरण्य-गान दो प्रकार के योनि-गान हैं। इनके अलावा 'ऊह-गान' और 'ऊह्यगान' नामक दो प्रकार के विकृत गान भी मिलते है। ऊह गान का सम्बन्ध ग्राम-गेय-गान से और ऊह्यगान का सम्बन्ध अरण्य-गेय-गान से है। अरण्य-गान और ऊह्यगान को गाँव में नहीं केवल जंगलों में गाया जाता था, क्योंकि अरण्य-गान विकृत होते हैं और ऊह्यगान रहस्यात्मक होते हैं। तालों की संख्या निश्चित न होगी। बहुत पहले से ही प्रत्येक ताल का एक निश्चित नाम था। वैदिक पुस्तकों में इनके नाम का निर्देश ही नहीं मिलता, अपितु इनके लाक्षणिक अर्थ भी दिये गए हैं। इनका ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद आदि की गूढ़ विचार-परम्परा और लाक्षणिकता पर गहरा प्रभाव है। उदाहरणार्थ 'ऋग्वेद' के 'बृहत' और 'रथन्तर' तालों को देखा जा सकता है।

पुरोहित और अध्यात्मवादियों ने इन सब तालों का आविष्कार स्वयं नहीं किया। उस समय भी बहुत से प्राचीन ताल और लय प्रच-लित थे। कुछ ताल तो उस काल के हैं जबकि ब्राह्मण-काल के पूर्व के मायावी पुरोहितों द्वारा संस्करादि के अवसर पर कोलाहल-पूर्ण संगीत का आयोजन किया जाता था।

सामगान के ५ भाग होते हैं:—

(१) प्रस्ताव—इसका गान प्रस्तोता करता है।

(२) उद्गीय—इसका गान उद्गाता नाम का ऋत्विज करता है।

(३) प्रतिहार—इसका गान प्रतिहर्ता नाम का ऋत्विज करता है।

(४) उपद्रव—इसका गान भी उद्‌गाता नाम का ऋत्विज करता है।

(५) निधन—इसका गान प्रस्तोता, उद्‌गाता और प्रतिहर्ता नाम के तीनों ऋत्विज मिलकर एक साथ करते हैं।

'साम-विधान-ब्राह्मण' नाम की सामवेद की एक वैदिक पुस्तक है। इसके करीब आधे भाग को इन्द्र-जाल विद्या की ही पुस्तक कहा जा सकता है। इसमें विभिन्न सामों को इन्द्र-जाल के लिए प्रयोग करने की शिक्षा दी जाती है। 'ब्राह्मण कात्यिक नियम' ग्रन्थ हमें शिक्षा देते हैं कि ज्यों हीं साम की ध्वनि कानों में पड़े त्यों ही 'ऋग्वेद' और 'यजुर्वेद' का अध्ययन बन्द कर देना चाहिए। 'आपस्तम्ब स्मृति' में तो एक ऐसा नियम है कि जहाँ कुत्तों का भोंकना—खर निनाद, शृंगाल और भेड़ियों का आक्रोश, वाद्यों की ध्वनि, रुदन या साम की ध्वनि सुन पड़े कि तुरन्त ही वैदिक अध्ययन को बन्द कर देना चाहिए।

राणायनीय शाखा

यह कौथुम शाखा से अधिक भिन्न नहीं है। मन्त्र प्रायः उतने ही हैं, उच्चारण-भेद अवश्य पाया जाता है। कौथुम का उच्चारण यदि 'हाउ' है तो राणायनीय में इसे 'हावु' कहा जावेगा। इसी प्रकार कौथुम का 'राह' राणायनीय में 'राइ' उच्चरित होता है। 'राणायनीय पाठ संहिता' 'सामवेद' का सायणाचार्य कृत भाष्य भारतवर्ष में प्रचलित हो चुका है।

जैमिनीय शाखा

इसमें कुल १६८७ मन्त्र हैं अर्थात् कौथुम शाखा से १८२ मन्त्र कम हैं। कौथुम शाखा में साम-गानों की संख्या ८२७८२ है जबकि जैमिनीय शाखा में ३६८१। इस शाखा के संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, श्रौत तथा गृह्य-सूत्र आदि सभी कुछ आज उपलब्ध हैं। इसी शाखा की एक प्रशाखा 'तलवकार' शाखा है। इसका सम्बन्ध 'केनोपनिषद्' से है। ये तलवकार लोग जैमिनि ऋषि के शिष्य थे।

इस प्रकार 'सामवेद संहिता' का यज्ञ और इन्द्र-जाल के इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। इसके 'गान साहित्य' का भारतीय संगीत के इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

●

नवम अध्याय

अथर्ववेद संहिता

'अथर्ववेद' का अर्थ है 'अथर्वों का वेद' या 'अभिचार मन्त्रों का ज्ञान'। आदि काल में 'अथर्वन्' शब्द पुरोहित का वाची था। ये अथर्वन् लोग अवेस्ता के अग्निपूजकों के ही तुल्य हैं। इन्हें अभिचार का पुरोहित भी कहा जाने लगा। इस प्रकार इनमें पुरोहित और झाड़-फूँक करने वाले दोनों के गुण मौजूद थे।

'अथर्ववेद' का प्राचीनतम नाम 'अथर्वांगिरसः' है अर्थात् 'अथर्वों और अंगिराओं का वेद।' अंगिरा लोग भी अथर्वों की भाँति थे। दोनों के अभिचार-मन्त्रों में थोड़ा अन्तर है। अथर्वन् में हमें रोगनाश के मन्त्र मिलते हैं, जबकि 'अंगिरस' में शत्रुओं, प्रतिद्वन्द्वियों और दुष्ट मायावियों के प्रति अभिशाप मन्त्र। इस प्रकार 'अथर्वांगिरसः' शब्द इन दोनों प्रकार की अभिचार-विधियों की ओर संकेत करता है। 'अथर्ववेद' इस 'अथर्वांगिरसः' का ही संक्षिप्त रूप वाला शब्द है।

'अथर्ववेद' की 'शौनक शाखीय संहिता' में २० काण्ड (भाग), ७३० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं। उक्त मन्त्रों में से कोई १८०० मन्त्र स्पष्टतः 'ऋग्वेद संहिता' से ही लिये हुए प्रतीत होते हैं। उनमें कुछ पाठान्तर अवश्य हैं। 'अथर्ववेद' का २०वाँ काण्ड तो, कुछ ही अंश को छोड़कर पूरा-का-पूरा 'ऋग्वेद' से ही उद्धृत है। १५वाँ काण्ड और १६वें काण्ड का बड़ा भाग ब्राह्मणों जैसे गद्य में है।

अथर्ववेद का विषय

वेदत्रयी में केवल 'ऋग्वेद', 'सामवेद' और 'यजुर्वेद' ही आते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'अथर्ववेद' उनके बाद में बना। 'अथर्ववेद' को अभिचार मन्त्रों और उपचार मन्त्रों का एक संग्रह कह सकते हैं। इसके मन्त्र दो प्रकार के हैं:—

(१) रोग, हिंसक पशु, पिशाच, जादूगर, शत्रु आदि के विनाश या अपसारण में उपयुक्त ।

(२) परिवार या ग्राम आदि में शान्ति स्थापन, शत्रुओं से सन्धि, दीर्घायु, सुन्दर स्वास्थ्य, धन, विभव, यात्राओं में सुरक्षा आदि के लिए उपयुक्त ।

इस प्रकार कुछ मन्त्र तो अभिशापमय हैं । किन्तु कुछ हैं संवर्धन-विषयक । 'अथर्ववेद' के सूक्तों का विषय बहुत कुछ गृह्य सूत्रों से मिलता-जुलता है । यथा पुत्र-जन्म, विवाह, मृत्यु, राज्याभिषेक आदि । इन अवसरों पर 'अथर्ववेद' के मन्त्रों का उच्चारण होता था । 'अथर्ववेद' के मन्त्र अधिकतर विभिन्न रोगों एवं भूत-प्रेतादि के अपसारण के लिए ही बनाये गए हैं । इसमें ज्वर, कोढ़, राजयक्ष्मा, खाँसी, गंजापन, क्षीणदृष्टि, शक्तिह्रास आदि के उपचार मन्त्र हैं । इतना ही नहीं घाव भरने के, सर्पदंश का विष दूर करने के, पागलपन ठीक करने आदि के भी मन्त्र हैं । इस प्रकार 'अथर्ववेद' भारतीय 'आयुर्वेद' का सबसे पुराना रत्नाकर है ।

अथर्ववेद के संस्करण

'अथर्ववेद' के दो संस्करण हैं :—

१—*पैप्पलाद सम्प्रदाय का संस्करण*—यह भूर्जपत्रात्मक हस्त-लिखित ग्रन्थ के रूप में सुरक्षित है । इसमें क्रम एवं स्वर-सन्धान का अभाव है । Prof. Buhler ने काश्मीर में इसका पता लगाया था । Prof. Bloomfield इसके फोटो लेकर एक नया संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं । 'अथर्ववेद' के एक परिशिष्ट में पाये जाने वाले 'पैप्पलाद मन्त्र' पद से प्रतीत होता है कि उसका इस संस्करण की ओर ही संकेत है ।

२—*शौनक सम्प्रदाय का संस्करण*—१८५६ ई० में रोथ तथा ह्विटनी ने मिलकर इनका सम्पादन करके इसे प्रकाशित करवाया । सायण ने पूरे 'अथर्ववेद' की व्याख्या की है । यह प्रकाशन उस व्याख्या से भी सुशोभित है ।

अथर्ववेद का काल

१—'पातञ्जल महाभाष्य' से पता चलता है कि उस समय 'अथर्ववेद' बहुत प्रतिष्ठित हो चुका था, अतः अथर्ववेद महाभाष्य से पूर्ववर्ती है।

२—'यजुर्वेद' की 'तैत्तिरीय संहिता' में अवश्य ही 'अथर्ववेद' के अभिचार-मन्त्रों का उल्लेख आया है। 'यजुर्वेद' के कुछ मन्त्र भी 'अथर्ववेद' के मन्त्रों के समान हैं।

३—'ऋग्वेद' के ब्राह्मणों में कहीं भी 'अथर्ववेद' का नाम नहीं मिलता। किन्तु 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में इसका नाम दो बार आता है। 'शतपथ-ब्राह्मण' के उल्लेख से यद्यपि यह पता नहीं चलता कि यह एक स्वतन्त्र वेद है तथापि इसका एक विशेष स्थान अवश्य था। इस प्रकार ये ब्राह्मण ग्रन्थ अथर्ववेद को वेदत्रयी के बाद में ही जोड़ देते हैं।

४—कात्यायन-कृत 'शुक्ल यजुर्वेद' के श्रौत सूत्र में या लाट्यायन-कृत 'सामवेद' के श्रौत सूत्र में कहीं भी 'अथर्ववेद' का नाम नहीं मिलता। शांख्यायन और आश्वलायन-कृत श्रौत सूत्रों में इसका नाम मिलता है।

५—अथर्ववेद का नाम 'चार वेद' में नहीं आता, इसका खण्डन करते हुए जयन्त भट्ट, जो वाचस्पति मिश्र के गुरु थे, ने लिखा है कि 'शतपथ ब्राह्मण' में "अथ तृतीय अहनि इति उपक्रम्य अश्वमेधे पारिप्लवाख्याने सोऽयमथर्वणो वेदः इति श्रूयते।" (प्रकरण १३, प्रपाठक ३, कण्डिका ७)

इसी प्रकार 'छान्दोग्योपनिषद्' प्रपाठक ३, खण्ड ३ और 'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' अंति प्रपाठक अनुवाक्य १०, में भी 'अथर्ववेद' का उल्लेख मिलता है। एवं इस 'अथर्ववेद' को तीनों वेदों का शुक्र कहा है। त्रयी का शुक्र त्रयी स्वयं नहीं बन सकती, इसलिए त्रयी का शुक्र अर्थात् 'गुह्य अथर्ववेद' है तथा वेदत्रयी शुक्र की प्रसिद्धि छन्दोनिबन्धन है और ये तीनों प्रकार के मन्त्र 'अथर्ववेद' में पाये जाते हैं। अतः वेदों का अतिरिक्त व्यवहार है। याज्ञवल्क्य ऋषि ने भी पहले अध्याय के ४४वें श्लोक में अथर्ववेद का स्मरण किया है। यदि यह कहा जा सकता है कि 'ऋग्वेद' के मन्त्र

अथर्ववेद में मिलते हैं तो यह भी कहा जा सकता है कि तीनों वेदों के मन्त्र 'अथर्ववेद' में मिलते हैं। अतः 'अथर्ववेद' को तीनों वेदों का सार या मूल कहते हैं। पूर्वोक्त 'त्रयियै विधायै शुक्लं तेन ब्रह्मत्वम्" इस बात में जो शुक्र शब्द का अभाव है उसका अर्थ रहस्यमय या गूढ़ है।

अन्तः परीक्षादि—इसमें २० मण्डल, ७३१ सूक्त और करीब ६००० ऋचाएँ हैं। २०वां और १९वां ये दोनों मण्डल बाद में जोड़े बतलाये जाते हैं। करीब-करीब २०वाँ पूरा मण्डल 'ऋग्वेद संहिता' से ली गई ऋचाओं से बना है। इतना हीं नहीं 'अथर्ववेद' की १/७ ऋचाएँ तो 'ऋग्वेद' से ली गई हैं। इन उभयनिष्ठ ऋचाओं में से आधी से अधिक तो १०वें मण्डल में ही हैं। शेष में से अधिकांश प्रथम और अष्टम मण्डल की हैं।

पहले सात मण्डलों में छोटे-छोटे सूक्त मिलते हैं। पहले मण्डल के प्रत्येक सूक्त में नियमतः चार ऋचाएँ मिलती हैं, दूसरे के प्रत्येक सूक्त में पाँच, तीसरे के प्रत्येक सूक्त में छः और चौथे के प्रत्येक सूक्त में सात ऋचाएँ मिलती हैं। ५वें मण्डल के सूक्तों में कम-से-कम आठ और अधिक-से-अधिक अठारह ऋचाएँ मिलती हैं। ६वें मण्डल में १४२ सूक्त हैं और उनमें से अधिकांश में तीन-तीन ऋचाएँ मिलती हैं। ७वें मण्डल में ११८ सूक्त हैं, जिनमें से अधिकांश में एक-एक या दो-दो ऋचाएँ ही मिलती हैं। ८वें से लेकर १४वें तक तथा १७वें और १८वें मण्डल में बड़े-बड़े सूक्त हैं। ८वें मण्डल का पहला सूक्त सबसे छोटा है, जिसमें २१ ऋचाएँ हैं। १८वें मण्डल का चौथा सूक्त सबसे बड़ा है, जिसमें ८९ ऋचाएँ हैं। १५वां मण्डल पूरा और १६वें का एक बड़ा भाग ब्राह्मणों की भाँति गद्यमय है। सूक्तों के इस क्रम में विशेषता यह है कि एक ही से विषय वाले सूक्त पास-पास रखे गये हैं। इन सूक्तों को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं :—

पहला वर्ग—दूसरे से लेकर ७वें मण्डल तक इसमें विभिन्न विषय वाले छोटे-छोटे सूक्त हैं।

दूसरा वर्ग—८वें से लेकर १२वें मण्डल तक—इसमें विभिन्न विषय वाले बड़े-बड़े सूक्त हैं।

तीसरा वर्ग—१३वें से लेकर १८वें मण्डल तक—इसमें से प्रत्येक मण्डल में विषय का पूर्ण सारूप्य है। १४वें मण्डल में केवल विवाह-सम्बन्धी और १८वें मण्डल में केवल अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी सूक्त मिलते हैं।

'अथर्ववेद' के सूक्तों की भाषा और छन्द 'ऋग्वेद संहिता' के सूक्तों के समान ही हैं? किन्तु 'अथर्ववेद' की भाषा और छन्दों में कुछ उत्तर-कालिकता तो झलकती ही है। १५वें और १६वें मण्डल में गद्यमय अंशों की प्रचुरता है। इन सूक्तों की भाषा और छन्दमात्र देखकर यह बताना कि इन सूक्तों का और इस संहिता का प्रणयन कब हुआ, बहुत ही कठिन है। इसका कारण यह है कि प्रश्न यह सदा ही बना रहता है कि क्या भाषा की विशेषताएँ और छन्दों की स्वतन्त्रता काल-भेद पर अवलम्बित है, या फिर जन-प्रिय विश्वास तथा पुरोहितों की रचना-परम्परा की भेद-वृत्ति पर अवलम्बित है?

भौगोलिक और सांस्कृतिक दशाओं का जो चित्र 'अथर्ववेद' में अंकित है, उससे स्पष्ट है कि आर्य अधिक दक्षिण की ओर जा चुके थे और गंगा के मैदान में बस चुके थे। 'ऋग्वेद' में चीतों का, जिनका स्थान बंगाल है, का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु 'अथर्ववेद' में है।

इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाजन तो है ही; साथ ही ब्राह्मणों का स्थान काफी ऊँचा उठ गया था। उन्हें पृथ्वी पर का देवता माना जाने लगा था। इसके अभिचार मन्त्रों में भी ब्राह्मणत्व की छाप पड़ गई है, वे अपने मूल रूप में नहीं मिलते। अन्य स्थलों पर भी ब्राह्मणत्व और पौरोहित्य की बू मिलती है। ब्राह्मणों को बड़प्पन मिलना केवल बाद की बात हो सकती है। 'ऋग्वेद' में तो ऐसा था नहीं।

'अथर्ववेद' में देवताओं की जो स्थिति है, वह भी इस संहिता का 'ऋग्वेद' के बाद की रचना होना बताती है। देवता तो सभी 'ऋग्वेद' के से हैं, किन्तु उनका रूप बदल गया। उनमें प्राकृतिक शक्तियों का प्रति-बिम्ब भुला-सा दिया गया। वे केवल राक्षस-नाशक के रूप में ही रह गये।

अभिचार मन्त्रादि के प्रधान होने से 'अथर्ववेद' में पवित्रता के दर्शन

नहीं होते। किन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि एक समय ऐसा भी था जब कि भूतापसरण मन्त्र, अभिचार क्रियाएँ, इन्द्रजाल विद्या आदि का पवित्र साहित्य के रूप में एक विशेष स्थान था, किन्तु धीरे-धीरे उसका महत्त्व हटता गया।

'शांख्यायन गृह्य सूत्र' (१, २४, ८) में एक संस्कार का वर्णन है, जिसके अनुसार नव-जात शिशु में वेदों का संचार किया जाता है। उसका मन्त्रार्थ इस प्रकार है—"मैं 'ऋग्वेद' की तुम में स्थापना करता हूँ, मैं 'सामवेद' की तुममें स्थापना करता हूँ, मैं इतिहास और पुराण की तुम में स्थापना करता हूँ, मैं समस्त वेदों की तुम में स्थापना करता हूँ।" आश्चर्य की बात है कि ऐसे विशेष अवसर पर जहाँ कि पुराण और इतिहास तक सम्मिलित किये गए हैं, वहाँ अथर्ववेद का नाम भी नहीं मिलता। इससे तो यही प्रतीत होता है कि अब तक भी 'अथर्ववेद' अलिखित था। किन्तु हो सकता है कि जान-बूझ-कर ही अथर्ववेद का नाम नहीं दिया गया। त्रयी विद्या या 'वेद-त्रयी' शब्द सबने सुने होंगे। यह इस बात की सम्भावना पैदा करता है कि किसी समय केवल तीन वेद ही थे, 'अथर्ववेद' उस समय अलिखित था या बाद में जोड़ा गया।

यद्यपि यह निश्चित है कि 'अथर्ववेद संहिता' का संस्करण 'ऋग्वेद' के बाद का है, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इसकी ऋचाएँ ऋग्वैदिक ऋचाओं के उत्तरकाल की हैं। यह तो मानना पड़ेगा कि इसका कुछ अंश ऐसा है जो कि अवश्य ही बाद का है, किन्तु कुछ अंश ऐसा भी है जिसे कि 'ऋग्वेद' की ऋचाओं से बाद का नहीं कह सकते। यथा—'अथर्ववेद' के अभिचार मन्त्र 'ऋग्वेद' के याज्ञिक मन्त्रों के पहले थे नहीं तो बाद के भी नहीं हैं।

एक ही समय के होने पर भी 'अथर्ववेद संहिता' की अपेक्षा एक भिन्न ही धारा बहती है। 'ऋग्वेद' में आकाश के विशाल देवताओं के दर्शन होते हैं जो कि प्राकृतिक महान् शक्तियों के प्रतिनिधि हैं। गायक मुक्तकण्ठ से उनकी स्तुति करता है, उन्हें बलि भाग प्रदान करता है,

क्योंकि वे देवता शक्तिशाली हैं, उसके सहायक हैं और उसकी इच्छा की पूर्त्ति करते हैं। दूसरी ओर 'अथर्ववेद' में पैशाचिक शक्तियाँ मिलती हैं जो कि मनुष्यों के लिए रोग और विपत्तियाँ लाती हैं। इनके विरुद्ध अभिचार-कर्ता अपने अभिशापों का प्रयोग करता है, अथवा उन्हें चापलूसी के शब्दों से प्रसन्न करके वहाँ से भगा देने का प्रयास करता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह अभिचार और इन्द्रजाल से सम्बन्धित विधियों की कल्पना और धारणा भारत तक ही सीमित नहीं रही, इस प्रकार की धारणाएँ और कल्पनाएँ उत्तरी अमरीका के रेड-इण्डियन्स में, अफ्रीका के नीग्रो लोगों में, मलायन और मंगोल जातियों में, प्राचीन ग्रीक और रोमन लोगों में, आजकल के योरोपीय कृषक दल में भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ मर्सवर्ग के ऐन्द्रजालिक मन्त्रों और 'अथर्ववेद' के इस प्रकार के मन्त्रों में समरूपता पाई जाती है। इन्द्रजाल विद्या का ज्ञाता Wodan एक व्यक्ति के टूटे पैर को जोड़ने के लिए यह मन्त्र पढ़ता है :—

"Bone to bone
Blood to boold
Limb to limb
As if they were glued."

ठीक इसी प्रकार 'अथर्ववेद' चतुर्थ मण्डल के १२वें सूक्त में भी टूटे पैर के ठीक करने के लिए कई मन्त्र मिलते हैं—

"संते मज्जा मज्जा भवतु........आदि।" (४, १२, ३-४-५)

आयुर्वेद सम्बन्धी सूक्त

अथर्ववेद के एक बड़े सूक्त के बड़े भाग में रोगों की चिकित्सा-सम्बन्धी गीत और मन्त्र हैं। ये किसी दैत्य विशेष या दैत्यों के समूह-विशेष को उद्देश्य करके कहे गये हैं, क्योंकि इन्हें रोग-नाशक या रोग-अपसारक कहा गया है। रोग-नाशक मन्त्रों और विधियों से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री हमें 'कौशिक सूक्त' में उपलब्ध होती है। इस प्रकार की

रचनाएँ भारतीय आयुर्वेद विज्ञान की प्राचीनतम पद्धति का संकेत करती हैं। इस प्रकार के सूक्तों में पाई जाने वाली गीतियों में विभिन्न रोगों के लक्षण बड़ी स्पष्टता के साथ वर्णित हैं जो आयुर्वेद विज्ञान के इतिहास की दृष्टि से बड़ी उपादेय और रुचिकर हैं। ज्वर-निवारक मन्त्रों के देखने से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है। ज्वर को रोगों का अधिपति कहा गया है। तक्म (Takman) की 'अथर्ववेद' में ज्वर के राक्षस के रूप में कल्पना की गई है। 'अथर्ववेद' पंचम मण्डल के २२वें सूक्त के २, ३, ७, १० और १२वें मन्त्रों में ज्वर के प्रभावों का वर्णन है। 'Consumption' को ज्वर का भाई, खाँसी (Cough) को ज्वर की बहन और Herpes को ज्वर का भतीजा कहा गया है। ज्वर से यहाँ प्रार्थना की गई है कि तुम 'मूजवन' और बाह्लीक आदि जातियों के यहाँ चले जाओ, या फिर शूद्र की लड़की को जाकर खूब हिलाओ

कितनी उदात्त भावना है ! ज्वर को मूजवानों और बाह्लीकों के यहाँ भेजा जाता है क्योंकि वे विपक्षी हैं; शूद्र की लड़की को सताने के लिए कहा जाता है क्योंकि उस जाति से ये लोग घृणा करते हैं। बार-बार 'अथर्ववेद' में इस भावना के दर्शन होते हैं।

'अथर्ववेद' के इन औपचारिक मन्त्रों का जर्मन साहित्य के ऐसे वाक्यों से अधिक साहृश्य है। 'अथर्ववेद' में रोगों की कुल संख्या ५५, ७७ या ६६ बतलाई है। इसी प्रकार जर्मन साहित्य में उनकी संख्या ७७ या ६६ ही वर्णित है। ज्वर-सम्बन्धी जर्मन मन्त्र में कहा गया है कि— "This water and blood of Christ is good for the seventy seven kinds of Fever." जर्मनों की भाँति ही प्राचीन भारतीय भी बहुत से रोगों का कारण लघु कीटों को बतलाते हैं। इनको भगाने या नष्ट करने के मन्त्र भी हैं, यथा 'अथर्ववेद' द्वितीय मण्डल का ३१वाँ सूक्त। 'अथर्ववेद' (५,२३) के २, ३, ४, ५, ११, १२ और १३ मन्त्रों में बतलाया है कि ये कृमि पुरुष और स्त्री भेद वाले होते हैं। इनके भाई, माँ, बहन, राजा, गवर्नर आदि भी होते हैं। इनमें से कुछ हमारी अँतड़ियों में, कुछ सिर में, कुछ पसलियों में, कुछ आँख में, कुछ नाक में,

कुछ दाँतों के सन्धि-प्रदेशों में, कुछ पर्वतों में, कुछ जंगलों में, कुछ पौधों में, कुछ जानवरों के शरीरों में, कुछ पानी में तथा कुछ अन्य स्थानों में रहते हैं। ये कई रंग और कई आकार के होते हैं।

आयुष्य सूक्त

'अथर्ववेद' के दूसरे प्रकार के सूक्तों में दीर्घायु और सुन्दर स्वास्थ्य के लिए प्रार्थनाएँ हैं। रोग-निवारक या रोग-नाशक मन्त्रों से इन मन्त्रों में थोड़ा ही अन्तर है। ये वे प्रार्थनाएँ हैं जिनका प्रयोग पारिवारिक उत्सवों पर किया जाता था जैसे कि बालक के प्रथम मुण्डन संस्कार में, युवक के प्रथम क्षौर कर्म संस्कार में, उपनयन और विवाह-संस्कारादि में। दीर्घायु के लिए प्रार्थनाएँ 'शत शरद्' वाले जीवन के लिए होती थीं।

पौष्टिक सूक्त

आयुष्य सूक्तों से घनिष्ठता के लिए एक अन्य प्रकार के सूक्त हैं जिन्हें कि 'पौष्टिकानि' या पौष्टिक सूक्त कहा गया है। इन प्रार्थनाओं को करके व्यापारी, कृषक, गडरिये आदि लाभ और सफलता की कामना करते हैं। खेत जोतने और बोने के समय इस प्रकार को प्रार्थनाएँ की जाती हैं जिससे कि खूब अनाज पैदा हो, कीड़ों और आग आदि से उनकी रक्षा हो, समय पर धूप-पानी आदि मिले।

इन सूक्तों में काव्यात्मकता की दृष्टि से कुछ ही गीत अच्छे हैं। 'अथर्ववेद' चतुर्थ मण्डल के १५वें सूक्त में पाया जाने वाला वर्षागीत सबसे अच्छा है।

प्रसाद सूक्त

इनमें काव्यात्मकता के सबसे कम दर्शन होते हैं। इन्हें 'मृगार सूक्त' की भी संज्ञा दी गई है। 'अथर्ववेद' के चतुर्थ मण्डल में २३वें से लेकर २९वें सूक्त तक, अर्थात् सात सूक्त इसी प्रकार के हैं। प्रत्येक सूक्त में सात-सात ऋचाएँ हैं। ये क्रमशः (i) अग्नि, (ii) इन्द्र, (iii) वायु और सविता, (iv) द्यावा पृथ्वी, (v) मरुत्, (vi) भव और शर्व, (vii) मित्र और वरुण को उद्देश्य करके कहे गए हैं। अर्थात् २३वें सूक्त में

देवता अग्नि है, २४वें में इन्द्र तथा इसी प्रकार क्रमशः। प्रत्येक ऋचा का अन्तिम चरण एक सा ही है, जिससे कष्टों से छुटकारा पाने की प्रार्थना की गई है।

प्रायश्चित्त सूक्त

इन सूक्तों में भिन्न-भिन्न अपराधों से मुक्ति-हेतु प्रार्थना मात्र ही नहीं है, अपितु कुछ निवारक मन्त्र भी हैं, जिनसे शारीरिक कष्ट, अपशकुन, दुःस्वप्न आदि का भी निराकरण हो जाता है।

प्रेम सूक्त

'अथर्ववेद' में एक बिल्कुल भिन्न प्रकार के सूक्त मिलते हैं। इनमें विवाह और प्रेम का निर्देश करने वाले ऐन्द्रजालिक गीत मिलते हैं। 'कौशिक सूत्र' में हमें प्रेम-सम्बन्धी इन्द्र-जाल (love-magic) के और उससे सम्बन्धित ऐन्द्रजालिक विधियों का परिचय मिलता है। इन्हें ही स्त्री कर्माणि कहा गया है। इस वर्ग में दो प्रकार के मन्त्र हैं:—

१—विवाह और सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी—ये पवित्र मन्त्र हानिरहित हैं। इनके द्वारा कन्या अभिलषित वर को तथा युवक अभिलषित वधू को प्राप्त कर सकता है। इनसे नव-विवाहित वर-वधू के लिए आशीर्वाद भी रहता है। इनसे वर-वधू में पारस्परिक विश्वास और प्रेम की अभिवृद्धि होती है, सुन्दर-स्वस्थ सन्तान होती है, गर्भ की रक्षा होती है—आदि। 'अथववेद' का सम्पूर्ण १४वाँ मण्डल इसी प्रकार के मन्त्रों से भरा है। इसे 'ऋग्वेद' की विवाह सम्बन्धी ऋचाओं का ही परिवर्धित रूप कहा जा सकता है।

२—आभिचारिक सूक्त—इस वर्ग में प्रेम में व्यभिचार और वैवाहिक जीवन के विघ्नों से सम्बन्धित इन्द्रजाल और अभिशाप आदि के मन्त्र आते हैं। 'अथर्ववेद' (४,५) में एक ऋचा है जिसमें अपनी प्रियतमा से चुपके से मिलने का इच्छुक प्रेमी कहता है—"स्वप्तु माता, स्वप्तु पिता, स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्वतिः। स्वपन्त्वस्थ ज्ञातयः स्वपत्वयम मितो जनः॥ (४।५।६)।

इन प्रेम सम्बन्धी सूक्तों के अन्तर्गत कुछ ऐसे मन्त्र भी आ जाते

हैं, जिनका प्रयोग रोगादि के कारण भूत-पिशाचों, भूतों-प्रेतों आदि के विरुद्ध किया जाता है। 'अथर्ववेद' के १६वें मण्डल का उत्तरार्ध इस प्रकार के मन्त्रों से परिपूर्ण है। इसमें दुःस्वप्नों की औपचारिक विधियाँ वर्णित हैं और दुःस्वप्नों के कारणभूत पिशाचों को साधक के शत्रुओं के पास चले जाने की प्रेरणा दी गई है।

राज-कर्म

'अथर्ववेद' में बहुत से सूक्त ऐसे हैं जो राजाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रचे गए होंगे। इनमें से कुछ तो शत्रुओं के विरुद्ध प्रयुक्त किए जाने वाले ऐन्द्रजालिक मन्त्र हैं और कुछ आशीर्वाद। आदि काल से ही प्रत्येक राजा को एक पुरोहित रखना पड़ता था जो कि 'राज कर्माणि' सम्बन्धी मन्त्रों और इन्द्रजाल की विधियों का ज्ञाता हो।

हमें 'अथर्ववेद संहिता' में ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनमें राजा के राज्याभिषेक की, एक राजा द्वारा अन्य राजाओं पर अधिकार प्राप्त करने की विधियाँ हैं अथवा संकेत मिलते हैं। राजा द्वारा कवच धारण करने पर या रथारोहण करने पर उच्चारित किए जाने वाले मन्त्र भी मिलते हैं। 'अथर्ववेद' के तृतीय मण्डल के चतुर्थ सूक्त में एक स्थल है जहाँ कि स्वर्ग का राजा वरुण एक राजा का वरण (चुनाव) करने के लिए प्रकट होता है। इसीलिए शब्द-व्युत्पत्ति (Etymology) में 'वरुण' वरुण की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से बतलाई गई है। इस वर्ग के सबसे सुन्दर सूक्त 'अथर्ववेद' पंचम मण्डल के २०वें और २१वें सूक्त हैं। विशेषकर इनमें दो गीत दुन्दुभि की आवाज पर गाये जाने वाले मिलते हैं जिनका प्रयोजन योद्धाओं का युद्ध और विजय के लिए आह्वान करना है।

याज्ञिक सूक्त

इस प्रकार के सूक्त 'अथर्ववेद संहिता' के अन्तिम भाग में हैं। इस संहिता में इनका समावेश इसलिए किया गया है कि इसे भी पवित्र माना जाय और इसकी गणना भी वेदों में होने लगे। 'ऋग्वेद' के याज्ञिक मन्त्रों के समान इसमें भी कुछ मन्त्र मिलते हैं। दो 'आप्री' सूक्त तो

विशेष उल्लेखनीय हैं। 'यजुर्वेद' के समा ही इसमें भी कुछ गद्यमय मन्त्र मिलते हैं। यथा १६वें मण्डल का सम्पूर्ण पूर्वार्ध 'जल' का यशोगान करता है। १८वें मण्डल में अन्त्येष्टि क्रिया और पितृ-पूजा से सम्बन्धित सूक्त हैं। 'ऋग्वेद' के दशम मण्डल के अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी मन्त्र कुछ परिवर्तन के साथ इस संहिता में उल्लिखित हैं।

कुन्ताप सूक्त

यह 'अथर्ववेद' की अपनी निजी नवीनता है। २०वें मण्डल के १२७वें से लेकर १३६वें सूक्त तक अर्थात् १० सूक्त इसी प्रकार के हैं। इनमें तीन प्रकार के सूक्त हैं—

(i) 'ऋग्वेद' की दान-स्तुतियों के समान;

(ii) 'ऋग्वेद' की प्रहेलिकाओं और उनके उत्तरों वाले; तथा

(iii) गन्दे गीत और भद्दे मज़ाक वाले।

दार्शनिक सूक्त

इन सूक्तों में सत्य की खोज या विश्व की अज्ञेय पहेलियों का समाधान नहीं है। इन सूक्तों में दार्शनिकता दम्भ-मात्र है। इनका उद्देश्य है किसी धार्मिक विचार-विशेष को रहस्यमय बना देना। फिर भी ये दार्शनिक सूक्त आध्यात्मिक विचार-परम्परा के सुन्दर और उन्नत रूप की कल्पना प्रस्तुत करते हैं।

हमें भूलकर भी यह न समझना चाहिए कि 'अथर्ववेद' के ये दार्शनिक सूक्त 'ऋग्वेद' की ऋचाओं के दर्शन के बाद उन्नति की अगली सीढ़ी बनाते हैं।

रोहित सूक्त

इन सूक्तों में कोई क्रम नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं, कोई सन्दर्भ नहीं। सबका विषय पृथक्-पृथक् है। ऐसे बचे-खुचे सूक्त 'अथर्ववेद संहिता' के १३वें मण्डल में भर दिये गए हैं। प्रथम सूक्त में रोहित (रक्त वर्ण वाले सूर्य) की स्तुति की गई है। इसी बीच अचानक एक पृथ्वी पर के राजा का यशोगान हो गया है। इसी सूक्त के बीच में हमें शत्रुओं, प्रति-

स्पर्धियों और उन लोगों के लिए आक्रोश मिलते हैं जो गाय को लात से मारते हैं—इत्यादि।

गूढ़ विचार-परम्परा वाले सूक्त

इन सूक्तों में याज्ञिक स्वर 'वृहत्' और 'रथन्तर' से रोहित की उत्पत्ति बतलाई गई है। गायत्री को अमरत्व की गोद कहा है। वृषभ एक सृष्टिकर्ता और जगत् के रक्षक के रूप में प्रशंसित है। इस वृषभ का इन्द्र आदि बड़े-से-बड़े देवता के साथ अभेद है। वृषभ दूध भी देता है। यज्ञ ही उसका दूध है और उसका दुहा जाना ही पुरोहित की दक्षिणा है। जो वृषभ की सातों प्रकार की दोहन-क्रियाओं को जानता है, उसे सन्तान और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

Deussen साहब ने इन दार्शनिक सूक्तों के अर्थ और भाव निकालने में अथक परिश्रम किया है। वस्तुतः 'अथर्ववेद संहिता' के सूक्तों में मिलने वाली गूढ़ दार्शनिकता के परिज्ञान के लिए कठोर परिश्रम की आवश्यकता है। Deussen के अनुसार 'अथर्ववेद' १०, २ और ११, ८ में इस बात की प्रतीति कराई गई है कि मनुष्य ब्रह्म स्वरूप है। Prof. Winternitz के अनुसार यह सिद्धान्त पहले से ही विद्यमान था।

पृथ्वी सूक्त में कहा गया है कि पृथ्वी प्रत्येक पार्थिव वस्तु की सहायता और संरक्षण करती है, इसीलिए प्रसन्नता आशीर्वाद और अनेक बाधाओं से रक्षा के लिए उसकी स्तुति की जाती है। 'अथर्ववेद' के १२वें मण्डल के प्रथम सूक्त अर्थात् 'पृथ्वी सूक्त की १, ८, १०, ११, १५, २२, ३५, ४१ और ६३वीं ऋचाएँ प्राचीन भारत की धार्मिक कविता की मनोरम और अत्यन्त सुन्दर रचना के उदाहरण का प्रतिनिधित्व करती हैं। R. T. H. Griffith साहब द्वारा किये गए ६३वीं ऋचा के अनुवाद में भी यह सौन्दर्य देखा जा सकता है:—

"O Earth ! my Mother, set thou me happily in a placc secure,
Of one accord with heaven, O Sage, set me in glory and in wealth." इत्यादि।

पैप्लाद शाखा

१८७० ई० में काश्मीर के महाराज रणवीरसिंह जी को 'अथर्ववेद' की पैप्पलाद शाखा की एक प्रति अपने पुस्तकालय में प्राप्त हुई थी। यह शारदा लिपि में भोजपत्र पर लिखी थी। जिसे उन्होंने Prof. Roth को भेंट में प्रदान किया था। Roth की मृत्यु के बाद यह १८९५ में ट्यूबिजन यूनिवर्सिटी को प्राप्त हुई। वहाँ के अधिकारियों ने १९०१ में अमेरिका से इसका प्रकाशन किया। अब इसका प्रकाशन फोटो की प्लेटों द्वारा पुनः किया गया है।

नोटः—'वेद-शाखोपशाखा चित्र' पुस्तक के अन्त में देखिए।

●

दशम अध्याय

ब्राह्मण साहित्य

(८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक)

वैदिक साहित्य में संहिताओं के बाद दूसरा बड़ा साहित्य ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। पुरोहितों द्वारा किये गए यज्ञों में प्रयुक्त संहितानुमोदित विधियों की व्याख्याओं के संकलन का नाम ही ब्राह्मण है। दूसरे शब्दों में पुरोहितों के उच्चारण और सम्वादों के संग्रह का नाम ब्राह्मण है।

सब ही ब्राह्मण अधिकतर यज्ञों की ही विवेचना, विधि भाग का मन्त्रों से सम्बन्ध आदि का निर्वहण करते हैं। इनमें यह बात नहीं भुलाई गई कि किस याज्ञिक कर्म में पुरोहित को कितनी दक्षिणा देनी चाहिए। इनमें यज्ञकर्ता को इह लोक या परलोक में मिलने वाले लोगों का भी उल्लेख है। संक्षेप में हम कह सकते है कि ब्राह्मण यज्ञों का विज्ञान है।

पुरातन काल में ही वेदों की विभिन्न शाखाएँ बनाकर उनका वर्गीकरण किया गया। अतः प्रत्येक शाखा के लिए एक ब्राह्मण रखना जरूरी था इसलिए ब्राह्मणों की संख्या बहुत हो गई। किन्तु इसी कारण यह भी हुआ कि कुछ वे कृतियाँ भी बाह्मण की कोटि में गिनी जाने लगीं, जिनका विषय ब्राह्मणों से सर्वथा भिन्न था। वैदिक साहित्य की सबसे बाद की रचना भी कुछ ब्राह्मण-कोटि में आ गईं, जिन्हें ब्राह्मण नहीं अपितु वेदान्त कहना ही उचित है। 'सामवेद' के ब्राह्मण इसी प्रकार के हैं। 'अथर्ववेद' का 'गोपथ ब्राह्मण' भी इसी कोटि में है।

कुछ मुख्य-मुख्य पुरातन ब्राह्मणों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है:—

ब्राह्मणों का विषय (संक्षेप में)

ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय को तीन भागों में बाँट सकते हैं:—

१. विधि—क्रियात्मक याज्ञिक कर्मों का निर्देश।

२. अर्थवाद—मन्त्रों का प्रशंसादि द्वारा अर्थज्ञान कराना।

३. उपनिषद्—किसी वस्तु-विशेष-विषयक धार्मिक-दार्शनिक आदि विचार।

ब्राह्मण ग्रन्थों का काल-क्रम

सभी ब्राह्मण एक काल में ही नहीं बने। 'पञ्चविंश' एवं 'तैत्तिरीय' ब्राह्मण वाक्य-रचना (syntex) एवं शब्दकोष (vocabulary) को देखते हुए सबसे पुराने निर्धारित किए जाते हैं। इनका स्वर-संचार (acccnt) भी इसी सत्यता का पोषक है।

इसके बाद ब्राह्मणों का दूसरा वर्ग आता है, जिनमें 'जैमिनीय', 'कौशीतकी' और 'ऐतरेय' ब्राह्मण मुख्य हैं। इनमें से 'जैमिनीय ब्राह्मण' सबसे पुराना और 'ऐतरेय' सबसे नया है। इनके बाद 'शतपथ ब्राह्मण' का नाम आता है। विषय, वाक्य-रचना-शैली आदि के विचार से तथा वैदिक स्वर-योग से सर्वथा भिन्न होने के कारण उक्त वेदों के बाद का ही मानना उचित है।

अन्तिम प्रहर में ब्राह्मणों का एक वर्ग आता है जिसमें कि 'अथर्ववेद' का 'गोपथ-ब्राह्मण' तथा 'सामवेद' के ब्राह्मण आते हैं।

ऋग्वेद के ब्राह्मण

(i) *ऐतरेय ब्राह्मण*—यह सबसे अधिक महत्त्व का है। यह आठ पंचिकाओं में बँटा है। प्रत्येक पंचिका में पाँच अध्याय हैं। अन्तिम दस अध्याय बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं। तद्विषयक आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हैं, यथा—शांखायन ब्राह्मण का इससे बड़े नजदीक का सम्बन्ध है किन्तु उसमें इनमें वर्णित विषय का लेश भी नहीं है। इसी प्रकार यह भी प्रतीत होता है कि इस ब्राह्मण की पहली पाँच पंचिकाएँ अन्तिम तीन पंचिकाओं की अपेक्षा पहले रची गईं। इसका एक बड़ा भाग सोम-यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। एक से सोलह अध्यायों तक एक दिन में पारित 'अग्निष्टोम' नामक सोम-यज्ञ का वर्णन है। सत्रह और अठारहवें अध्यायों में ३६० दिन में पारित होने वाले 'गवामयन' नामक सोम-यज्ञ

का वर्णन है तथा उन्नीस से चौबीस अध्यायों तक बारह दिन में पारित होने वाले 'द्वादशाह' नामक सोम-यज्ञ का वर्णन है। शेष अध्यायों में अग्नि-होत्र-यज्ञ तथा अन्य विषय वर्णित हैं। तेतीस से लेकर चालीस अध्यायों तक राज्याभिषेक तथा राजपुरोहित की स्थिति आदि का वर्णन है।

(ii) *कौशीतकी या शांखायन ब्राह्मण*—इसमें तीस अध्याय हैं। इसका विषय 'ऐतरेय ब्राह्मण' के पहले पाँच अध्यायों का ही सम्वर्धित रूप है। इसमें भी अग्नि-आधान, अग्नि-होत्र, पाक्षिक और मासिक यज्ञादि की अपेक्षा सोम-यज्ञ की ही प्रधानता है। Prof. Weber ने ईषान् और महादेव से सम्बन्धित सूक्त-विशेष को लेकर सिद्ध किया है कि यह ब्राह्मण 'शुक्ल यजुर्वेद' के अन्तिम अंश के रचना-काल में ही रचा गया। यह भी प्रतीत होता है कि यह 'ऐतरेय ब्राह्मण' के प्रथम पाँच अध्यायों के बाद की रचना है।

उक्त दोनों ब्राह्मणों में भौगोलिक निदर्शन कम मिलते हैं। इन ब्राह्मणों की एक बड़ी विशेषता इनमें कथाओं का होना है। 'शुनःशेप की कथा' ऐतरेय ब्राह्मण की ७वीं पञ्चिका के तीसरे अध्याय में वर्णित है।

ऐतरेय आरण्यक—'ऐतरेय ब्राह्मण' का इसी नाम वाले आरण्यक के साथ सम्बन्ध है। इसमें अठारह अध्याय हैं, जिन्हें कि असमान रूप से पाँच मण्डलों में बाँटा गया है। अन्तिम दो मण्डल तो सूत्रों की-सी शैली में लिखे गये हैं। पहले तीन मण्डलों में चार भाग देखने को मिलते हैं। (i) पहले मण्डल में सोम-यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र हैं, (ii) दूसरे मण्डल के प्रथम तीन अध्यायों में प्राण और पुरुष के नाम से विश्वात्मा का विवेचन है। इसका विषय लगभग अक्षर-प्रत्यक्षर 'कौषीतकी उपनिषद्' से मिलता-जुलता है। (iii) दूसरे मण्डल के शेष चार अध्यायों में 'ऐतरय उपनिषद्' का ही विषय प्रतिपादित किया गया है। (iv) तीसरे मण्डल में वेद की संहिता, पद और क्रम-पाठ नाम की उच्चारण-विधियों का वर्णन है।

कौषीतकी आरण्यक—इसका सम्बन्ध 'कौषीतकी ब्राह्मण' से है। इसमें पन्द्रह अध्याय हैं। पहले दो अध्यायों में ऐतरेय-आरण्यक के पहले

और पाँचवें मण्डल की सामग्री समाहित है। सातवें व आठवें अध्यायों में उक्त आरण्यक के तीसरे मण्डल का विषय ही प्रतिपादित है। शेष तीन से लेकर छः तक के अध्यायों में 'कौषीतकी उपनिषद्' का विषय अन्तर्भूत है।

सामवेद के ब्राह्मण

सामवेद के दो सम्प्रदाय हैं :—

(१) ताण्ड्य, (२) तलवकार या जैमिनीय।

इन दोनों ब्राह्मणों के संस्करण अब भी सुरक्षित हैं।

तलवकार शाखा का ब्राह्मण—इसमें पाँच मण्डल हैं। पहले तीन मण्डल अभी अप्रकाशित हैं। इनमें याज्ञिक विधि आदि का वर्णन है। चौथा मण्डल 'उपनिषद् ब्राह्मण' कहलाता है। इसमें 'केनोपनिषद्' की वर्णन-सामग्री-अन्तर्भूत है। पाँचवाँ मण्डल 'आर्शेय ब्राह्मण' कहलाता है जिसमें 'सामवेद' के रचयिताओं का उल्लेख है।

ताण्ड्य शाखा के ब्राह्मण

(i) *पञ्चविंश ब्राह्मण*—इसी को ताण्ड्य या प्रौढ़ ब्राह्मण भी कहते है। इसमें पचीस मण्डल हैं। इसमें सामान्यतः सोम-यज्ञ का वर्णन है। एक दिन से लेकर कई वर्षों तक में समाप्त होने वाले यज्ञों का इसमें समावेश है। इसमें कई कथाएँ आती हैं। साथ ही इसमें यह भी उल्लिखित है कि सरस्वती और दृशद्वती नदी के किनारे कौन से यज्ञ कब किसके द्वारा किये गए। इसमें 'व्रात्यष्टोम' है जिससे कि अब्राह्मण आर्य लोग ब्राह्मण बनाए जाते थे। इसमें कोषीतकीय समुदाय वालों का विरोध किया गया है।

(ii) *षड्विंश ब्राह्मण*—स्वतन्त्र रचना होने पर भी इसे पञ्चविंश ब्राह्मण में जोड़ दिया गया। इसके अन्तिम छः अध्याय 'अभूत-ब्राह्मण' कहलाते हैं जिसमें देवताओं के हँसने, चिल्लाने, गाने, नाचने आदि का उल्लेख है।

(iii) *छांदोग्य ब्राह्मण*—यह धार्मिक कर्मों की एक पाठ्य-पुस्तक

सी है । इसमें सोम-यज्ञ का वर्णन लेश-मात्र भी नहीं है । इसके पहले दो अध्यायों में केवल जन्म, विवाह, मरण सम्बन्धी तथा अन्य देव-स्तवन सम्मिलित हैं । शेष आठ अध्यायों में 'छान्दोग्य उपनिषद्' की विषय-सामग्री है ।

कृष्ण-यजुर्वेद के ब्राह्मण

'कठ-ब्राह्मण', 'मैत्रायणी ब्राह्मण' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के पाठ 'कृष्ण यजुर्वेद' में पाए जाने वाले विभिन्न गद्यमय अंशों पर आधारित हैं । इनमें से 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' सबसे अधिक महत्त्व का है । इसे तीन खण्डों में बाँट दिया गया है । इसने 'तैत्तिरीय संहिता' के विषय को ही आगे बढ़ाया है । इसमें या तो उन यज्ञों का समावेश है जो कि 'तैत्तिरीय संहिता' में छोड़ दिये गए थे, या फिर उक्त संहिता में वर्णित विषयों का ही विस्तार से प्रतिपादन किया गया है ।

'तैत्तिरीय आरण्यक' भी तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही पूरक है । इसमें दस खण्ड हैं । ७, ८ और ९वें खण्ड में तैत्तिरीय उपनिषद् की विषय-सामग्री का प्रतिपादन किया गया है तथा १०वें खण्ड में महानारायण उपनिषद् (=याज्ञिक उपनिषद्) के विषय का भी ।

यद्यपि 'मैत्रायणी संहिता' का कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण नहीं है तथापि इसके चौथे मण्डल को एक विशेष प्रकार का ब्राह्मण कहा जा सकता है । इस संहिता से सम्बन्धित 'मैत्रायण उपनिषद्' भी है, जिसे कि मैत्रा-यणी या मैत्रि उपनिषद् भी कहते हैं ।

शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण—इसमें १०० अध्याय हैं । महत्त्व की दृष्टि से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में 'ऋग्वेद' के बाद इसी का नम्बर आता है । इसके दो संस्करण मिलते हैं :—

(i) माध्यन्दिन सम्प्रदाय का संस्करण जिसका सम्पादन प्रो० वेबर ने किया ।

(ii) काण्व सम्प्रदाय का संस्करण जिसका सम्पादन Prof.

Eggeling ने किया।

माध्यन्दिन संस्करण में चौदह खण्ड हैं, जबकि काण्व संस्करण में सत्रह। माध्यन्दिन संस्करण के पहले ९ खण्ड सबसे पहले रचे गये होंगे। इनका विषय 'वाजसनेयी संहिता' के मौलिक १८ अध्यायों के विषय से मेल खाता है। इसके ४ खण्ड (१० से १३ तक) शायद बाद में रचे गए होंगे, क्योंकि इनका विषय भिन्न है। १०वें खण्ड में अग्नि-रहस्य बतलाया गया है। ११वें खण्ड में पुनः प्रकारान्तर से वही बात कही गई है। १२वें और १३वें खण्डों में विविध विषयों का प्रतिपादन है। इसके १३वें खण्ड से ही माध्यन्दिन शाखा का 'शतपथ आरण्यक' बना है। इस आरण्यक के अंतिम ६ अध्यायों से ही 'बृहदारण्यक उपनिषद्' बना है।

शतपथ ब्राह्मण के दो विभिन्न अंशों को दो विभिन्न कर्ताओं की कृति माना जाता है—

(i) पाँच खण्डों (६ से १० तक) में यज्ञ-वेदी की विधि ही मुख्य विषय है। शाण्डिल्य के उपदेश ही सर्वप्रमुख प्रमाण माने गये हैं। याज्ञवल्क्य का नाम भी नहीं आता। इनमें उत्तर-पश्चिम भारत में रहने वाले गान्धार, सल्व, केकय आदि लोगों के नाम आये हैं।

(ii) शेष खण्डों में याज्ञवल्क्य की ही सर्वाधिक प्रामाणिकता स्वीकृत की गई है। इसमें पूर्वीय या मध्य भारत के कुरु-पञ्चाल, कोशल, विदेह, भृञ्जय आदि लोगों के नाम आए हैं। इन दोनों भागों में भाषा का अन्तर भी पाया जाता है।

'शतपथ ब्राह्मण' के भौगोलिक उल्लेखों से पता चलता है कि उस समय भी कुरु-पञ्चाल देश ही ब्राह्मण सभ्यता के केन्द्र थे। इसमें कुरुराज जनमेजय तथा गुरु आरुणि का वर्णन मिलता है जोकि पाञ्चाल थे। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि ब्राह्मण सभ्यता उस समय कोशल, विदेह आदि तक फैल चुकी थी। विदेहराज जनक के दरबार में कुरु-पञ्चाल देश के पण्डितों का जमघट लगा रहता था और शास्त्रार्थ होते थे।

'शतपथ ब्राह्मण' का महत्त्व कथात्मकता की दृष्टि से भी है। एक

कथा इस प्रकार है :—

विदेघ (विदेह का प्राचीन रूप) देश के राजा माठव अपने राज-पुरोहित गोतम राघूगण के साथ सरस्वती के किनारे बैठे यज्ञ कर रहे थे। सहसा अग्नि वैश्वानर उठकर पूर्व की ओर चल पड़ी। राजा और पुरोहित उसके पीछे-पीछे चले। वे सदानीरा (सम्भवतः आज की गण्डक) नदी के किनारे आए। इस नदी को ब्राह्मणों ने पहले कभी पार नहीं किया था। उसके पार उजाड़ और दलदली प्रदेश था। राजा माठव ने वैश्वानर से पूछा कि 'अब मैं कहाँ रहूँ ?' अग्नि ने उत्तर में उस नदी के पार रहने को कहा। उस अग्नि ने उस प्रदेश को जलाकर पवित्र कर दिया और वहाँ वह राजा सपरिजन रहने लगा। इस कथा में वैश्वानर अग्नि ब्राह्मण सभ्यता की वाची है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय ब्राह्मण सभ्यता सरस्वती से पूर्व की ओर बढ़कर सदानीरा तक फैल चुकी थी।

'शतपथ ब्राह्मण' में बौद्ध धर्म के जन्म का, सांख्यदर्शन के माने हुए पण्डित आसुरी का, कुरुपति जनमेजय का, पाण्डवों में प्रधान अर्जुन का तथा विदेहराज जनक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण में कथा-भाग

'ऋग्वेद' में आये हुए पुरूरवा-उर्वशी के आख्यान को इस ब्राह्मण में बड़ी विशदता से प्रतिपादित किया गया है। इसमें दुष्यन्त-शकुन्तला के पुत्र भरत की भी कथा है। दूसरी कथा प्रलय-सम्बन्धी है। वह इस प्रकार है—मनु को कभी एक छोटी-सी मछली मिली, जिसने कहा कि वह उसका पालन-पोषण करे। उसने यह वचन दिया कि वह मनुष्यों को प्रलय की बाढ़ से बचा लेगी। उसकी प्रेरणा से ही मनु ने एक जहाज़ बनाया। जल-प्लावन काल में उसी में बैठकर वे बच गए। बाद में अपनी पुत्री के साथ अवैध सम्बन्ध करके उन्होंने मानव-जाति को जन्म दिया।

शुनः शेपाख्या—राजा हरिश्चन्द्र ने यज्ञ द्वारा वरुण को प्रसन्न

करके पुत्र-प्राप्ति की। वरुण ने पुत्र-प्राप्ति का वरदान इस शर्त पर दिया कि वह जब चाहेगा उस पुत्र को ले लेगा। हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहित जब युवा हुआ तो वरुण ने उसे माँगा। राजा हरिश्चन्द्र पुत्र की बलि देने को उद्यत हुए, किन्तु रोहित जंगल को भाग गया। इधर वरुण ने राजा को दण्ड दिया। उसे जलोदर हो गया। इसकी खबर पाते ही रोहित वापिस आने लगा। मार्ग में इन्द्र मिला और उसने रोहित के सुन्दर भाग्य की प्रशंसा करके उसे बराबर घूमते रहने के लिए कहा। इस प्रकार पाँच वर्ष बीत गए। जब-जब वह घर लौटने की इच्छा करता, तब-तब इन्द्र आकर उसे घूमते रहने की सलाह दे जाता। छठे साल में रोहित को भूख से तड़पता हुआ अजीगर्त ऋषि मिला, जिसके कि शुनः पुच्छ, शुनःशेप और शुनो लाँगूल ये तीन पुत्र थे। रोहित अजीगर्त को एक पुत्र के बदले १०० गायें देने का वचन देता है। अजीगर्त राजी हो जाता है। किन्तु वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को नहीं देना चाहता और उसकी स्त्री कनिष्ठ पुत्र को नहीं देना चाहती। फलतः मध्यम पुत्र शुनःशेप को लेकर रोहित पिता के घर लौट आता है। वरुण शुनःशेप की बलि स्वीकार कर लेता है, क्योंकि एक क्षत्रिय की अपेक्षा एक ब्राह्मण की बलि उसे अधिक प्रिय होगी। इस प्रकार शुनःशेप यज्ञस्तूप में पशु की जगह बाँध दिए जाने के लिए तैयार खड़ा है, किन्तु कोई उसे बाँधने को तैयार नहीं। अन्त में अजीगर्त कहता है कि यदि उसे १०० गायें और दी जायें तो वह बाँध देगा। वचन मिलने पर वह उसे बाँध देता है। पुनः एक सौ गायों का वचन ले लेने पर वह शुनःशेप का वध करने के लिए बढ़ता है। अपनी मृत्यु को पास आया हुआ देख शुनःशेप देवताओं की स्तुति करता है। जब वह तीन ऋचाओं द्वारा उषा की स्तुति करता है तो उसके अधिकांश बन्धन खुल जाते हैं। उधर राजा का रोग भी हलका होने लगता है। ज्यों ही चौथी ऋचा समाप्त होती है त्यों ही शुनःशेप बन्धनमुक्त हो जाता है और राजा रोगमुक्त। इसके बाद पुरोहित-वर्ग एक महोत्सव करके शुनःशेप का स्वागत करते हैं। विश्वामित्र उस महोत्सव में होने वाले यज्ञ का 'होता' है। वह अपने

१०० पुत्रों की उपेक्षा कर शुनःशेप को अपने पुत्र-रूप में स्वीकृत करके अपना उत्तराधिकारी घोषित करता है। इस आख्यान का पाठ राजाओं के राज्याभिषेक के समय किया जाता था। यह बहुत प्राचीन होगा, क्योंकि इसमें नर-बलि का उल्लेख है। ब्राह्मणों में अन्यत्र या श्रौत-सूत्र में यह कहीं नहीं मिलता कि नर-बलि होती हो। हो सकता है कि प्रागैतिहासिक काल में इस प्रकार की बलि होती हो। किन्तु यह निश्चित है कि यह आख्यान 'ऋग्वेद' के बाद का है।

अन्य कथाओं में शुनःशेप के आख्यान-जैसी पूर्णता नहीं है। इनका एक विशेष उद्देश्य होता है कि अमुक यज्ञ का उत्सव क्यों किया जाता है, तथा उसका क्या महत्त्व है। इनमें से कुछ तो पुराने आख्यानों पर आधारित हैं और कुछ नवीन आविष्कृत। नवीन आकर्षित कथाओं में कुछ चित्ताकर्षक भी हैं। यथा एक कथा में बतलाया गया है कि प्रजापति को उद्देश्य करके कही गई ऋचाएँ क्यों धीमे स्वर में कही जाती है। वह कथा इस प्रकार है :—

एक बार बुद्धि और वाक् में कलह होता है। बुद्धि कहती है कि 'मैं श्रेष्ठ हूँ, वाक् कहती है कि 'मै'। बुद्धि ने कहा कि 'जो मैं समझ लेती हूँ वही तो वह कहती हैं, अस्तु, मैं तुमसे श्रेष्ठतर हूँ'। वाक् ने कहा कि 'समझ लेने पर भी तो तू उसे दूसरों पर स्पष्ट नहीं कर सकती, यह तो मैं करती हूँ इसलिए मै श्रेष्ठ हूँ'। न्याय के लिए दोनों प्रजापति के पास गईं। प्रजापति ने बुद्धि को श्रेष्ठतर ठहराया। वाक् को बुरा लगा उसने प्रजापति से कहा कि मैं तुम्हारी प्रशंसा करने वालों का साथ न दूँगी। जब वे अन्य की प्रशंसा करें तब जरूर उनकी सहायता करूँगी। यही कारण है कि प्रजापति के प्रति की गई स्तुतियाँ मन्द स्वर में कही जाती हैं क्योंकि वाक् उससे रूठी है न! वाक् से सम्बन्धित कई कथाएँ हैं। वह स्त्री के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती है। एक कथा इस प्रकार है :—

'सोम' स्वर्ग में था। गायत्री एक चिड़िया बनकर उसे चुराकर नीचे लाई, किन्तु उससे भी एक गन्धर्व ने सोम को चुरा लिया। अब देवताओं

ने यह समझकर कि गन्धर्व स्त्री-प्रेमी होते हैं, वाक् को इस काम के लिए भेजा। उसने पता लगा लिया कि सोम गन्धर्वों के पास है। देवताओं ने उसे वापस माँगा। गन्धर्वों ने शर्त रखी कि 'सोम' को ले लो किन्तु वाक् को हमारे हवाले कर दो। जब वाक् गन्धर्वों के पास से देवताओं के पास आई, तो उसने बहुत शान और अकड़ की, क्योंकि गन्धर्वों ने प्रेम-प्रदर्शन में उसकी बड़ी तारीफ़ की थी। यही कारण है कि आज भी स्त्रियाँ उसी ओर खिचती हैं जो कि उनकी चापलूसी और प्रशंसा करते हैं।

ब्राह्मणों में बहुत सी पुराण-कथाएँ भी मिलती हैं। ये आख्यानों या इतिहासों से भिन्न हैं। इन्हें उत्पत्ति-कथाएँ कहना उचित होगा। उदाहरण के लिए चतुर्वर्ग की उत्पत्ति-कथा :—

'ऋग्वेद' के पुरुष सूक्त में बतलाया है कि पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहों से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र पैदा हुए। इसी प्रकार ब्राह्मणों में पुराण कथा है कि—प्रजापति ने अपने मुख से अग्नि और ब्राह्मणों को, वक्षस्थल से और बाहुओं से इन्द्र और क्षत्रियों को, मध्य भाग से सभी देवताओं को और वैश्यों को तथा पैरों से शूद्रों को पैदा किया। शूद्रों के साथ किसी भी देवता का जन्म नहीं हुआ।

रात्रि उत्पत्ति कथा—यम के मर जाने पर उसकी बहन यमी बहुत रोया करती थी। देवताओं के पूछने पर वह रोज़ यही कहा करती थी कि वह (यम) आज मरा है। उस समय केवल दिन होता था। परन्तु उसे 'आज' ही लगा करता था। देवताओं ने उसका दुःख कम करने के लिए रात्रि बनाई। आज भी रात बहुत से पीड़ितों को शान्ति देती है।

पर्वत उत्पत्ति कथा—प्रजापति के सबसे पहले बेटे पर्वत ही थे। इनके पंख थे। जहाँ चाहते उड़ते फिरते थे। पृथ्वी भी उन दिनों इधर-उधर डोला करती थी। इन्द्र ने इनके पंख काटकर इन्हें पृथ्वी पर स्थान-स्थान पर बैठा दिया। इस प्रकार ये भी अचल हो गए और पृथ्वी भी।

वे कटे हुए पंख ही बादल हैं, जो कि हमेशा पहाड़ों की तरफ़ ही बढ़ा करते हैं।

अग्नि होत्र यज्ञ की उत्पत्ति कथा—'शतपथ ब्राह्मण' में एक कथा है कि प्रजापति पहले अकेले थे। अपने को अनेक कष्ट देकर उन्होंने अपने मुख से अग्नि पैदा की। पैदा होते ही वह ब्रह्मा को ही खाने दौड़ी। प्रजापति भागे। इसके बाद ही कथा को इस प्रकार बढ़ाया है कि प्रजापति ने हथेलियाँ रगड़कर दूध प्राप्त किया। इसीसे वनस्पति संसार का जन्म हुआ। पुनः ऐसा ही करने पर सूर्य और वायु का जन्म हुआ। इस प्रकार प्रजापति ने एक ओर तो अपने वंश को बढ़ाया और दूसरी ओर अग्नि से अपने प्राण बचाये। इसी प्रकार जो अग्नि-होत्र करता है उसके प्राणों की भी रक्षा होती है और वह अपने वंश का विस्तार भी करता है।

ब्राह्मण कथाओं में प्रजापति को सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त है। किन्तु वस्तुतः उसका स्थान बड़ा दयनीय और तुच्छ-सा है। 'शतपथ ब्राह्मण' (१०, २, २) के अनुसार देवों ने स्वयं उसी की बलि चढ़ा दी। एक बार इसके अपनी पुत्री द्यु या उषा के साथ व्यभिचार करने के पाप से क्षुब्ध होकर देवताओं ने अपने क्रोध से रुद्र को पैदा किया, जिसने कि अपने बाण से इसे छेद दिया।

यह बात ध्यान देने की है कि ब्राह्मणों में कोई ऐसी उत्पत्ति-कथा नहीं है जो कि 'बाइबिल' में आई कथा के समान हो। इनमें अनेक उत्पत्ति-कथाएँ हैं और ये परस्पर साम्य नहीं रखतीं। कोई कथा कुछ बतलाती है, कोई कुछ। इस प्रकार एक सिलसिला नहीं बँध पाता। उदाहरण के लिए अब तक की सृष्टि-उत्पत्ति-कथाओं से पूर्णतः भिन्न एक कथा लीजिये:—

प्रजापति ने अपने को संपीड़ित कर प्राणियों को जन्म दिया। पहले पशु, फिर चिड़ियाँ, फिर रेंगने वाले कीड़े, फिर सर्पादि उत्पन्न हुए। किन्तु पैदा होते ही ये सब मर गए और प्रजापति पुनः अकेले रह गए। कारण सोचने पर मालूम हुआ कि भोजन की कमी के कारण ये

मरे। उन्होंने पुनः उन्हें पैदा दिया, किन्तु इस बार उनमें से मादा प्राणियों में दूध का आयोजन कर दिया। अब इस बार सृष्टि ठहर गई। पुनः दूसरी जगह मिलता है कि प्रजापति ने अपने शक्तिशाली अंगों से पशुओं, मस्तिष्क से मनुष्य, आँखों से घोड़ा, श्वास से गाय, कान से भेड़ और अपनी ध्वनि से बकरी पैदा की। मस्तिष्क से पैदा होने के कारण मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान जीव है।

अधिकतर कथाओं में प्रजापति को ही सृष्टि-कर्त्ता माना गया है। किन्तु 'शतपथ ब्राह्मण' में एक कथा ऐसी भी है जिसके अनुसार स्वयं ब्रह्मा का भी उत्पन्न किया गया है और सृष्टि की उत्पत्ति तो जल से, अभाव से, या ब्रह्म से हुई। सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक एक अन्य महत्त्वपूर्ण आख्यान है जिसके अनुसार सबसे पहले केवल असत् था किन्तु तुरन्त ही बतलाया गया कि असत् ऋषियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्होंने ही आत्म-दमन और आत्म-संपीड़न करके प्रत्येक वस्तु को जन्म दिया। ये ऋषि ही प्राण थे और इन्होंने पहले सात पुरुष बनाए। इन सातों को संयोजित करके एक पुरुष बनाया। इसी का नाम प्रजापति है। प्रजापति ने अपना वंश बढ़ाना चाहा। उसने अपने को संपीड़ित और संमर्दित करके ब्रह्म को जन्म दिया। इसी का नाम 'त्रयी' विद्या है। यही प्रजापति की आधार-शिला है। इस पर खड़े होकर प्रजापति ने पुनः स्वयं को संपीड़ित किया और सबसे पहले जल को बनाया। वेद की सहायता से उसने एक अण्डे को जन्म दिया, जिससे अग्नि का जन्म हुआ। उस अण्डे का छिलका ही पृथ्वी की परत बनी।

ब्रह्म को सृष्टि का उत्पादक मानने की बात भी 'शतपथ ब्राह्मण' (११, २, ३, १) में मिल जाती है :—

"सबसे पहले केवल ब्रह्म ही था। इसने ही देवताओं को जन्म दिया और फिर उन्हें रहने के लिए ये स्थान दिये—अग्नि को पृथ्वी, वायु को द्यु लोक और सूर्य को स्वर्ग।"

उक्त कथाएँ केवल कथा-मात्र ही नहीं हैं, किन्तु इनमें अनेक रहस्य विद्यमान हैं, जैसे—मनु-कथा में मत्स्य-वृद्धि सूर्य का उदय होकर बढ़ने

को लक्षित करता है। इन कथाओं का भाव स्व० श्री पं० शिवशंकर जी शर्मा काव्यतीर्थ ने अच्छा प्रदर्शित किया है। उस भाव के बिना कथाएँ जीवातु रहती प्रतीत होती हैं।

ब्राह्मण साहित्य में 'शतपथ ब्राह्मणों' को अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा आधुनिक माना जाता है। प्रमाण—(i) अन्य ब्राह्मणों से इसकी शैली अधिक परिस्कृत एवं सुस्पष्ट है। (ii) इसमें जिन धार्मिक क्रियाओं का वर्णन है वे अपेक्षाकृत अधिक क्रमबद्ध हैं। (iii) धर्म के क्षेत्र में भी इसमें विश्वैक्य का भाव अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ व्यक्त किया गया है। (iv) इसका उपनिषद् 'ईशोपनिषद्' वैदिक दर्शन का सर्वोत्तम रत्न है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण—इसमें दो खण्ड हैं। पहले में पांच अध्याय हैं और दूसरे में छः। यह रचना बहुत बाद की है। यहाँ तक कि 'वैतान-सूत्र' भी इसके पहले रचे जा चुके थे। इसका पूर्वार्ध तो मौलिक है, किन्तु शेष भाग 'शतपथ ब्राह्मण' के ११वें और १२वे खण्ड तथा 'ऐतरेय-ब्राह्मण' की विषय-सामग्री से परिपूर्ण है। इसमें 'शिव' शब्द का आना इस बात का द्योतक है कि यह न केवल ब्राह्मण काल से ही किन्तु वैदिक काल के भी बाद का है। इसमें व्याकरण के सुन्दर एवं उत्कृष्ट कोटि के प्रयोग मिलते हैं। ये भी इसका बाद में रचा जाना सिद्ध करते हैं। इसने 'ऐतरेय' व 'कौषीतकी' ब्राह्मणों से, 'मैत्रायणी' व 'तैत्तिरीय' संहिताओं से तथा कुछ-कुछ 'शतपथ' तथा 'पञ्चविंश' ब्राह्मणों से भी विषय लिया है।

आरण्यक और उपनिषद्

ब्राह्मणों और उपनिषदों के अनेक अंश इस बात के द्योतक हैं कि प्राचीन भारत के बौद्धिक जीवन और साहित्यिक जीवन में क्षत्रिय जाति का विशेष हाथ रहा है। 'कौषीतकी ब्राह्मण' में प्रतिदिन राजा एक पुरोहित के साथ याज्ञिक विधियों के विषय में बातचीत करता है। 'शतपथ-

ब्राह्मण' के ६वें अध्याय में राजा जनक का नाम आता है, जिन्होंने अपने ज्ञान से सभी पुरोहितों को चमत्कृत कर दिया था। उन्होंने श्वेतकेतु, सोमसुषमा और याज्ञवल्क्य आदि पुरोहितों से अग्नि-होत्र के विधान के विषय में प्रश्न किये हैं, किन्तु उनमें से कोई उन्हें सन्तोषजनक उत्तर न दे सका। याज्ञवल्क्य को सौ गायों का पुरस्कार मिला था, क्योंकि वह काफ़ी गहराई तक पहुँचा था। किन्तु उससे भी राजा जनक ने कहा कि तुम भी इसे पूर्णता से नहीं जान पाये।

इन ऋचाओं के प्रणेता सदैव पुरोहित ही नहीं हुआ करते थे। प्रमाण-स्वरूप कवश का नाम लिया जा सकता है। वह एक अब्राह्मण दासी का पुत्र था। वह जब भी किसी यज्ञ में भाग लेना चाहता था, तब ही पुरोहित लोग उसे धक्के मारकर भूख-प्यास से तड़पने के लिए निकाल बाहर करते थे। सरस्वती को उस पर दया आई। उसे किसी एक मन्त्र के दर्शन हो गए। इस पर पुरोहितों ने उसे एक ऋषि मानकर अपने वर्ग में मिला लिया।

उपनिषदों से यह बात स्पष्ट है कि उस समय की महिलाएँ भी बड़ी विदुषी हुआ करती थीं। 'वृहदारण्यक' उपनिषद् में वचक्नु की पुत्री गार्गी याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करती है। इसी उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी को आत्मा-सम्बन्धी उच्चतम शिक्षा देते हैं।

इस उच्चतम ज्ञान पर पुरोहितों का कितना कम अधिकार था यह बात रैक्व की रोचक कथा से स्पष्ट हो जाती है। वह अपनी बैलगाड़ी के अन्दर बैठा शरीर खुजला रहा था, किन्तु अपने ज्ञान के कारण उसे राजा का-सा गर्व भी था। इतने में एक धनिक जनश्रुति उसके पास जाकर शिक्षा लेना चाहता है, किन्तु रैक्व उसे शूद्र कहकर भगा देता है। अन्त में जब जनश्रुति उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता है तब वह उसे शिक्षा देने के लिए राज़ी होता है। सत्यकाम की कथा सभी जानते होंगे। वह जबाला का पुत्र था। विद्याध्ययन-हेतु जाने के पूर्व उसने माँ से अपना गोत्र पूछा। माँ ने बतलाया कि वह किस गोत्र का है यह तो उसे स्वयं ही नहीं मालूम। उसने बतलाया कि मैं अति-

थियों की सेवा करने के लिए नियुक्त थी तभी मैंने तुम्हें गर्भ में धारण किया। जब सत्यकाम से उसके गुरु गौतम हारिद्रुयत् ने उसका वंश पूछा तो उसने अपने माँ के द्वारा कही बात ज्यों-की-त्यों दोहरा दी और बतलाया कि मेरा नाम सत्यकाम जाबाल है। गुरु ने उसकी सत्यवादिता से प्रसन्न होकर उसे अपना शिष्य बना लिया।

बाद के ग्रन्थों में इस बात पर बार-बार ज़ोर दिया गया है कि ब्राह्मण ही वेदाध्ययन करें। प्रमथ तीन वर्ण ही वेदाध्ययन के अधिकारी माने गए। किन्तु उपनिषदों में ऐसी बात नहीं। यहाँ तो उल्टे क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को उपदेश दिया। यथा—श्वेतकेतु के पिता गौतम विद्या-लाभार्थ राजा प्रवाहण के पास जाते हैं। इस प्रकार उन्हें आत्मा के आव-गमन का ज्ञान मिलता है। यह सिद्धान्त क्षत्रिय जाति की ही देन है।

उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त 'आत्मा' सम्बन्धी है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी अब्राह्मणों ने किया। 'पाँच प्रकाण्ड पण्डित आत्मा का सिद्धान्त समझने के लिए उद्दालक आरुणि के पास गए। किन्तु अपने को शिक्षा देने में असमर्थ पाकर उसने उन्हें राजा अश्वपति कैकेय के पास भेज दिया।' किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इन दार्श-निक विचार-परम्पराओं में ब्राह्मणों का हाथ था ही नहीं। पहले तीन वर्णों के विद्यार्थी उनकी पाठशालाओं में विद्याध्ययनार्थ आते थे। यह भी नहीं था कि प्रत्येक ब्राह्मण अध्ययन-कार्य ही करे। कुछ ब्राह्मण अन्य धन्धे भी करते थे। चार आश्रम वाला सिद्धान्त ब्राह्मणों द्वारा ही सर्वप्रथम प्रतिपादित हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक आर्य को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों से होकर गुज़रना पड़ता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों या उनके परिशिष्टों में हमें आरण्यकों के दर्शन होते हैं। आरण्यक उन मन्त्रों को कहते हैं, जो सर्वश्राव्य न हों, रहस्यमय हों, अश्लील हों, विकृत स्वर या दीर्घ स्वर वाले हों, ख़तरे से भरपूर हों, इसीलिए इनका पाठ नगरों या देहातों में न होकर जंगलों में होता था और इसीलिए इसका नाम आरण्यक पड़ा। इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय याज्ञिक विधाय, मन्त्र आदि की विवेचना न होकर यज्ञों की गूढ़ता,

लाक्षणिकता तथा पौरोहित्य-दर्शन है ।

कुछ पुरातन उपनिषद् तो इन आरण्यकों में सम्मिलित हो जाते हैं और कुछ उनके परिशिष्ट अंश का काम करते हैं । इस प्रकार आरण्यकों और उपनिषदों में भेद की रेखा खींचना कठिन है। ये दोनों मिलकर 'वेदान्त' का निर्माण करते हैं । यह भी ध्यान देने की बात है कि वैदिक साहित्य के इस अंग की सभी पुस्तकें लिखित नहीं है । कुछ का गुरु के मुख से शिष्यों के पास स्थानान्तरण होता रहा है । जो विषय कठिन, गूढ़ व रहस्यमय थे उन्हें इस काल की शिक्षा में सबसे बाद में रख दिया। वेदान्त की भाँति आरण्यक और उपनिषद् भी विभिन्न वैदिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध हैं :—

(i) 'ऐतरेय आरण्यक' और 'ऐतरेय उपनिषद्' का सम्बन्ध 'ऋग्वेद' के 'ऐतरेय ब्राह्मण' से है ।

(ii) 'कौषीतकी आरण्यक' और 'कौषीतकी उपनिषद्' का सम्बन्ध 'ऋग्वेद' के कौषीतकी ब्राह्मण से है ।

(iii) 'तैत्तिरीय आरण्यक', 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के विचारों को ही आगे बढ़ाता है । इस आरण्यक की पूर्त्ति 'तैत्तिरीय उपनिषद्' और 'महा-नारायण उपनिषद्' करते हैं ।

(iv) 'शुक्ल यजुर्वेद' के 'शतपथ ब्राह्मण' में १४वें मण्डल का पहला तिहाई भाग तो आरण्यक है और शेष अन्तिम भाग 'वृहदारण्यक उप-निषद्' कहलाता है जो कि सभी उपनिषदों में सबसे बड़ा और महत्व-पूर्ण है ।

(v) 'छान्दोग्य उपनिषद्' का पहला भाग एक आरण्यक है । इसका सम्बन्ध सम्भवतः 'सामवेद' के 'तांड्य ब्राह्मण' से है ।

(vi) 'सामवेद' के जैमिनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित 'जैमिनीय उप-निषद् ब्राह्मण' नामक उपनिषद् है । 'केनोपनिषद्' इसी का एक अंग है । इसे 'तलवकार उपनिषद्' भी कहते हैं ।

'महानारायण उपनिषद्' को छोड़कर शेष उपनिषदें बहुत पुरानी हैं । भाषा और शैली में वे ब्राह्मणों से समता रखती हैं । इनमें भी वही

सीधा-सादा गद्य मिलता है। सबसे बाद का उपनिषद् 'केनोपनिषद्' है जिसका आधा भाग छन्दोबद्ध है। ऐतरेय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकी और केन ये छः उपनिषद् अपने इतिहास में सबसे पुराने हैं। इनमें वेदान्त सिद्धान्त अपने शुद्ध रूप में प्रतिपादित किया गया है।

कुछ उपनिषद्, जो कि सम्पूर्ण अथवा अंशतः पद्य में लिखे गए हैं, बाद के हैं। किन्तु ये भी बौद्ध धर्म से पूर्व के ही हैं। इस कोटि में उपनिषद् आते हैं—

(i) कठ या काठक उपनिषद्—इसका सम्बन्ध 'कृष्ण यजुर्वेद' से से है। (ii) 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' और 'महानारायण उपनिषद्' भी 'कृष्ण यजुर्वेद' से ही सम्बन्धित हैं। (iii) ईशोपनिषद्—यह छोटा किन्तु बड़ा महत्वपूर्ण है। 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'वाजसनेयी शाखा' के अन्तिम भाग से इसका सम्बन्ध है। (iv) मुण्डकोपनिषद् और प्रश्नोपनिषद् आधे पद्य और आधे गद्य में हैं। इनका सम्बन्ध 'अथर्ववेद' से है।

इन चार उपनिषदों में भी वेदान्त सिद्धान्त हैं किन्तु इनके बीच-बीच में सांख्य और योग के भी सिद्धान्त पाये जाते हैं।

उत्तर-कालीन उपनिषद्

मैत्रायणी उपनिषद्—इसका सम्बन्ध 'कृष्ण यजुर्वेद' से है। इसका रचना-काल बौद्ध धर्म के बाद का है शायद शास्त्रीय संस्कृत के काम का। यह गद्यमय है। इसमें कहीं भी वैदिक चिह्न नहीं मिलते।

माण्डूक्योपनिपद्—इसका सम्बन्ध 'अथर्ववेद' से है। इसका काल भी बौद्ध धर्म के बाद का ही है।

शंकर ने पूर्वोक्त बारह उपनिषदों का ब्रह्मसूत्र की टीका में उल्लेख किया है, किन्तु अन्तिम दो का कोई ज्ञापक चिह्न नहीं है। अतः स्पष्ट है कि इन दो उपनिषदों का काल शंकर के भी बाद का है। किन्तु उनकी गणना भी वैदिक उपनिषदों में कर लेनी चाहिए। इस प्रकार वैदिक उपषिनदों की संख्या चौदह है। इनके अतिरिक्त १०० उपनिषद् और मिलते हैं, किन्तु वे बहुत पीछे के हैं। वेदों से इनका उतना सम्बन्ध

२. अर्थवाद—मन्त्रों का प्रशंसादि द्वारा अर्थज्ञान कराना।

३. उपनिषद्—किसी वस्तु-विशेष-विषयक धार्मिक-दार्शनिक आदि विचार।

ब्राह्मण ग्रन्थों का काल-क्रम

सभी ब्राह्मण एक काल में ही नहीं बने। 'पञ्चविंश' एवं 'तैत्तिरीय' ब्राह्मण वाक्य-रचना (syntex) एवं शब्दकोष (vocabulary.) को देखते हुए सबसे पुराने निर्धारित किए जाते हैं। इनका स्वर-संचार (acecnt) भी इसी सत्यता का पोषक है।

इसके बाद ब्राह्मणों का दूसरा वर्ग आता है, जिनमें 'जैमिनीय', 'कौशीतकी' और 'ऐतरेय' ब्राह्मण मुख्य हैं। इनमें से 'जैमिनीय ब्राह्मण' सबसे पुराना और 'ऐतरेय' सबसे नया है। इनके बाद 'शतपथ ब्राह्मण' का नाम आता है। विषय, वाक्य-रचना-शैली आदि के विचार से तथा वैदिक स्वर-योग से सर्वथा भिन्न होने के कारण उक्त वेदों के बाद का ही मानना उचित है।

अन्तिम प्रहर में ब्राह्मणों का एक वर्ग आता है जिसमें कि 'अथर्ववेद' का 'गोपथ-ब्राह्मण' तथा 'सामवेद' के ब्राह्मण आते हैं।

ऋग्वेद के ब्राह्मण

(i) *ऐतरेय ब्राह्मण*—यह सबसे अधिक महत्त्व का है। यह आठ पंचिकाओं में बँटा है। प्रत्येक पंचिका में पाँच अध्याय हैं। अन्तिम दस अध्याय बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं। तद्विषयक आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हैं, यथा—शांखायन ब्राह्मण का इससे बड़े नजदीक का सम्बन्ध है किन्तु उसमें इनमें वर्णित विषय का लेश भी नहीं है। इसी प्रकार यह भी प्रतीत होता है कि इस ब्राह्मण की पहली पाँच पंचिकाएँ अन्तिम तीन पंचिकाओं की अपेक्षा पहले रची गईं। इसका एक बड़ा भाग सोम-यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। एक से सोलह अध्यायों तक एक दिन में पारित 'अग्निष्टोम' नामक सोम-यज्ञ का वर्णन है। सत्रह और अठारहवें अध्यायों में ३६० दिन में पारित होने वाले 'गवामयन' नामक सोम-यज्ञ

का वर्णन है तथा उन्नीस से चौबीस अध्यायों तक बारह दिन में पारित होने वाले 'द्वादशाह' नामक सोम-यज्ञ का वर्णन है। शेष अध्यायों में अग्नि-होत्र-यज्ञ तथा अन्य विषय वर्णित हैं। तेतीस से लेकर चालीस अध्यायों तक राज्याभिषेक तथा राजपुरोहित की स्थिति आदि का वर्णन है।

(ii) *कौशीतकी या शांखायन ब्राह्मण*—इसमें तीस अध्याय हैं। इसका विषय 'ऐतरेय ब्राह्मण' के पहले पाँच अध्यायों का ही सम्वर्धित रूप है। इसमें भी अग्नि-आधान, अग्नि-होत्र, पाक्षिक और मासिक यज्ञादि की अपेक्षा सोम-यज्ञ की ही प्रधानता है। Prof. Weber ने ईषान् और महादेव से सम्बन्धित सूक्त-विशेष को लेकर सिद्ध किया है कि यह ब्राह्मण 'शुक्ल यजुर्वेद' के अन्तिम अंश के रचना-काल में ही रचा गया। यह भी प्रतीत होता है कि यह 'ऐतरेय ब्राह्मण' के प्रथम पाँच अध्यायों के बाद की रचना है।

उक्त दोनों ब्राह्मणों में भौगोलिक निदर्शन कम मिलते हैं। इन ब्राह्मणों की एक बड़ी विशेषता इनमें कथाओं का होना है। 'शुनःशेप की कथा' ऐतरेय ब्राह्मण की ७वीं पञ्चिका के तीसरे अध्याय में वर्णित है।

ऐतरेय आरण्यक—'ऐतरेय ब्राह्मण' का इसी नाम वाले आरण्यक के साथ सम्बन्ध है। इसमें अठारह अध्याय हैं, जिन्हें कि असमान रूप से पाँच मण्डलों में बाँटा गया है। अन्तिम दो मण्डल तो सूत्रों की-सी शैली में लिखे गये हैं। पहले तीन मण्डलों में चार भाग देखने को मिलते हैं। (i) पहले मण्डल में सोम-यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र हैं, (ii) दूसरे मण्डल के प्रथम तीन अध्यायों में प्राण और पुरुष के नाम से विश्वात्मा का विवेचन है। इसका विषय लगभग अक्षर-प्रत्यक्षर 'कौषीतकी उपनिषद्' से मिलता-जुलता है। (iii) दूसरे मण्डल के शेष चार अध्यायों में 'ऐतरय उपनिषद्' का ही विषय प्रतिपादित किया गया है। (iv) तीसरे मण्डल में वेद की संहिता, पद और क्रम-पाठ नाम की उच्चारण-विधियों का वर्णन है।

कौषीतकी आरण्यक—इसका सम्बन्ध 'कौषीतकी ब्राह्मण' से है। इसमें पन्द्रह अध्याय हैं। पहले दो अध्यायों में ऐतरेय-आरण्यक के पहले

और पाँचवें मण्डल की सामग्री समाहित है। सातवें व आठवें अध्यायों में उक्त आरण्यक के तीसरे मण्डल का विषय ही प्रतिपादित है। शेष तीन से लेकर छः तक के अध्यायों में 'कौषीतकी उपनिषद्' का विषय अन्तर्भूत है।

सामवेद के ब्राह्मण

सामवेद के दो सम्प्रदाय हैं :—

(१) ताण्ड्य, (२) तलवकार या जैमिनीय।

इन दोनों ब्राह्मणों के संस्करण अब भी सुरक्षित हैं।

तलवकार शाखा का ब्राह्मण—इसमें पाँच मण्डल हैं। पहले तीन मण्डल अभी अप्रकाशित हैं। इनमें याज्ञिक विधि आदि का वर्णन है। चौथा मण्डल 'उपनिषद् ब्राह्मण' कहलाता है। इसमें 'केनोपनिषद्' की वर्णन-सामग्री-अन्तर्भूत है। पाँचवाँ मण्डल 'आर्शेय ब्राह्मण' कहलाता है जिसमें 'सामवेद' के रचयिताओं का उल्लेख है।

ताण्ड्य शाखा के ब्राह्मण

(i) *पञ्चविंश ब्राह्मण*—इसी को ताण्ड्य या प्रौढ़ ब्राह्मण भी कहते है। इसमें पचीस मण्डल हैं। इसमें सामान्यतः सोम-यज्ञ का वर्णन है। एक दिन से लेकर कई वर्षों तक में समाप्त होने वाले यज्ञों का इसमें समावेश है। इसमें कई कथाएँ आती हैं। साथ ही इसमें यह भी उल्लिखित है कि सरस्वती और दृशद्वती नदी के किनारे कौन से यज्ञ कब किसके द्वारा किये गए। इसमें 'व्रात्यष्टोम' है जिससे कि अब्राह्मण आर्य लोग ब्राह्मण बनाए जाते थे। इसमें कोषीतकीय समुदाय वालों का विरोध किया गया है।

(ii) *षड्विंश ब्राह्मण*—स्वतन्त्र रचना होने पर भी इसे पञ्चविंश ब्राह्मण में जोड़ दिया गया। इसके अन्तिम छः अध्याय 'अभूत-ब्राह्मण' कहलाते हैं जिसमें देवताओं के हँसने, चिल्लाने, गाने, नाचने आदि का उल्लेख है।

(iii) *छांदोग्य ब्राह्मण*—यह धार्मिक कर्मों की एक पाठ्य-पुस्तक

Eggeling ने किया।

माध्यन्दिन संस्करण में चौदह खण्ड हैं, जबकि काण्व संस्करण में सत्रह। माध्यन्दिन संस्करण के पहले ६ खण्ड सबसे पहले रचे गये होंगे। इनका विषय 'वाजसनेयी संहिता' के मौलिक १८ अध्यायों के विषय से मेल खाता है। इसके ४ खण्ड (१० से १३ तक) शायद बाद में रचे गए होंगे, क्योंकि इनका विषय भिन्न है। १०वें खण्ड में अग्नि-रहस्य बतलाया गया है। ११वें खण्ड में पुनः प्रकारान्तर से वही बात कही गई है। १२वें और १३वें खण्डों में विविध विषयों का प्रतिपादन है। इसके १३वें खण्ड से ही माध्यन्दिन शाखा का 'शतपथ आरण्यक' बना है। इस आरण्यक के अंतिम ६ अध्यायों से ही 'बृहदारण्यक उपनिषद्' बना है।

शतपथ ब्राह्मण के दो विभिन्न अंशों को दो विभिन्न कर्ताओं की कृति माना जाता है—

(i) पाँच खण्डों (६ से १० तक) में यज्ञ-वेदी की विधि ही मुख्य विषय है। शाण्डिल्य के उपदेश ही सर्वप्रमुख प्रमाण माने गये हैं। याज्ञवल्क्य का नाम भी नहीं आता। इनमें उत्तर-पश्चिम भारत में रहने वाले गान्धार, सल्व, केकय आदि लोगों के नाम आये हैं।

(ii) शेष खण्डों में याज्ञवल्क्य की ही सर्वाधिक प्रामाणिकता स्वीकृत की गई है। इसमें पूर्वीय या मध्य भारत के कुरु-पञ्चाल, कोशल, विदेह, सृञ्जय आदि लोगों के नाम आए हैं। इन दोनों भागों में भाषा का अन्तर भी पाया जाता है।

'शतपथ ब्राह्मण' के भौगोलिक उल्लेखों से पता चलता है कि उस समय भी कुरु-पञ्चाल देश ही ब्राह्मण सभ्यता के केन्द्र थे। इसमें कुरुराज जनमेजय तथा गुरु आरुणि का वर्णन मिलता है जोकि पाञ्चाल थे। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि ब्राह्मण सभ्यता उस समय कोशल, विदेह आदि तक फैल चुकी थी। विदेहराज जनक के दरबार में कुरुपञ्चाल देश के पण्डितों का जमघट लगा रहता था और शास्त्रार्थ होते थे।

'शतपथ ब्राह्मण' का महत्त्व कथात्मकता की दृष्टि से भी है। एक

कथा इस प्रकार है :—

विदेघ (विदेह का प्राचीन रूप) देश के राजा माठव अपने राज-पुरोहित गोतम राघूगण के साथ सरस्वती के किनारे बैठे यज्ञ कर रहे थे। सहसा अग्नि वैश्वानर उठकर पूर्व की ओर चल पड़ी। राजा और पुरोहित उसके पीछे-पीछे चले। वे सदानीरा (सम्भवतः आज की गण्डक) नदी के किनारे आए। इस नदी को ब्राह्मणों ने पहले कभी पार नहीं किया था। उसके पार उजाड़ और दलदली प्रदेश था। राजा माठव ने वैश्वानर से पूछा कि 'अब मैं कहाँ रहूँ ?' अग्नि ने उत्तर में उस नदी के पार रहने को कहा। उस अग्नि ने उस प्रदेश को जलाकर पवित्र कर दिया और वहाँ वह राजा सपरिजन रहने लगा। इस कथा में वैश्वानर अग्नि ब्राह्मण सभ्यता की वाची है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय ब्राह्मण सभ्यता सरस्वती से पूर्व की ओर बढ़कर सदानीरा तक फैल चुकी थी।

'शतपथ ब्राह्मण' में बौद्ध धर्म के जन्म का, सांख्यदर्शन के माने हुए पण्डित आसुरी का, कुरुपति जनमेजय का, पाण्डवों में प्रधान अर्जुन का तथा विदेहराज जनक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण में कथा-भाग

'ऋग्वेद' में आये हुए पुरूरवा-उर्वशी के आख्यान को इस ब्राह्मण में बड़ी विशदता से प्रतिपादित किया गया है। इसमें दुष्यन्त-शकुन्तला के पुत्र भरत की भी कथा है। दूसरी कथा प्रलय-सम्बन्धी है। वह इस प्रकार है—मनु को कभी एक छोटी-सी मछली मिली, जिसने कहा कि वह उसका पालन-पोषण करे। उसने यह वचन दिया कि वह मनुष्यों को प्रलय की बाढ़ से बचा लेगी। उसकी प्रेरणा से ही मनु ने एक जहाज़ बनाया। जल-प्लावन काल में उसी में बैठकर वे बच गए। बाद में अपनी पुत्री के साथ अवैध सम्बन्ध करके उन्होंने मानव-जाति को जन्म दिया।

शुनः शेपाख्या—राजा हरिश्चन्द्र ने यज्ञ द्वारा वरुण को प्रसन्न

करके पुत्र-प्राप्ति की। वरुण ने पुत्र-प्राप्ति का वरदान इस शर्त पर दिया कि वह जब चाहेगा उस पुत्र को ले लेगा। हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहित जब युवा हुआ तो वरुण ने उसे माँगा। राजा हरिश्चन्द्र पुत्र की बलि देने को उद्यत हुए, किन्तु रोहित जंगल को भाग गया। इधर वरुण ने राजा को दण्ड दिया। उसे जलोदर हो गया। इसकी खबर पाते ही रोहित वापिस आने लगा। मार्ग में इन्द्र मिला और उसने रोहित के सुन्दर भाग्य की प्रशंसा करके उसे बराबर घूमते रहने के लिए कहा। इस प्रकार पाँच वर्ष बीत गए। जब-जब वह घर लौटने की इच्छा करता, तब-तब इन्द्र आकर उसे घूमते रहने की सलाह दे जाता। छठे साल में रोहित को भूख से तड़पता हुआ अजीगर्त ऋषि मिला, जिसके कि शुनः पुच्छ, शुनःशेप और शुनो लाँगूल ये तीन पुत्र थे। रोहित अजीगर्त को एक पुत्र के बदले १०० गायें देने का वचन देता है। अजीगर्त राजी हो जाता है। किन्तु वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को नहीं देना चाहता और उसकी स्त्री कनिष्ठ पुत्र को नहीं देना चाहती। फलतः मध्यम पुत्र शुनःशेप को लेकर रोहित पिता के घर लौट आता है। वरुण शुनःशेप की बलि स्वीकार कर लेता है, क्योंकि एक क्षत्रिय की अपेक्षा एक ब्राह्मण की बलि उसे अधिक प्रिय होगी। इस प्रकार शुनःशेप यज्ञस्तूप में पशु की जगह बाँध दिए जाने के लिए तैयार खड़ा है, किन्तु कोई उसे बाँधने को तैयार नहीं। अन्त में अजीगर्त कहता है कि यदि उसे १०० गायें और दी जायें तो वह बाँध देगा। वचन मिलने पर वह उसे बाँध देता है। पुनः एक सौ गायों का वचन ले लेने पर वह शुनःशेप का वध करने के लिए बढ़ता है। अपनी मृत्यु को पास आया हुआ देख शुनःशेप देवताओं की स्तुति करता है। जब वह तीन ऋचाओं द्वारा उषा की स्तुति करता है तो उसके अधिकांश बन्धन खुल जाते हैं। उधर राजा का रोग भी हल्का होने लगता है। ज्यों ही चौथी ऋचा समाप्त होती है त्यों ही शुनःशेप बन्धनमुक्त हो जाता है और राजा रोगमुक्त। इसके बाद पुरोहित-वर्ग एक महोत्सव करके शुनःशेप का स्वागत करते हैं। विश्वामित्र उस महोत्सव में होने वाले यज्ञ का 'होता' है। वह अपने

१०० पुत्रों की उपेक्षा कर शुनःशेप को अपने पुत्र-रूप में स्वीकृत करके अपना उत्तराधिकारी घोषित करता है। इस आख्यान का पाठ राजाओं के राज्याभिषेक के समय किया जाता था। यह बहुत प्राचीन होगा, क्योंकि इसमें नर-बलि का उल्लेख है। ब्राह्मणों में अन्यत्र या श्रौत-सूत्र में यह कहीं नहीं मिलता कि नर-बलि होती हो। हो सकता है कि प्रागैतिहासिक काल में इस प्रकार की बलि होती हो। किन्तु यह निश्चित है कि यह आख्यान 'ऋग्वेद' के बाद का है।

अन्य कथाओं में शुनःशेप के आख्यान-जैसी पूर्णता नहीं है। इनका एक विशेष उद्देश्य होता है कि अमुक यज्ञ का उत्सव क्यों किया जाता है, तथा उसका क्या महत्त्व है। इनमें से कुछ तो पुराने आख्यानों पर आधारित हैं और कुछ नवीन आविष्कृत। नवीन आकर्षित कथाओं में कुछ चित्ताकर्षक भी हैं। यथा एक कथा में बतलाया गया है कि प्रजापति को उद्देश्य करके कही गई ऋचाएँ क्यों धीमे स्वर में कही जाती है। वह कथा इस प्रकार है :—

एक बार बुद्धि और वाक् में कलह होता है। बुद्धि कहती है कि 'मैं श्रेष्ठ हूँ, वाक् कहती है कि 'मै'। बुद्धि ने कहा कि 'जो मैं समझ लेती हूँ वही तो वह कहती हैं, अस्तु, मैं तुमसे श्रेष्ठतर हूँ'। वाक् ने कहा कि 'समझ लेने पर भी तो तू उसे दूसरों पर स्पष्ट नहीं कर सकती, यह तो मैं करती हूँ इसलिए मैं श्रेष्ठ हूँ'। न्याय के लिए दोनों प्रजापति के पास गईं। प्रजापति ने बुद्धि को श्रेष्ठतर ठहराया। वाक् को बुरा लगा उसने प्रजापति से कहा कि मैं तुम्हारी प्रशंसा करने वालों का साथ न दूँगी। जब वे अन्य की प्रशंसा करें तब जरूर उनकी सहायता करूँगी। यही कारण है कि प्रजापति के प्रति की गई स्तुतियाँ मन्द स्वर में कही जाती हैं क्योंकि वाक् उससे रूठी है न! वाक् से सम्बन्धित कई कथाएँ हैं। वह स्त्री के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती है। एक कथा इस प्रकार है :—

'सोम' स्वर्ग में था। गायत्री एक चिड़िया बनकर उसे चुराकर नीचे लाई, किन्तु उससे भी एक गन्धर्व ने सोम को चुरा लिया। अब देवताओं

ने यह समझकर कि गन्धर्व स्त्री-प्रेमी होते हैं, वाक् को इस काम के लिए भेजा। उसने पता लगा लिया कि सोम गन्धर्वों के पास है। देवताओं ने उसे वापस माँगा। गन्धर्वों ने शर्त रखी कि 'सोम' को ले लो किन्तु वाक् को हमारे हवाले कर दो। जब वाक् गन्धर्वों के पास से देवताओं के पास आई, तो उसने बहुत शान और अकड़ की, क्योंकि गन्धर्वों ने प्रेम-प्रदर्शन में उसकी बड़ी तारीफ़ की थी। यही कारण है कि आज भी स्त्रियाँ उसी ओर खिचती हैं जो कि उनकी चापलूसी और प्रशंसा करते हैं।

ब्राह्मणों में बहुत सी पुराण-कथाएँ भी मिलती हैं। ये आख्यानों या इतिहासों से भिन्न हैं। इन्हें उत्पत्ति-कथाएँ कहना उचित होगा। उदाहरण के लिए चतुर्वर्ग की उत्पत्ति-कथा :—

'ऋग्वेद' के पुरुष सूक्त में बतलाया है कि पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहों से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र पैदा हुए। इसी प्रकार ब्राह्मणों में पुराण कथा है कि—प्रजापति ने अपने मुख से अग्नि और ब्राह्मणों को, वक्षस्थल से और बाहुओं से इन्द्र और क्षत्रियों को, मध्य भाग से सभी देवताओं को और वैश्यों को तथा पैरों से शूद्रों को पैदा किया। शूद्रों के साथ किसी भी देवता का जन्म नहीं हुआ।

रात्रि उत्पत्ति कथा—यम के मर जाने पर उसकी बहन यमी बहुत रोया करती थी। देवताओं के पूछने पर वह रोज यही कहा करती थी कि वह (यम) आज मरा है। उस समय केवल दिन होता था। परन्तु उसे 'आज' ही लगा करता था। देवताओं ने उसका दुःख कम करने के लिए रात्रि बनाई। आज भी रात बहुत से पीड़ितों को शान्ति देती है।

पर्वत उत्पत्ति कथा—प्रजापति के सबसे पहले बेटे पर्वत ही थे। इनके पंख थे। जहाँ चाहते उड़ते फिरते थे। पृथ्वी भी उन दिनों इधर-उधर डोला करती थी। इन्द्र ने इनके पंख काटकर इन्हें पृथ्वी पर स्थान-स्थान पर बैठा दिया। इस प्रकार ये भी अचल हो गए और पृथ्वी भी।

वे कटे हुए पंख ही बादल हैं, जो कि हमेशा पहाड़ों की तरफ़ ही बढ़ा करते हैं।

अग्नि होत्र यज्ञ की उत्पत्ति कथा—'शतपथ ब्राह्मण' में एक कथा है कि प्रजापति पहले अकेले थे। अपने को अनेक कष्ट देकर उन्होंने अपने मुख से अग्नि पैदा की। पैदा होते ही वह ब्रह्मा को ही खाने दौड़ी। प्रजापति भागे। इसके बाद ही कथा को इस प्रकार बढ़ाया है कि प्रजापति ने हथेलियाँ रगड़कर दूध प्राप्त किया। इसीसे वनस्पति संसार का जन्म हुआ। पुनः ऐसा ही करने पर सूर्य और वायु का जन्म हुआ। इस प्रकार प्रजापति ने एक ओर तो अपने वंश को बढ़ाया और दूसरी ओर अग्नि से अपने प्राण बचाये। इसी प्रकार जो अग्नि-होत्र करता है उसके प्राणों की भी रक्षा होती है और वह अपने वंश का विस्तार भी करता है।

ब्राह्मण कथाओं में प्रजापति को सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त है। किन्तु वस्तुतः उसका स्थान बड़ा दयनीय और तुच्छ-सा है। 'शतपथ ब्राह्मण' (१०, २, २) के अनुसार देवों ने स्वयं उसी की बलि चढ़ा दी। एक बार इसके अपनी पुत्री द्यु या उषा के साथ व्यभिचार करने के पाप से क्षुब्ध होकर देवताओं ने अपने क्रोध से रुद्र को पैदा किया, जिसने कि अपने बाण से इसे छेद दिया।

यह बात ध्यान देने की है कि ब्राह्मणों में कोई ऐसी उत्पत्ति-कथा नहीं है जो कि 'बाइबिल' में आई कथा के समान हो। इनमें अनेक उत्पत्ति-कथाएँ हैं और वे परस्पर साम्य नहीं रखतीं। कोई कथा कुछ बतलाती है, कोई कुछ। इस प्रकार एक सिलसिला नहीं बँध पाता। उदाहरण के लिए अब तक की सृष्टि-उत्पत्ति-कथाओं से पूर्णतः भिन्न एक कथा लीजियेः—

प्रजापति ने अपने को संपीड़ित कर प्राणियों को जन्म दिया। पहले पशु, फिर चिड़ियाँ, फिर रेंगने वाले कीड़े, फिर सर्पादि उत्पन्न हुए। किन्तु पैदा होते ही ये सब मर गए और प्रजापति पुनः अकेले रह गए। कारण सोचने पर मालूम हुआ कि भोजन की कमी के कारण ये

मरे। उन्होंने पुनः उन्हें पैदा दिया, किन्तु इस बार उनमें से मादा प्राणियों में दूध का आयोजन कर दिया। अब इस बार सृष्टि ठहर गई। पुनः दूसरी जगह मिलता है कि प्रजापति ने अपने शक्तिशाली अंगों से पशुओं, मस्तिष्क से मनुष्य, आँखों से घोड़ा, श्वास से गाय, कान से भेड़ और अपनी ध्वनि से बकरी पैदा की। मस्तिष्क से पैदा होने के कारण मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान जीव है।

अधिकतर कथाओं में प्रजापति को ही सृष्टि-कर्त्ता माना गया है। किन्तु 'शतपथ ब्राह्मण' में एक कथा ऐसी भी है जिसके अनुसार स्वयं ब्रह्मा का भी उत्पन्न किया गया है और सृष्टि की उत्पत्ति तो जल से, अभाव से, या ब्रह्म से हुई। सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक एक अन्य महत्त्वपूर्ण आख्यान है जिसके अनुसार सबसे पहले केवल असत् था किन्तु तुरन्त ही बतलाया गया कि असत् ऋषियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्होंने ही आत्म-दमन और आत्म-संपीड़न करके प्रत्येक वस्तु को जन्म दिया। ये ऋषि ही प्राण थे और इन्होंने पहले सात पुरुष बनाए। इन सातों को संयोज्ति करके एक पुरुष बनाया। इसी का नाम प्रजापति है। प्रजापति ने अपना वंश बढ़ाना चाहा। उसने अपने को संपीड़ित और संमर्दित करके ब्रह्म को जन्म दिया। इसी का नाम 'त्रयी' विद्या है। यही प्रजापति की आधार-शिला है। इस पर खड़े होकर प्रजापति ने पुनः स्वयं को संपीड़ित किया और सबसे पहले जल को बनाया। वेद की सहायता से उसने एक अण्डे को जन्म दिया, जिससे अग्नि का जन्म हुआ। उस अण्डे का छिलका ही पृथ्वी की परत बनी।

ब्रह्म को सृष्टि का उत्पादक मानने की बात भी 'शतपथ ब्राह्मण' (११, २, ३, १) में मिल जाती है :—

"सबसे पहले केवल ब्रह्म ही था। इसने ही देवताओं को जन्म दिया और फिर उन्हें रहने के लिए ये स्थान दिये—अग्नि को पृथ्वी, वायु को द्यु लोक और सूर्य को स्वर्ग।"

उक्त कथाएँ केवल कथा-मात्र ही नहीं हैं, किन्तु इनमें अनेक रहस्य विद्यमान हैं, जैसे—मनु-कथा में मत्स्य-वृद्धि सूर्य का उदय होकर बढ़ने

को लक्षित करता है। इन कथाओं का भाव स्व० श्री पं० शिवशंकर जी शर्मा काव्यतीर्थ ने अच्छा प्रदर्शित किया है। उस भाव के बिना कथाएँ जीवातु रहती प्रतीत होती हैं।

ब्राह्मण साहित्य में 'शतपथ ब्राह्मणों' को अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा आधुनिक माना जाता है। प्रमाण—(i) अन्य ब्राह्मणों से इसकी शैली अधिक परिस्कृत एवं सुस्पष्ट है। (ii) इसमें जिन धार्मिक क्रियाओं का वर्णन है वे अपेक्षाकृत अधिक क्रमबद्ध हैं। (iii) धर्म के क्षेत्र में भी इसमें विश्वैक्य का भाव अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ व्यक्त किया गया है। (iv) इसका उपनिषद् 'ईशोपनिषद्' वैदिक दर्शन का सर्वोत्तम रत्न है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण—इसमें दो खण्ड हैं। पहले में पांच अध्याय हैं और दूसरे में छः। यह रचना बहुत बाद की है। यहाँ तक कि 'वैतान-सूत्र' भी इसके पहले रचे जा चुके थे। इसका पूर्वार्ध तो मौलिक है, किन्तु शेष भाग 'शतपथ ब्राह्मण' के ११वें और १२वें खण्ड तथा 'ऐतरेय-ब्राह्मण' की विषय-सामग्री से परिपूर्ण है। इसमें 'शिव' शब्द का आना इस बात का द्योतक है कि यह न केवल ब्राह्मण काल से ही किन्तु वैदिक काल के भी बाद का है। इसमें व्याकरण के सुन्दर एवं उत्कृष्ट कोटि के प्रयोग मिलते हैं। ये भी इसका बाद में रचा जाना सिद्ध करते हैं। इसने 'ऐतरेय' व 'कौषीतकी' ब्राह्मणों से, 'मैत्रायणी' व 'तैत्तिरीय' संहिताओं से तथा कुछ-कुछ 'शतपथ' तथा 'पञ्चविंश' ब्राह्मणों से भी विषय लिया है।

आरण्यक और उपनिषद्

ब्राह्मणों और उपनिषदों के अनेक अंश इस बात के द्योतक हैं कि प्राचीन भारत के बौद्धिक जीवन और साहित्यिक जीवन में क्षत्रिय जाति का विशेष हाथ रहा है। 'कौषीतकी ब्राह्मण' में प्रतिदिन राजा एक पुरोहित के साथ याज्ञिक विधियों के विषय में बातचीत करता है। 'शतपथ-

ब्राह्मण' के ६वें अध्याय में राजा जनक का नाम आता है, जिन्होंने अपने ज्ञान से सभी पुरोहितों को चमत्कृत कर दिया था। उन्होंने श्वेतकेतु, सोमसुषमा और याज्ञवल्क्य आदि पुरोहितों से अग्नि-होत्र के विधान के विषय में प्रश्न किये हैं, किन्तु उनमें से कोई उन्हें सन्तोषजनक उत्तर न दे सका। याज्ञवल्क्य को सौ गायों का पुरस्कार मिला था, क्योंकि वह काफ़ी गहराई तक पहुँचा था। किन्तु उससे भी राजा जनक ने कहा कि तुम भी इसे पूर्णता से नहीं जान पाये।

इन ऋचाओं के प्रणेता सदैव पुरोहित ही नहीं हुआ करते थे। प्रमाण-स्वरूप कवश का नाम लिया जा सकता है। वह एक अब्राह्मण दासी का पुत्र था। वह जब भी किसी यज्ञ में भाग लेना चाहता था, तब ही पुरोहित लोग उसे धक्के मारकर भूख-प्यास से तड़पने के लिए निकाल बाहर करते थे। सरस्वती को उस पर दया आई। उसे किसी एक मन्त्र के दर्शन हो गए। इस पर पुरोहितों ने उसे एक ऋषि मानकर अपने वर्ग में मिला लिया।

उपनिषदों से यह बात स्पष्ट है कि उस समय की महिलाएँ भी बड़ी विदुषी हुआ करती थीं। 'वृहदारण्यक' उपनिषद् में वचक्नु की पुत्री गार्गी याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करती है। इसी उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी को आत्मा-सम्बन्धी उच्चतम शिक्षा देते हैं।

इस उच्चतम ज्ञान पर पुरोहितों का कितना कम अधिकार था यह बात रैक्व की रोचक कथा से स्पष्ट हो जाती है। वह अपनी बैलगाड़ी के अन्दर बैठा शरीर खुजला रहा था, किन्तु अपने ज्ञान के कारण उसे राजा का-सा गर्व भी था। इतने में एक धनिक जनश्रुति उसके पास जाकर शिक्षा लेना चाहता है, किन्तु रैक्व उसे शूद्र कहकर भगा देता है। अन्त में जब जनश्रुति उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता है तब वह उसे शिक्षा देने के लिए राज़ी होता है। सत्यकाम की कथा सभी जानते होंगे। वह जबाला का पुत्र था। विद्याध्ययन-हेतु जाने के पूर्व उसने माँ से अपना गोत्र पूछा। माँ ने बतलाया कि वह किस गोत्र का है यह तो उसे स्वयं ही नहीं मालूम। उसने बतलाया कि मैं अति-

थियों की सेवा करने के लिए नियुक्त थी तभी मैंने तुम्हें गर्भ में धारण किया। जब सत्यकाम से उसके गुरु गौतम हारिद्रुयत् ने उसका वंश पूछा तो उसने अपने माँ के द्वारा कही बात ज्यों-की-त्यों दोहरा दी और बतलाया कि मेरा नाम सत्यकाम जाबाल है। गुरु ने उसकी सत्यवादिता से प्रसन्न होकर उसे अपना शिष्य बना लिया।

बाद के ग्रन्थों में इस बात पर बार-बार ज़ोर दिया गया है कि ब्राह्मण ही वेदाध्ययन करें। प्रमथ तीन वर्ण ही वेदाध्ययन के अधिकारी माने गए। किन्तु उपनिषदों में ऐसी बात नहीं। यहाँ तो उल्टे क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को उपदेश दिया। यथा—श्वेतकेतु के पिता गौतम विद्या-लाभार्थ राजा प्रवाहण के पास जाते हैं। इस प्रकार उन्हें आत्मा के आव-गमन का ज्ञान मिलता है। यह सिद्धान्त क्षत्रिय जाति की ही देन है।

उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त 'आत्मा' सम्बन्धी है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी अब्राह्मणों ने किया। 'पाँच प्रकाण्ड पण्डित आत्मा का सिद्धान्त समझने के लिए उद्दालक आरुणि के पास गए। किन्तु अपने को शिक्षा देने में असमर्थ पाकर उसने उन्हें राजा अश्वपति कैकेय के पास भेज दिया।' किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इन दार्श-निक विचार-परम्पराओं में ब्राह्मणों का हाथ था ही नहीं। पहले तीन वर्णों के विद्यार्थी उनकी पाठशालाओं में विद्याध्ययनार्थ आते थे। यह भी नहीं था कि प्रत्येक ब्राह्मण अध्ययन-कार्य ही करे। कुछ ब्राह्मण अन्य धन्धे भी करते थे। चार आश्रम वाला सिद्धान्त ब्राह्मणों द्वारा ही सर्वप्रथम प्रतिपादित हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक आर्य को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों से होकर गुज़रना पड़ता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों या उनके परिशिष्टों में हमें आरण्यकों के दर्शन होते हैं। आरण्यक उन मन्त्रों को कहते हैं, जो सर्वश्राव्य न हों, रहस्यमय हों, अश्लील हों, विकृत स्वर या दीर्घ स्वर वाले हों, ख़तरे से भरपूर हों, इसीलिए इनका पाठ नगरों या देहातों में न होकर जंगलों में होता था और इसीलिए इसका नाम आरण्यक पड़ा। इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय याज्ञिक विधाय, मन्त्र आदि की विवेचना न होकर यज्ञों की गूढ़ता,

लाक्षणिकता तथा पौरोहित्य-दर्शन है।

कुछ पुरातन उपनिषद् तो इन आरण्यकों में सम्मिलित हो जाते हैं और कुछ उनके परिशिष्ट अंश का काम करते है। इस प्रकार आरण्यकों और उपनिषदों में भेद की रेखा खींचना कठिन है। ये दोनों मिलकर 'वेदान्त' का निर्माण करते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि वैदिक साहित्य के इस अंग की सभी पुस्तकें लिखित नहीं है। कुछ का गुरु के मुख से शिष्यों के पास स्थानान्तरण होता रहा है। जो विषय कठिन, गूढ़ व रहस्यमय थे उन्हें इस काल की शिक्षा में सबसे बाद में रख दिया। वेदान्त की भाँति आरण्यक और उपनिषद् भी विभिन्न वैदिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध हैं :—

(i) 'ऐतरेय आरण्यक' और 'ऐतरेय उपनिषद्' का सम्बन्ध 'ऋग्वेद' के 'ऐतरेय ब्राह्मण' से है।

(ii) 'कौषीतकी आरण्यक' और 'कौषीतकी उपनिषद्' का सम्बन्ध 'ऋग्वेद' के कौषीतकी ब्राह्मण से है।

(iii) 'तैत्तिरीय आरण्यक', 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के विचारों को ही आगे बढ़ाता है। इस आरण्यक की पूर्त्ति 'तैत्तिरीय उपनिषद्' और 'महा-नारायण उपनिषद्' करते हैं।

(iv) 'शुक्ल यजुर्वेद' के 'शतपथ ब्राह्मण' में १४वें मण्डल का पहला तिहाई भाग तो आरण्यक है और शेष अन्तिम भाग 'बृहदारण्यक उप-निषद्' कहलाता है जो कि सभी उपनिषदों में सबसे बड़ा और महत्व-पूर्ण है।

(v) 'छान्दोग्य उपनिषद्' का पहला भाग एक आरण्यक है। इसका सम्बन्ध सम्भवतः 'सामवेद' के 'तांड्य ब्राह्मण' से है।

(vi) 'सामवेद' के जैमिनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित 'जैमिनीय उप-निषद् ब्राह्मण' नामक उपनिषद् है। 'केनोपनिषद्' इसी का एक अंग है। इसे 'तलवकार उपनिषद्' भी कहते हैं।

'महानारायण उपनिषद्' को छोड़कर शेष उपनिषदें बहुत पुरानी हैं। भाषा और शैली में वे ब्राह्मणों से समता रखती हैं। इनमें भी वही

सीधा-सादा गद्य मिलता है। सबसे बाद का उपनिषद् 'केनोपनिषद्' है जिसका आधा भाग छन्दोबद्ध है। ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकी और केन ये छः उपनिषद् अपने इतिहास में सबसे पुराने हैं। इनमें वेदान्त सिद्धान्त अपने शुद्ध रूप में प्रतिपादित किया गया है।

कुछ उपनिषद्, जो कि सम्पूर्ण अथवा अंशतः पद्य में लिखे गए हैं, बाद के हैं। किन्तु ये भी बौद्ध धर्म से पूर्व के ही हैं। इस कोटि में उपनिषद् आते हैं—

(i) कठ या काठक उपनिषद्—इसका सम्बन्ध 'कृष्ण यजुर्वेद' से से है। (ii) 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' और 'महानारायण उपनिषद्' भी 'कृष्ण यजुर्वेद' से ही सम्बन्धित हैं। (iii) ईशोपनिषद्—यह छोटा किन्तु बड़ा महत्वपूर्ण है। 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'वाजसनेयी शाखा' के अन्तिम भाग से इसका सम्बन्ध है। (iv) मुण्डकोपनिषद् और प्रश्नोपनिषद् आधे पद्य और आधे गद्य में हैं। इनका सम्बन्ध 'अथर्ववेद' से है।

इन चार उपनिषदों में भी वेदान्त सिद्धान्त हैं किन्तु इनके बीच-बीच में सांख्य और योग के भी सिद्धान्त पाये जाते हैं।

उत्तर-कालीन उपनिषद्

मैत्रायणी उपनिषद्—इसका सम्बन्ध 'कृष्ण यजुर्वेद' से है। इसका रचना-काल बौद्ध धर्म के बाद का है शायद शास्त्रीय संस्कृत के काम का। यह गद्यमय है। इसमें कहीं भी वैदिक चिह्न नहीं मिलते।

माण्डूक्योपनिषद्—इसका सम्बन्ध 'अथर्ववेद' से है। इसका काल भी बौद्ध धर्म के बाद का ही है।

शंकर ने पूर्वोक्त बारह उपनिषदों का ब्रह्मसूत्र की टीका में उल्लेख किया है, किन्तु अन्तिम दो का कोई ज्ञापक चिह्न नहीं है। अतः स्पष्ट है कि इन दो उपनिषदों का काल शंकर के भी बाद का है। किन्तु उनकी गणना भी वैदिक उपनिषदों में कर लेनी चाहिए। इस प्रकार वैदिक उपषिनदों की संख्या चौदह है। इनके अतिरिक्त १०० उपनिषद् और मिलते हैं, किन्तु वे बहुत पीछे के हैं। वेदों से इनका उतना सम्बन्ध

नहीं है जितना कि पुरानों और तन्त्रों से है। इसमें से अधिकांश धार्मिकता से पूर्ण हैं, दार्शनिकता से नहीं। उद्देश्य और विषय के आधार पर इन उत्तरकालीन उपनिषदों को निम्न प्रकार से विभक्त किया जा सकता है:—

(i) वेदान्त सिद्धान्त वाले उपनिषद्,
(ii) योग सिद्धान्त वाले उपनिषद्,
(iii) संन्यास सम्बन्धी उपनिषद्,
(iv) विष्णु-प्रशंसापरक उपनिषद्,
(v) शिव-प्रशंसापरक उपनिषद्,
(vi) शाक्त सम्प्रदाय आदि के उपनिषद्।

इनमें से कुछ उपनिषद् गद्यमय, कुछ गद्य-पद्यमय और कुछ महाकाव्य के-से श्लोकों में लिखे गए हैं। इनमें से कुछ पुराने भी हैं। इन्हें वैदिक उपनिषदों में मिलाया जा सकता है जैसे :—

(i) जाबाल उपनिषद्,
(ii) परम हंस उपनिषद्,
(iii) सुबाल उपनिषद्,
(iv) गर्भ उपनिषद्,
(v) शिवोक्त अथर्व शीर्ष उपनिषद्, और
(vi) वज्र सूचिका उपनिषद्।

इन उपनिषदों का काल-निर्धारण इसलिए भी आसानी से नहीं हो सकता, क्योंकि इनके कई संस्करण मिलते हैं, जिनका आकार परस्पर भिन्न है। इन उपनिषदों को अवैदिक कहना अधिक उचित होगा।

सबसे अन्तिम रचना 'मुक्तिकोपनिषद्' है, जिसमें १०८ उपनिषदों के नाम गिनाये गए हैं। चार वेदों के अनुसार इनका वर्गीकरण भी किया गया है :—

ऋग्वेद—१० उपनिषद्,
शुक्ल यजुर्वेद—१९ उपनिषद्,
कृष्ण यजुर्वेद—३२ उपनिषद्,

सामवेद—१६ उपनिषद्,

अथर्ववेद—३१ उपनिषद् ।

किन्तु इस वर्गीकरण में वैदिक, अवैदिक का ध्यान नहीं रखा गया है। अवैदिक उपनिषदों को प्रायः अथर्ववेद का उपनिषद् कहा जाता है।

उपनिषद् का वास्तविक अर्थ 'गुप्त सिद्धान्त' है। यह शब्द 'उप' और 'नि' पूर्वक 'सद्लृ' धातु से बना है। इसका अर्थ हुआ 'किसी के समीप बैठना'। पहले इसका अर्थ 'गुरु के पास शिष्य का बैठना था'। किसलिए ? गुप्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए। अस्तु, उपनिषद् को गुप्त उपवेशन भी कह सकते हैं। इसी से धीरे-धीरे गुप्त सिद्धान्त अर्थ माना जाने लगा। उपनिषदों में बार-बार कहा गया है कि अपात्र व्यक्ति के लिए इनका उपदेश नहीं करना चाहिए। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में कहा गया है कि—

"This doctrine of Brahman may a father impart to his eldest son or to a trusted pupil, but not to another, whosoever he may be, even if the latter should give him the whole earth, surrounded by waters and filled with treasures."

उपनिषद् शब्द के मूल अर्थ के आधार पर रहस्यमय प्रत्येक रचना को उपनिषद् कहा जाता था जो कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए न होकर केवल कुछ सीमित व्यक्तियों के लिए हो। चाहे वह प्रगाढ़ दार्शनिक सिद्धान्त हो, चाहे निरर्थक कथा हो; चाहे इन्द्रजाल की विधि से किया हुआ यज्ञ हो या और भी कुछ हो। फिर भी इन रचनाओं को 'अथर्ववेद' का उपनिषद् समझा जाता था।

'कौषीतकी उपनिषद्' में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक तत्त्वों की परम्परा के साथ-ही-साथ कुछ ऐसी याज्ञिक क्रियाओं का वर्णन मिलता है जिनसे हमारी मनःकामना पूरी हो सकती है। इसी प्रकार 'छान्दोग्योपनिषद्' में उत्पत्ति-विषयक दार्शनिक विचार, ओ३म् विषयक गूढ़

विचार-परम्परा और रोग-शमनार्थ उपचार हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि इन उपनिषदों में प्राप्त होने वाले भाव किसी एक व्यक्ति के या किसी एक समुदाय के तथा किसी समय के नहीं हैं। ये तो विभिन्न दार्शनिकों के विचार हैं जो विभिन्न कालों में विस्तृत बनकर मुखरित हुए। हमें प्रत्येक उपनिषद् के प्रत्येक अध्याय में प्रगाढ़ विद्वत्ता या दार्शनिकता या गूढ़ता की आशा न करनी चाहिए। इन उपनिषदों की एक बड़ी विशेषता यह है कि इनके संवाद बड़े महत्त्व-पूर्ण हैं। किन्तु यह भी स्वीकृत करना पड़ेगा कि इन उपनिषदों के कुछ अंशों में निम्नकोटि के दर्शन और साहित्य के दर्शन होते हैं।

उपनिषदों का विशद वर्गीकरण

उपनिषदों को यथाक्रम चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

१. *पहला वर्ग*—'बृहदारण्यक', 'छान्दोग्य', 'तैत्तिरीय', 'ऐतरेय' और 'कौषीतकी उपनिषद्'। ये सभी गद्यमय हैं।

२. *दूसरा वर्ग*—'केनोपनिषद्', 'काठकोपनिषद्', 'ईशोपनिषद्', 'श्वेताश्वतरोपनिषद्', 'मुण्डकोपनिषद्' व 'महानारायणोपनिषद्'। ये छन्दबद्ध हैं। इनमें सिद्धान्तों का विकास नहीं होता, बल्कि इनमें स्थिरता पाई जाती है। इनका साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है।

३. *तीसरा वर्ग*—इसमें 'प्रश्न', 'मैत्रायणी' एवं 'माण्डूक्यादि उप-निषद्' आते हैं। ये पुनः गद्यमय हैं।

४. *चौथा वर्ग*—इसमें 'अथर्ववेद' के उपनिषद् आते हैं। इनमें से कुछ तो गद्य में हैं एवं कुछ पद्य में।

ऋग्वेद के उपनिषद्

(i) *ऐतरेय उपनिषद्*—इस छोटे से उपनिषद् में तीन अध्याय हैं। पहले अध्याय में विश्व को आत्मा (ब्रह्म) की कृति बतलाया गया है। यह अध्याय 'ऋग्वेद' के 'पुरुष सूक्त' पर आधारित है।

(ii) *कौषीतकी उपनिषद्*—इसका आकार बड़ा है। इसमें चार अध्याय हैं। इसमें दो मार्गों का वर्णन है, जिनमें से होकर मृत्यु के बाद

आत्माओं को जाना पड़ता है। दूसरे अध्याय में 'प्रज्ञा' को आत्मा का प्रतीक बतलाया गया है। अन्तिम दो अध्यायों में ब्रह्म सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इसमें कर्म की प्रधानता बतलाई गई है, ज्ञान की नहीं।

सामवेद के उपनिषद्

(i) *छान्दोग्य उपनिषद्*—इसके पहले दो अध्यायों में 'सामन्' और 'उद्गीत' का धार्मिक दृष्टिकोण से अर्थ किया गया है। तीसरे अध्याय में ब्रह्म को ही विश्व का सूर्य बतलाया गया है। यह भौतिक दृश्य सूर्य तो उस ब्रह्म का परिचय कराता है। चौथे अध्याय में ब्रह्म-सम्बन्धी वायु, श्वास आदि के विषय में वादविवाद पाया जाता है। यह भी बतलाया गया है कि मृत्यूपरान्त आत्मा किस प्रकार ब्रह्म से जा मिलता है। पाँचवें अध्याय के पूर्वार्ध में आत्मा के गमन-प्रत्यागमन का सिद्धान्त निरूपित है। इसके उत्तरार्ध में अनेक लोकों की कल्पना निर्मूल सिद्ध की गई है। छठे अध्याय में बतलाया गया है कि सत् ने स्वेच्छा से अग्नि, जल और भोजन इन तीन तत्वों को पैदा किया। सत् ही सत्य है, वही आत्मा है, उसे ही 'तत्वमसि' कहा गया है। सातवें अध्याय में उन १६ रूपों का निरूपण है जिनमें कि ब्रह्म की पूजा की जा सकती है। आठवें अध्याय के पूर्वार्ध में अन्तःकरण और विश्व में आत्मा का निवास बतलाकर उसे प्राप्त करने की विधि बतलाई गई है। उत्तरार्द्ध में सत्य तथा असत्य आत्मा की पहचान बतलाई गई है। आत्मा की तीन दशाएँ हैं—वह भौतिक शरीर में, स्वप्न में और निद्रा में परिलक्षित होती है। निद्रा वाली आत्मा ही सत्य है।

(ii) *केनोपनिषद्*—पहले बहुत दिनों तक इसे 'तलवकारोपनिषद्' कहा जाता रहा। इसके दो भाग हैं। द्वितीय भाग पद्यमय है और बहुत पुरातन है। इसमें वैदिक देवताओं का ब्रह्म से सम्बन्ध बतलाया गया है। उन्हें ब्रह्म से शक्ति मिलती है तथा वे पूर्णतः 'ब्रह्म' पर आश्रित हैं। पहला भाग छन्दोमय है। यह बाद की रचना है, सम्भवतः वेदान्त-काल की। यह पूजित ब्रह्म और अज्ञात ब्रह्म में अन्तर बतलाता है।

कृष्ण यजुर्वेद के उपनिषद्

(i) *मैत्रायणोपनिषद्*—यह गद्यमय है, किन्तु कहीं-कहीं पद्य भी पाये जाते हैं। इसमें सात अध्याय हैं। ७वां अध्याय और छठे अध्याय का उत्तरार्ध परिशिष्ट रचना मानी जाती है। यह बहुत बाद की रचना है क्योंकि—(i) यह सांख्य दर्शन की पूर्व-कल्पना करता है, (ii) इसमें बहुत से उत्तरकाल के शब्द पाये जाते हैं और (iii) वैदिक सम्प्रदायों के विरोधी सम्प्रदायों का भी उल्लेख है।

इसका विषय तीन प्रश्नों के उत्तर के रूप में प्रतिपादित हुआ है। पहला प्रश्न यह है कि—"आत्मा किस प्रकार शरीर में प्रवेश पाता है? इसका उत्तर यह है कि प्रजापति स्वयं-रचित शरीर-विशेष में जीवन-संचार करने के लिए पञ्च-प्राणों (five vital airs) के रूप में प्रविष्ट होता है। दूसरा प्रश्न यह है—'परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है?' इसका उत्तर सांख्य दर्शन के अनुसार दिया गया है। वह इस प्रकार है कि 'प्रकृति' के तीन गुणों से पराभूत होकर आत्मा अपनी प्रकृति को भूल जाता है और आत्म-परिज्ञान तथा निर्गमन के लिए तत्पर हो जाता है। तीसरा प्रश्न यह है—'इन विपत्तियों से छुटकारा किस प्रकार मिल सकता है?' इसका उत्तर न तो सांख्यानुसार ही है और न वेदान्तानुसार ही। वह इस प्रकार है—'वे ही लोग ब्रह्म विषयक ज्ञान, तप और ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति करते हैं, जो ब्राह्मण धर्म की पुरानी आवश्यकताओं को, वर्ण-व्यवस्था को और विभिन्न आश्रमों को मानते हैं। ब्राह्मण काल के मुख्य तीन देवता—अग्नि, वायु एवं सूर्य; तीन भाव रूप सत्ताएँ—काल, श्वास एवं भोजन; और तीन प्रचलित देवता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये सब ब्रह्म का ही परिचय कराने वाले हैं।

(ii) *काठकोपनिषद्*—यह 'मैत्रायणोपनिषद्' से पुराना है। इसमें १८० पद्य हैं। इसमें नचिकेता का आख्यान आता है। इसके दो भाग हैं। पहला भाग ही मूल रूप में था, दूसरा तो बाद में जोड़ा गया है। पहले भाग में आत्मा का विवरण दिया गया है कि यह कैसे शरीर में

प्रवेश करती है और अन्त में योग की क्रिया द्वारा किस प्रकार लौट आती है। दूसरे भाग के चौथे अध्याय में आत्मा-विषयक वादविवाद है तथा पुरुष और प्रकृति दोनों को ही आत्मा का ही रूप बतलाया गया है। पाँचवें अध्याय में आत्मा का विश्व में और विशेषकर मनुष्य में निवास बतलाया गया है। अन्तिम अध्याय में यह बतलाया गया है कि योग द्वारा सर्वोच्च उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है।

(iii) *श्वेताश्वतरोपनिषद्*—एक ऋषि विशेष के नाम पर ही इसका नाम भी चल पड़ा। यह एक ही कर्ता की कृति नहीं मालूम पड़ती क्योंकि—(i) बहुत से उद्धरण प्रक्षेप-रूप में पाये जाते हैं, (ii) छन्दों में आकस्मिक और अनियमित परिवर्तन आ गये हैं, (iii) इसकी विभाजन-व्यवस्था अस्त-व्यस्त है। यह 'काठकोपनिषद्' के बाद का है क्योंकि इसमें उसके कई अंश या तो ज्यों-के-त्यों या फिर कुछ परिवर्तन रूप में मिलते हैं। विकसित योग सिद्धान्त का इसमें समावेश होना भी इसे बाद की रचना ठहराता है। इसमें विश्व को ब्रह्मकृत 'माया' बतलाया गया है। समय-समय पर ब्रह्म इसे पुनर्नवीन किया करता है। प्रत्येक कल्प के अन्त में ब्रह्म इसका विनाश कर देता है। यह उपनिषद् सवितृ, ईशान् या रुद्र को ब्रह्म का ही रूपान्तर बतलाता है।

शुक्ल यजुर्वेद के उपनिषद्

(i) *बृहदारण्यकोपनिषद्*—इसका कलेवर सभी उपनिषदों से बड़ा है। यह 'छान्दोग्योपनिषद्' की तरह ही महत्वपूर्ण भी है। यह तीन भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग में दो अध्याय हैं। तीसरा भाग 'खिलकाण्ड' कहलाता है जो कि परिशिष्ट मात्र है। पहला भाग 'मधुकाण्ड' और दूसरा भाग 'याज्ञवल्क्य-काण्ड' कहलाता है। इन दोनों में ऋषियों की 'वंश'-नामक सूची जोड़ दी गई है। इन सूचियों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों भाई नौ पीढ़ी तक एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप से विलग रहे। अन्त में अग्निवेश्म नाम के ऋषि ने दोनों को जोड़ दिया। इसी में आगे चलकर तीसरा भाग भी जोड़ दिया गया।

पहले भाग के पहले अध्याय में अश्वमेध की व्याख्या की गई है। इसके बाद प्राण को आत्मा का प्रतीक बतलाया गया है। तदनन्तर आत्मा (ब्रह्म) से विश्व की उत्पत्ति बतलाई गई है। अन्त में देवताओं की पूजा की विरोधात्मक प्रक्रिया है क्योंकि उन सभी से आत्मा की प्रधानता है। दूसरे अध्याय में आत्मा की प्रकृति निरूपित की गई है तथा पुरुष एवं प्राण इसके व्यक्तीकरण बतलाये गए हैं। दूसरे भाग में चार दार्शनिक वादविवाद हैं—(i) इस उपनिषद् के (३, १-९) में याज्ञवल्क्य ने लगातार नौ वक्ताओं की अपेक्षा अपनी योग्यता अधिक सिद्ध की है। इस वादविवाद के निष्कर्षों में से एक मजेदार निष्कर्ष यह निकला कि सैद्धान्तिक रूप से तो ब्रह्म अज्ञेय है, किन्तु क्रियात्मक रूप से उसे जाना भी जा सकता है। (ii) यह वादविवाद जनक और याज्ञवल्क्य के बीच में हुआ। इसमें याज्ञवल्क्य ने सिद्ध किया है कि दूसरे ऋषियों द्वारा दी गई ब्रह्म की परिभाषाएँ ठीक नहीं हैं, यथा—ब्रह्म का श्वास [या बुद्धि से एकत्व है आदि।

तीसरे भाग (खिल काण्ड) के पहले अध्याय में पन्द्रह खण्ड हैं। वे विषय, काल आदि में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इस भाग के द्वितीय अध्याय में आत्मा के आवागमन का ही विवरण मिलता है, किन्तु यह याज्ञवल्क्य के कथन से सर्वथा भिन्न है। इससे स्पष्ट होता है कि यह किसी अन्य धर्म-सम्प्रदाय की कृति है, जिसे कि विषय के गौरव के कारण इस उपनिषद् में जोड़ दिया गया है।

(ii) *ईशोपनिषद्*—यह सबसे छोटा उपनिषद् है। इसमें केवल अठारह पद्य हैं। यह 'श्वेताश्वर उपनिषद्' से पुराना है। यह 'काठको-पनिषद्' की अपेक्षा 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के अन्तिम भाग का ही प्रतीत होता है।

अथर्ववेद के उपनिषद्

अथर्ववेद के उपनिषदों की संख्या बहुत है किन्तु वह अनिश्चित है। किन्तु सर्वाधिक प्रामाणिक सूची ने 'अथर्ववेद' के कुल २७ उपनिषद् माने हैं। ये बहुत बाद की रचनाएँ हैं। तीन को छोड़कर शेष सभी पुराण]

काल के हैं। उनमें से एक तो स्पष्टतया मुसलमानों से प्रभावित है। उसका नाम भी 'अल्ला-उपनिषद्' है। पूर्वोक्त तीनों वेदों के उपनिषदों का नामकरण किसी धर्म-सम्प्रदाय विशेष के नाम के आधार पर होता था, किन्तु 'अथर्ववेद' में ऐसा नहीं है। 'अथर्ववेद' के इन उपनिषदों को निम्नलिखित चार वर्गों में बाँट सकते हैं:—

(i) आत्मा की प्रकृति-निरूपक उपनिषद्,

(ii) योग-साधन द्वारा आत्मा में विलयन-सम्बन्धी उपनिषद्,

(iii) संन्यासी जीवन का वर्णन करके, वैसा ही जीवन बिताने की प्रेरणा देने वाले उपनिषद्, और

(iv) इस वर्ग के उपनिषद् वादों के विवाद से पूर्ण हैं। इनमें शिव (ईशान्, महेश्वर, महादेव) और विष्णु (नारायण, नृसिंह) को आत्मा का ही रूपान्तर बतलाया गया है।

मुण्डकोपनिषद्—इसका नाम 'मुण्ड' नामक साधुओं के आधार पर रखा गया है जो कि उत्तरकालीन बौद्ध-भिक्षुओं की ही भाँति अपना सिर घुटाये रहते थे।

प्रश्नोपनिषद्—यह पिप्पलाद शाखा के 'अथर्ववेद' के संस्करण पर आधारित है। इसमें वेदान्त सम्बन्धी विविध प्रश्न छः विद्यार्थियों द्वारा पिप्पलाद ऋषि से पूछे गए हैं।

माण्डूक्योपनिषद्—यह लघु कलेवर वाला गद्यमय उपनिषद् है। यह 'मैत्रायण उपनिषद्' के बाद का है।

उपनिषदों के मौलिक सिद्धान्त

उपनिषदों के मौलिक सिद्धान्त को यदि एक वाक्य में ही प्रस्तुत किया जाय तो यों कह सकते हैं कि "विश्व ही ईश्वर है और ईश्वर हमारी आत्मा है।" उपनिषदों के दार्शनिकों की विचार-परम्परा 'ब्रह्म' और 'आत्मा' इन दो कल्पनाओं के चारों ओर चक्कर लगाया करती है।

उपनिषदों का मन्तव्य है कि प्रारम्भ में केवल 'सत्' ही था। यह एकाकी (अनय) था। कुछ कहते हैं कि पहले 'असत्' ही था। 'सत्'

का प्रादुर्भाव उसी से हुआ। किन्तु यह कैसे हो सकता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हो। अस्तु, सत् ही प्रारम्भ में था। यह सत् आत्मा के साथ प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट हो गया था। अतः जब कोई मरता है तो इसका यह अर्थ होता है कि वह पुनः सत् में मिल गया, जहाँ से उसका जन्म हुआ था। जिस प्रकार एक मधुमक्खी विभिन्न वृक्षों और पौधों से रस ला-लाकर इकट्ठा करती है, किन्तु जब वह रस मिलकर एक हो जाता है तो फिर कोई भेद-भाव नहीं रह जाता कि अमुक रस अमुक वृक्ष का है, इसी प्रकार मरने के बाद सभी उसी सत् में जाकर मिल जाते हैं और इस प्रकार सारा भेद-भाव आदि मिट जाता है। वहाँ पशु, पक्षी, मनुष्य, कीड़े, मकोड़े आदि सभी मिलकर एक हो जाते हैं। यही आत्मा है इसी के लिए 'तत्वमसि' कहते हैं।

एक अंजीर के फल को काटने पर छोटे-छोटे दाने (बीज) मिलते हैं। उनमें से यदि किसी एक को फोड़ें तो अन्दर कुछ नहीं मिलता। अतः वृक्ष ही सत्य है और बीज असत्य। इसी प्रकार सत् ही सत्य है, आत्मा ही सत्य है, हमारा शरीर असत्य है। इस सत् को ही 'तत्वमसि' से कहा गया है।

गूढ़ तत्त्व को रोचक कथाओं द्वारा समझाना उपनिषदों की विशेषता है, जैसे—गार्ग्य बालाकि नामक एक अहंकारी विद्वान् ब्राह्मण बनारस के राजा अजातशत्रु के पास आया। उससे प्रार्थना की गई कि वह ब्रह्म का रहस्य बतला दे। एक के बाद एक वह 'पुरुष' की व्याख्या करता है कि किस प्रकार उसका प्रतिबिम्ब चन्द्रमा में, विद्युत् में, आकाश में, वायु में, तेज में और जल में है और किस प्रकार चैतन्य का प्रतिध्वनि में, शब्द में, देह में व नेत्र में ब्रह्म के रूप में प्रतिबिम्ब है। किन्तु राजा किसी भी व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हुआ। प्रार्थना किये जाने पर राजा स्पष्ट करता है कि ब्रह्म को आत्मा में और पुरुष में ही खोजा जा सकता है। जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला स्वयं अपने ही तन्तुओं से बुनती है, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी स्वतः ही चारों ओर निकलती है, उसी प्रकार 'आत्मा' ही वायु-पञ्चक, अखिल ब्रह्माण्ड, देवगण और

प्राणियों को उत्पन्न करता है।

'छान्दोग्योपनिषद्' के आठवें अध्याय में ७वें से लेकर १२वें खण्ड तक बतलाया गया है कि सत्य और असत्य आत्मा में कितना स्पष्ट भेद है। वह इस प्रकार है:—

'आत्मा जरा, मरण, चिन्ता, पाप आदि से मुक्त है। उसकी इच्छाएँ और विचार सत्य हैं। हमें इसी आत्मा की खोज करनी चाहिए। जो इस आत्मा को जान लेता है, उसे तीनों लोक मिल जाते हैं, उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।'

उपर्युक्त अंश प्रजापति ने कहा और इसे देवों और दानवों ने सुना। वे बोले कि हम इसी आत्मा की खोज करेंगे। देवों में से इन्द्र और दानवों में से विरोचन आकर प्रजापति के पास बत्तीस वर्ष तक शिष्य हो कर रहे। तब पूछने पर उन्होंने बतलाया कि 'उन्हें आत्मा की खोज है'। प्रजापति ने सर्वप्रथम उन्हें बतलाया कि जो पुरुष आंखों से दीखता है, वही आत्मा है। विरोचन सन्तुष्ट हो गया। उसने जाकर असुरों में घोषणा की कि शरीर ही आत्मा है, यही सेव्य, संपालनीय, परिवर्धनोय और रहस्य है। किन्तु इन्द्र को सन्तोष नहीं हुआ। वह पुनः बत्तीस वर्ष तक प्रजापति के पास शिष्य-रूप में रहता है। तब प्रजापति ने बतलाया कि जो आत्मा प्रसन्नता से स्वप्नों में विचरण करती है वही 'आत्मा' है। यह अमर और भय-रहित है। इसी का नाम ब्रह्म है। किन्तु सन्तोष न होने पर इन्द्र पुनः बत्तीस वर्ष तक प्रजापति के पास रहा। अब प्रजापति ने बतालाया कि—स्वप्न-रहित प्रगाढ़ नींद में रहने वाली आत्मा ही सच्ची 'आत्मा' है। किन्तु पुनः सन्तोष न होने पर ब्रह्मा ने पाँच वर्ष और रहने को कहा। फिर वास्तविक आत्मा का निरूपण किया। वह इस प्रकार है:—

यह शरीर नाशवान है। इस पर मृत्यु विजय पाती है। यह 'आत्मा' का निवास-स्थान है। यहाँ रहकर आत्मा को दुःख भी मिलता है, सुख भी। किन्तु जब शरीर नष्ट हो जाता है तो पुनः आत्मा सुख-दुःख से मुक्त हो जाती है।

जब हम आकाश की ओर देखते हैं तो हमारी आँख में रहने वाला पुरुष ही हमें प्रेरित करता है। अस्तु, आँख केवल देखने के लिए है। जब कहा जाता है कि 'मैं सूँघता हूँ', 'मैं सुनता हूँ', 'मैं बोलता हूँ', 'मैं विचार करता हूँ',—तो यह आत्मा की ही आवाज़ है। सूँघने के लिए नाक, सुनने के लिए कान, बोलने के लिए वाणी और विचार करने के लिए मस्तिष्क है। इन इच्छाओं की पूर्त्ति होने पर जो प्रसन्नता होती है, वह उसी आत्मा की प्रसन्नता है। इसी आत्मा को ब्रह्म लोक में देवता पूजते हैं। इसीलिए उनकी सभी इच्छाएँ पूरी रहती हैं। इस प्रकार यहाँ भी आत्मा का अर्थ 'ज्ञान' और बुद्धि का 'अधिकरण' ही है।

आत्मा की अखण्डता, अद्वितीयता, एकरसता, सर्वव्यापकता आदि का सिद्धान्त 'बृहदारण्यक' के याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी सम्वाद में दिखलाया गया है। याज्ञवल्क्य घर-बार छोड़कर एक तपस्वी का जीवन बिताने चले। वे अपनी सम्पत्ति का विभाजन अपनी दोनों स्त्रियों के बीच करना चाहते हैं। मैत्रेयी ने कहा कि समस्त भूमंडल की सम्पत्ति मिल जाने पर भी क्या मैं अमर हो सकूँगी। याज्ञवल्क्य ने कहा कि उससे अमरत्व नहीं मिलेगा, किन्तु जीवन अवश्य धनाढ्य व्यक्तियों की भाँति कट जावेगा। मैत्रेयी ने कहा कि मुझे इस सबसे क्या? मुझे अमरत्व मिलने वाला मार्ग बतलाइए। तब उन्होंने बतलाया कि—पति-प्रेम पति के लिए नहीं, अपितु अपने लिए होता है, पत्नी पति को पत्नी के लिए प्रिय नहीं होती अपितु अपने लिए प्रिय होती है, पुत्र पुत्र के लिए प्रिय नहीं होता किन्तु स्वार्थ के लिए प्रिय होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु इसीलिये प्रिय होती है कि उसमें हमारा स्वार्थ है। अस्तु, इस आत्मा (self) का दर्शन, श्रवण, मनन आदि करना चाहिए तभी हम सर्वज्ञाता बन पावेंगे।

उपनिषदों में आत्मा के लिए प्रायः प्राण का भी प्रयोग पाया जाता है। इसका हमारी बुद्धि से एकत्व है तथा अन्य शरीरावयवों से सम्बन्ध। वाणी, श्वास, दृष्टि, श्रवण और मनन—इनका सम्बन्ध प्रकृति की पाँच शक्तियों से है। वाणी का अग्नि से सम्बन्ध है, श्वास का वायु से, दृष्टि का सूर्य से, श्रवण का आकाश या स्वर्ग से और मनन का चन्द्रमा

से। एक स्थल पर इनके कलह की एक मनोवैज्ञानिक कथा प्राप्त होती है। कलह का कारण यह था कि कौन सबसे बड़ा है। पाँचों निर्णय के लिए प्रजापति के पास गये ? प्रजापति बोले—

तुममें से जिसका अभाव शरीर के लिए सबसे अधिक दुःखदायी हो, वही सबसे बड़ा। क्रम से वाणी, दृष्टि, श्रवण और मस्तिष्क एक-एक वर्ष के लिए शरीर को छोड़कर चले गये, किन्तु इससे शरीर को विशेष कष्ट न हुआ। अब श्वास के जाने की बारी आई। शरीर घबड़ा गया। अन्य अवयव भी विचलित हो उठे। उन्होंने श्वास से प्रार्थना की कि आप मत जाइये, बने रहिये। इस प्रकार श्वास को सर्वप्रमुख स्थान मिला। अस्तु, इसके लिए आदरसूचक 'प्राणाः' शब्द हम बहुवचन में प्रयुक्त करते हैं। इतना ही नहीं समस्त इन्द्रियों के लिए प्राण शब्द प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्मा और प्राण के सिद्धान्त-मूलक तत्त्व गुँथे हुए हैं। इसी सिद्धान्त ने उपनिषद् के दार्शनिक कवियों को एक दिव्य दार्शनिक कविता लिखने की प्रेरणा दी। उन्होंने आत्मा की जाग्रत, निद्रित, सुषुप्त और मृत अवस्था का भी चित्रण किया है और इसकी 'मोक्ष' तक की यात्रा का विवरण दिया है जब कि आत्मा जाकर ब्रह्म से मिल जाती है। 'बृहदारण्यक उपनिषद' के चतुर्थ अध्याय में आत्मा की इन दशाओं और यात्राओं का वर्णन है। इसीलिए (Deussen) ने इसके विषय में लिखा है कि भाव-प्रवणता की दृष्टि से इसका भारतीय साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य में एक प्रमुख स्थान है। इसमें आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त पुष्पित हुआ दिखलाई पड़ता है। इससे घनिष्ठता लिये हुए कर्मवाद का सिद्धान्त सर्वप्रथम बड़े विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया गया है। इस कर्मवाद ने बौद्ध-काल में इतना जोर मारा कि हर गली-कूचे में इसकी चर्चा, उपदेश आदि होने लगे। यह कर्मवाद उपनिषदों में अब भी एक रहस्य बना हुआ है। 'बृहदारण्यक' के तृतीय अध्याय के अनुशीलन से यह विचार-धारा कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाती है।

याज्ञवल्क्य से आर्तभाग पूछता है कि जब मनुष्य की मृत्यु के बाद उसकी वाणी, श्वास, दृष्टि, मस्तिष्क, शरीर, आत्मा, लोम, केश और रक्त क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, स्वर्ग, पृथ्वी, ईश्वर, ओषधियों, वृक्षों और जल में बदल जाते हैं, तो फिर अन्ततः यह मनुष्य क्या बला है ? तब याज्ञवल्क्य ने उसको इस विषय में बतलाया। उनका प्रधान विषय कर्म ही था। इसी की उन्होंने प्रशंसा की और बतलाया कि मनुष्य अपने अच्छे कर्मों से अच्छा और बुरे कर्मों से बुरा बनता है। इसके बाद इस सिद्धान्त का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। आत्मा द्वारा शरीर छोड़ने का वर्णन बड़ा सुन्दर है :—

मरते समय मनुष्य के हृदय का अग्रिम भाग चमकने लगता है। यह आत्मा के शरीर-त्याग का चिह्न है। इसके बाद आत्मा आँख, कान, नाक, सिर या शरीर के अन्य अवयवों से बाहर निकल जाती है। कहीं से भी आत्मा निकले, प्राण उसका अनुगमन करता है। प्राण के अनुगमन करते ही सभी इन्द्रियाँ प्राण का अनुगमन करती हैं। चेतना भी उन्हीं के पीछे चली जाती है। पूर्व जन्म के ज्ञान, कर्म और अनुभव उसमें अवसक्त रह जाते हैं। इसके बाद आत्मा दूसरा कलेवर धारण करती है। जिसने पूर्व-जन्म में जैसे कर्म किये होते हैं, वह वैसा ही इस जन्म में बनता है—अच्छे कर्मों से अच्छा और बुरे कर्मों से बुरा। इसलिए कहा है कि—'मनुष्य जो-कुछ भी बनता है अपनी इच्छा से ही बनता है, उसकी इच्छा के अनुकूल ही उसका निर्णय होगा, निर्णय के अनुकूल ही वह कार्य करेगा और कार्यों के आधार पर ही उसके भाग्य का निर्माण होता है।'

इस कर्मवाद के कारण ही नैतिकता ने जितना जोर उपनिषदों के काल में मारा उतना ब्राह्मण-काल में नहीं। इसी प्रकार आत्मा के सिद्धान्त के परिणाम-स्वरूप ही हम अपने साथियों को प्यार करते हैं, क्योंकि विश्व के प्राणियों में समान आत्मा के ज्ञान के कारण ही उनके प्रति स्नेह उमड़ता है। उपनिषदों में चारित्रिक उपदेश अधिक नहीं हैं, यदा-कदा मिल जाते हैं, यथा—गृहस्थ बनने वाले ब्रह्मचारी को गुरु

अनुशासित करता है—'सत्य बोलो। अपना कर्त्तव्य निभाओ। वेदाध्ययन में प्रमाद मत करो। अपने गुरु के लिए उसकी प्रिय वस्तु लाकर दो और तब गृहस्थ बनकर अपनी वंश-परम्परा को अविच्छिन्न रखो।' 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के द्वितीय अध्याय के द्वितीय खण्ड में इसी विषय का एक इससे भी अधिक मनोज्ञ अंश है:—

प्रजापति के पास उनके तीन पुत्र देवता, मनुष्य और दानव शिष्य के रूप में रहते थे। एक दिन प्रजापति ने देवों से 'द' का अर्थ पूछा। देवताओं ने बतलाया 'दाम्यत अर्थात् अपना दमन करो।' प्रजापति ने कहा कि ठीक है। मनुष्यों से भी उसी का अर्थ पूछने पर उन्होंने बतलाया 'दत्त अर्थात् दान करो।' इसे भी प्रजापति ने ठीक बतलाया। दानवों ने उस 'द' से अभिप्राय बतलाया 'दयध्वम्' अर्थात् 'दया करो।' इसे भी ठीक बतलाया गया।

'ऋग्वेद' का पुरुष बदलते-बदलते उपनिषदों में 'आत्मन्' बन गया है तथा प्रजापति ने 'ब्रह्म' का रूप ले लिया है। वैसे तो यहाँ पर आत्मा और ब्रह्म पर्याय रूप से प्रयुक्त होते हैं, किन्तु उनमें अन्तर अवश्य है। ब्रह्म तो विश्व-व्यापी है जबकि आत्मा जीव-विशेष व्यापी। ब्रह्म अज्ञात है जबकि आत्मा ज्ञात। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के (३, ८, ८, २) में 'अक्षर' नाम से आत्मा का सुन्दर चित्रण हुआ है। यहाँ पर ही सबसे पहले आत्मा का परिज्ञान हुआ प्रतीत होता है, जिसे कि उक्त स्थल पर चित्रित किया गया है। 'काठक उपनिषद्' के (४, ६), (६, ६) तथा (६, १२) में आत्मा की प्रकृति को व्यक्त किया गया है। 'ऋग्वेद' के प्रजापति की सर्जन-शक्ति उपनिषदों में 'आत्मा' या 'ब्रह्म' में मानी गई है। 'बृहदारण्यक' (१, ४) के अनुसार पहले 'आत्मा' या 'ब्रह्म' एकाकी था। एकाकीपन से ऊबकर उसने मानव को बनाया। इसके बाद पशु-पक्षियों के युग्म बनाये। तदनन्तर जल, अग्नि, देवता आदि बनाये गए। इसके बाद ही उक्त आरण्यक में आत्मन् का सुन्दर निरूपण किया गया है।

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के (४, १०) में इस भौतिक विश्व को 'माया'

बतलाया गया है । इस मायामय विश्व का कर्ता 'ब्रह्म' ही है। उपनिषदों का यह विचार Plato तथा Kant नामक दार्शनिकों के विचारों से मेल खाता है ।

जीवात्मा का विश्वात्मा के साथ सम्बन्ध बतलाना ही उपनिषदों का प्रधान सिद्धान्त है । इनको एक रूप मानकर 'छान्दोग्य-उपनिषद्' के (६, ८-१६) में कहा गया है कि—"वह समग्र विश्व में व्याप्त है, वह सत्य है, वह आत्मा है । हे श्वेतकेतु ! वह तुम्हीं हो ।" इस 'तत्त्वमसि' में ही उपनिषदों का सारा उपदेश अन्तर्भूत है। इसी सिद्धान्त को 'बृहदारण्यक' के (१, ४, ६) में इस प्रकार व्यक्त किया है—"जो भी यह जान लेता है कि मैं ब्रह्म हूँ, वही वह बन जाता है । देवता भी उसे वह बनने से नहीं रोक सकते, क्योंकि वह उनकी आत्मा बन जाता है ।"

आत्मा को जानने तथा उसे प्रकारान्तर से व्यक्त करने की प्रवृत्ति ही सर्वत्र परिलक्षित होती है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में जब याज्ञवल्क्य सांसारिकता त्याग करके वन जाने को उद्यत होते हैं तो अपनी स्त्री के प्रश्न का उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—"जिस प्रकार जल में नमक की कुछ मात्रा डालने पर नमक घुल जाता है और हम उसे फिर से नहीं पा सकते, तथा उस पानी का जहाँ कहीं भी स्वाद लिया जायगा, वह सर्वत्र नमकीन ही होगा, इसी प्रकार यह 'महत्तत्व' भी अनन्त, असीम और अबोध्य है । इन्हीं तत्त्वों से उत्पन्न होकर वह पुनः इन्हीं में विलीन हो जाता है । मृत्यु के बाद चेतनता तिरोहित हो जाती है ।" 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के ही (२, १, २०) में यह भी कहा गया है कि—"जिस प्रकार मकड़ी अपने सूत्रों के सहारे बाहर जाती है या जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मा से सभी विश्व, सभी देवता और सभी जीव निकलते हैं ।" इसी प्रकार 'मुण्डकोपनिषद्' के (३, २, ८) तथा 'बृहदारण्यक' के (३, ७) में भी आत्मा का ही निरूपण है ।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' के राजा अजातशत्रु और बालाकि-गार्ग्य के सम्वाद में, तथा 'छान्दोग्य उपनिषद्' के (८, ७-१२) में भी 'ब्रह्म' और

'आत्मा' का ही निरूपण है। जिस प्रकार ज्ञान द्वारा परमानन्द की प्राप्ति और आत्मा का परमात्मा से सम्मेलन उपनिषदों का प्रधान-विषय है उसी प्रकार एक दूसरा सिद्धान्त भी माना जाता है वह है आत्मा के गमन-प्रत्यागमन का सिद्धान्त। बुद्ध के समय तक यह सिद्धान्त परिपक्व हो गया होगा, क्योंकि बुद्ध ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया था। इस सिद्धान्त का प्राचीनतम रूप 'शतपथ ब्राह्मण' में मिलता है। 'बृहदारण्यक-उपनिषद्' में कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। मृत्यु के बाद जब शरीर के विभिन्न तत्त्व विभिन्न महाभूतों में मिल जाते हैं, तब कर्मों को छोड़कर कुछ भी नहीं बचता। इन्हीं कर्मों के आधार पर हमारा अगला जन्म निर्धारित किया जाता है।

आत्मा के 'गमन-प्रत्यागमन' सिद्धान्त का वास्तव रूप 'छान्दोग्य-उपनिषद्' में प्रस्फुटित हुआ है। इसके अनुसार यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला ऋषि 'देवयान' नामक मार्ग से जाकर ब्रह्म से एकत्व को प्राप्त होता है। यज्ञकर्ता गृहस्थ मरने के बाद पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक को जाता है और अपने पुण्य-फल के निरवशेष होने तक वहाँ ही सुख-भोग करता है। इसके बाद पुनः इसी लोक में आता है। पहले तो उसे वृक्ष की जड़ योनि मिलती है किन्तु फिर अगले जन्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य इन तीनों में से किसी वर्ण में जन्म लेता है। अथवा कर्मा-नुसार चाण्डाल, कुत्ता या सूअर का जन्म पाता है।

इसी प्रकार की धारणा 'बृहदारण्यक उपनिषद्' (६, २, १५-१६) की भी है। उसके अनुसार यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने वाले पुरुष देवलोक और सूर्यलोक से होते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। वे आवागमन से छूट जाते हैं। किन्तु 'कौषीतकी उपनिषद्' का मत इससे भिन्न है। इसके अनुसार मरकर सभी लोग पहले चन्द्रलोक को जाते हैं। वहाँ से कुछ लोग तो पितृ-मार्ग से ब्रह्मलोक को चले जाते हैं, शेष लोग पुनः इस लोक में आते हैं। उनके कर्म और ज्ञान के अनुसार उन्हें विभिन्न योनियाँ मिलती हैं।

'काठकोपनिषद्' में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक कथा के रूप में

किया गया है। नचिकेता नाम का ब्राह्मण जब यमलोक में पहुँचता है तो यम उसे तीन वरदान माँगने को कहता है। तीसरे प्रश्न में नचिकेता इस प्रश्न का उत्तर माँग लेता है कि मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व रहता है या वह अस्तित्वहीन हो जाता है। पहले तो यम आनाकानी करता है। इस प्रश्न का उत्तर न लेकर उससे शक्ति, विभव आदि माँगने को कहता है, किन्तु नचिकेता द्वारा सभी कुछ अस्वीकार करने पर यम को वह रहस्य बतलाना ही पड़ता है। उसने बतलाया कि जन्म और मरण ये दोनों ही विकास के दो विभिन्न पहलू हैं। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति ही मनुष्य को मृत्यु के बन्धन से मुक्त कर देती है और उस पुरुष को ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

उपनिषदों का सर्व-प्रधान उद्देश्य है जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करना। इस लक्ष्य की पूर्त्ति-हेतु अच्छे-बुरे सभी कर्म छोड़ने पड़ेंगे। यज्ञादि से तो पुनर्जन्म होता है। ज्ञान-प्राप्ति से ही एक के बाद दूसरा सत्य प्रतिपादित होता जायगा। यही उस चिर-सत्य 'ब्रह्म' तक ले जावेगा और हम आवागमन के चक्कर से छूट जावेंगे। जिस प्रकार कमल-दल पर जल लिप्त नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञाता के साथ भी पापकर्म लिप्त नहीं रहते। यह धारणा 'छान्दोग्योपनिषद्' (४, १४, ३) की है। यह ब्रह्मज्ञान केवल शक्ति-मात्र नहीं, किन्तु सर्वोच्च लक्ष्य है जीवन का। इसके ज्ञान के लिए इन्द्र १०१ वर्षों तक प्रजापति के यहाँ शिष्य-रूप में रहा। राजा लोग उस ब्राह्मण के लिए लाखों गायें और सुवर्ण राशियाँ देने को तैयार रहते थे जो 'आत्मा' या 'ब्रह्म' आदि का स्पष्टीकरण कर दे। इतना ही नहीं, इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों ने राजाओं की और धनिकों ने रंकों की स्तुति की और ज्ञान-प्राप्ति पर आभार प्रदर्शित किया। 'काठक उपनिषद्' के 'नचिकेतो-व्याख्यान' में ज्ञान-प्राप्ति की लालसा का सुन्दर चित्रण है।

ज्ञान के प्रति इस उत्कट इच्छा ने उस काल के मनुष्यों को सांसारिक सुखों से ही विमुख नहीं कर दिया, अपितु उनके हृदयों में संसार के प्रति घृणा भर दी थी। 'मैत्रायणी उपनिषद्' के प्रथम अध्याय में यह

निराशावादी दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है। वह इस प्रकार है—वृह-दश्व ने अपना राज्य ज्येष्ठ पुत्र के हवाले कर वन में जाकर कठोर तपस्या करनी प्रारम्भ की। १००० दिनों के बाद आत्मज्ञानी शांखायन जी उनके पास गये और वरदान माँगने को कहा। उसने आत्मा का परिज्ञान चाहा। शांखायन ने इसे छोड़कर कुछ अन्य बात पूछने के लिए कहा। इसी समय वह राजा रो पड़ा—

'इस हाड़, मांस, मज्जा, रक्त, अश्रु, मूत्र, पित्त आदि से पूर्ण शरीर में सुख उठाना असम्भव है। इस द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, काम, छल, भय, कायरता, वैर, वियोग, भूख, प्यास, जरा, मरण, व्याधि आदि के भार से लदे शरीर में सुख मिलना असम्भव है। यह विश्व ही क्षणिक है ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि कीड़े-मकोड़े, घास-फूस आदि। इतना ही नहीं बड़े-बड़े सागर सूख जाते हैं, पहाड़ गिर पड़ते हैं, देवता पतित हो जाते हैं, पृथ्वी धँस जाती है। जिस संसार में ऐसी बातें होती हैं उसमें खुशी के लिए स्थान कहाँ ?'

यह रचना उपनिषदों में अन्तिम रचना है। यह शास्त्रीय साहित्य के अधिक समीप है, किन्तु यह तो निश्चित है कि यह साहित्य बौद्ध-साहित्य-रचना के पूर्व का है। पुराने उपनिषदों में से इस प्रकार की निराशापूर्ण भावना विश्व के अनित्यता-सम्बन्धी सूक्तों में मिलती है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में तो 'आनन्द' को ही 'ब्रह्म' माना है। इसीसे सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और पुनः इसी में उसका लय भी होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि उपनिषदों का वास्तविक आधार 'निराशावाद' न होकर 'आशावाद' है। यह अवश्य है कि बाद की भारतीय दर्शन-परम्परा में जो 'निराशावाद' की लहरें मिलती हैं उनका मूल भाग उपनिषदों में देखने को मिल जाता है।

वेदान्त सूत्रों की नींव उपनिषदों के सिद्धान्तों ने ही डाली। बौद्ध, रामानुजीय, शांकर और ब्राह्मण सम्प्रदाय उपनिषदों के सिद्धान्तों से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। इनकी जड़ें उपनिषदों में देखने को मिलती

हैं। उपनिषदों के रहस्यमय सिद्धान्तों की कुछ-कुछ झलक पर्शियन, सिकन्दरियन (यूनानी), ईसाई और जर्मनी रहस्यमय सिद्धान्तों में मिलती है। एखार्ट (Eckhart), टन्लर (Tanlar), शोपेन हावर (Schopenhaver) और लुडविग स्टीन (Ludwing Stein) आदि ने मुक्त कण्ठ से उपनिषदों की प्रशंसा करके इनका महत्त्व स्वीकार किया है।

●

एकादश अध्याय

सूत्र-साहित्य

(६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक)

जिस प्रकार उपनिषदों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों के विचार-पक्ष को ग्रहण किया है उसी प्रकार सूत्रों ने उनके धार्मिक कृत्यों के पक्ष को अपनाया है। इन सूत्र-ग्रन्थों की रचना अधिक-से-अधिक बौद्ध-काल के आविर्भाव तक मानी जा सकती है, उसके पीछे नहीं।

किसी धर्म-सम्प्रदाय विशेष के सूत्रों के संग्रह की संज्ञा 'कल्प' है। श्रौत-सूत्रों का नम्बर उसमें सबले पहले आता है। ये ब्राह्मणों की गद्य-शैली पर लिखे गए और उनके विषय साम्य वाले हैं। ये सूत्र यज्ञों की कार्यविधि को संक्षिप्त, नियमित और क्रमिक बनाने के लिए रचे गए। इनसे पुरोहितों को विशेष सुविधा मिली। अस्तु, 'कल्प' का अर्थ हुआ— 'वेद-विहित कर्मों की क्रमपूर्वक विधि बतलाने वाला शास्त्र'।

ये कल्प सूत्र तीन प्रकार के हैं:—

(i) *श्रौत-सूत्र*—इनमें श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित यज्ञों का क्रमबद्ध विवेचन है।

(ii) *गृह्य-सूत्र*—इनमें घरेलू यज्ञों और उत्सव आदि से सम्बन्धित विधियों का क्रमबद्ध वर्णन है।

(iii) *धर्म-सूत्र*—आचार-विधि प्रधान सूत्र।

श्रौत सूत्रों में अग्निहोत्र, पौर्णमास्य यज्ञ, चातुर्मास्य यज्ञ, पशु यज्ञ आदि की विधि वर्णित है। इन यज्ञों के लिए तीन प्रकार की अग्नियों का विधान है।

गृह्य सूत्रों में अनेक विषयों का प्रतिपादन है। इनमें सभी कृत्यों, संस्कारों, उत्सवों और यज्ञों की विधि वर्णित है जिन्हें करके एक भार-

तीय का जीवन अधिक पवित्र समझा जाता था। संक्षेप में इन सूत्रों में निम्न विषयों की विधियों का वर्णन किया गया है—गर्भाधान, जन्म, प्रसूता स्त्री, नवजात शिशु, नामकरण, पुंसवन, मुण्डन, उपनयन, ब्रह्मचारी का जीवन, शिष्य और गुरु का सम्बन्ध, विद्याध्ययन की पूर्ति आदि। प्रेम, तिलक और विवाह-संस्कारों का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' में वर्णित पंचयज्ञों का इन गृह्य सूत्रों में भी बड़ा सूक्ष्म वर्णन है। वे इस प्रकार हैं :—

(i) *देव-यज्ञ*—इनमें देवताओं को आहुति दी जाती थी।

(ii) *दानव-यज्ञ*—इनमें दानवों की तुष्टि के लिए बलि आदि दी जाती थी।

(iii) *पितृ-यज्ञ*—इसमें पितरों को आहुति दी जाती थी और तर्पण (जलदान) किया जाता था।

(iv) *मनुष्य-यज्ञ*—अतिथि-सत्कार और उनकी सेवा।

(v) *ब्रह्म-यज्ञ*—वेद के कुछ अंशों को नित्य पढ़ना।

अग्निहोत्र, दश पौर्णमास्य, चातुर्मास्य आदि यज्ञों का विधान इन गृह्य सूत्रों में भी श्रौत-सूत्रों के ही समान है। इसके अतिरिक्त गृह-निर्माण, पशु-गर्भाधान, कृषि आदि सम्बन्धी कृत्यों की भी विधि वर्णित है। रोग, प्रेत-बाधा, ग्रहों का चक्र आदि से बचाव सम्बन्धी विधान भी है। अन्त्येष्टि क्रिया और श्राद्ध का विवेचन तो इतना सूक्ष्म और विस्तृत है कि इनके लिए अलग से श्राद्ध कल्प बन गये।

इस कल्प साहित्य में श्रौत और गृह्य सूत्रों के अतिरिक्त दो प्रकार के सूत्र और हैं :—

(i) *धर्म-सूत्र*—इनका गृह्य सूत्रों से समीप का सम्बन्ध है। धर्म से तात्पर्य Right, Duty, Law भी है और Religion, Custom, Usage भी है। अस्तु, ये सूत्र धार्मिक व अधार्मिक दोनों प्रकार के नियमों के लिए रचे गये। इन सूत्रों में जातियों के कर्त्तव्य, आश्रमों की व्यवस्था और उसका विधान है।

(ii) *शुल्व-सूत्र*—इनका श्रौत सूत्र से अधिक सम्बन्ध है। 'शुल्व'

का अर्थ है 'माप-सूत्र' (Measuring-string)। इनमें वेदिका-निर्माण, यज्ञ-भवन-निर्माण आदि विषयों से सम्बन्धित विधान हैं। सबसे प्राचीन भारतीय ज्यामिति के इन सूत्रों में दर्शन होते हैं।

वेदों के अध्ययन के लिए भी गृह्य और श्रौत-सूत्रों का बड़ा महत्त्व है। इनमें याज्ञिक कर्मों आदि की विधि ही नहीं किन्तु 'विनियोग', अर्थात् तत्सम्बन्धी यन्त्र भी मिलते हैं एवं स्तुतियाँ भी मिलती हैं।

केवल 'कृष्ण यजुर्वेद' के 'बौद्धायन' और 'आपस्तम्ब' सम्प्रदायों से सम्बन्धित कल्प सूत्र ऐसे हैं जिनमें श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्व सभी प्रकार के सूत्र हैं। आपस्तम्ब सूत्रों से समीप का सम्बन्ध रखने वाले सूत्र भारद्वाज और सत्यासाढ़, हिरण्यकेशिन् के सम्प्रदायों के सूत्र हैं। भारद्वाज सम्प्रदाय के श्रौत-सूत्र तो अब भी हस्तलिखित प्रतियों में हैं, किन्तु गृह्य सूत्रों का प्रकाशन हो चुका है और हिरण्यकेशिन् के श्रौत और गृह्य दोनों प्रकार के सूत्रों का भी प्रकाशन हो चुका है हिरण्यकेशिन् धर्म-सूत्र और आपस्तम्बीय धर्म सूत्रों में कोई विशेष अन्तर नहीं।

कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जिनका प्रचलन कम हो पाया है। इनका भी कुछ परिचय आवश्यक है। वाधूल सूत्र और वैखानस सूत्र का 'तैत्तिरीय-संहिता' से निकट का सम्बन्ध है। इन सूत्रों का पहला कर्ता बौद्धायन है। इसके बाद भारद्वाज, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशिन् का नाम क्रम से आता है। 'मानव-सम्प्रदाय' के श्रौत, गृह्य और शुल्व सूत्र एवं मानव-गृह्यसूत्र से सम्बन्धित काठक गृहसूत्र 'मैत्रायणी संहिता' के अन्तर्गत हैं।

ऋग्वेद से सम्बन्धित श्रौत-सूत्र

(i) *शांखायन श्रौत-सूत्र*—इसमें राजाओं द्वारा किये गए यज्ञों का विवरण अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है। विषय एवं शैली को देखकर यह आश्वलायन श्रौत सूत्र अधिक पुराना भी प्रतीत होता है। इसमें अठारह अध्याय हैं। अन्तिम दो अध्याय बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनका विषय कौषीतकी-आरण्यक के विषय से मिलता-जुलता है।

(ii) *आश्वलायन श्रौत-सूत्र*—इसमें बारह अध्याय हैं। इसका संबंध

'ऐतरेय ब्राह्मण' से है। आश्वलायन 'ऐतरेय-आरण्यक' के चौथे अध्याय के भी कर्ता माने जाते हैं।

सामवेद से सम्बन्धित श्रौत-सूत्र

(i) *मशक-सूत्र*—इसी का नाम 'आर्शेय कल्प' भी है। इसमें 'पञ्चविंश ब्राह्मण' की सोमयज्ञ-सम्बन्धी क्रियाओं का परिगणन मात्र है।

(ii) *लाट्यायन श्रौत-सूत्र*—यह भी 'पञ्चविंश ब्राह्मण' से समीप का सम्बन्ध रखता है।

(iii) *द्राह्यायण श्रौत-सूत्र*—यह सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्धित है।

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित श्रौत-सूत्र

कात्यायन श्रौत-सूत्र—इसमें छब्बीस अध्याय हैं। यह 'शतपथ-ब्राह्मण' की क्रिया का पूर्णतः पालन करता है। इसके १२, १३ और १४वें अध्याय में 'सामवेद' की क्रियाएँ भी अंतर्भूत हैं। यह सूत्र-काल के अंतिम प्रहर की रचना प्रतीत होती है।

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित श्रौत-सूत्र

इस प्रकार के कम-से-कम छः ग्रन्थ तो उपलब्ध हैं, किन्तु अभी तक केवल दो का ही प्रकाशन हुआ है।

(i) *आपस्तम्ब श्रौत सूत्र*—इसी नाम के कल्प सूत्र के तीस प्रश्नों में से प्रथम बीस प्रश्नों का इसमें प्रतिपादन हुआ है।

(ii) *हिरण्यकेशि श्रौत-सूत्र*—आपस्तम्ब श्रौत सूत्र की ही एक शाखा है। 'कल्प सूत्र' के २९ प्रश्नों में से पहले १८ प्रश्नों का इसमें समावेश है।

(iii) *बौद्धायन श्रौत-सूत्र*—यह आपस्तम्ब श्रौत सूत्र से पुराना है, किन्तु अब भी अप्रकाशित है।

(iv) *भारद्वाज श्रौत-सूत्र*—यह भी अप्रकाशित है।

(v) *मानव श्रौत-सूत्र*—यह 'मैत्रायणी संहिता' से सम्बन्धित है।

इसी से शायद मनु-स्मृति को मूल विषय मिला होगा। यह बहुत पुराना सूत्र-ग्रन्थ है। यह वर्णन-प्रधान है।

(vi) *वैखानस श्रौत-सूत्र*—इसका बहुत कम उल्लेख मिलता है।

अथर्ववेद से सम्बन्धित श्रौत-सूत्र

वैतान-सूत्र—यह न तो पुराना है और न मौलिक। 'अथर्ववेद' का भी अपना एक सूत्र-ग्रन्थ हो जाय, इसी उद्देश्य से इसका संकलन किया गया होगा। इसका सम्बन्ध 'गोपथ ब्राह्मण' और 'कात्यायन श्रौत-सूत्र' से है।

यद्यपि याज्ञिक क्रिया के यथार्थ परिज्ञान के लिए ये श्रौत-सूत्र अति-आवश्यक हैं, तथापि ये बड़े नीरस से हैं। इनकी कुछ मुख्य-मुख्य बातें ये हैं :—

(i) ये धार्मिक क्रियाएँ यजमान के हितार्थ की जाती हैं। (ii) इनके कर्ता ब्राह्मण पुरोहित होते हैं, जिनकी संख्या उस क्रिया-विशेष के अनुसार एक से सोलह तक हो सकती है।

श्रौत-कर्मों की संख्या चौदह है, जिसके सात-सात के दो भाग हैं :—

(i) हवि यज्ञ (Oblation Sacrifices व (ii) सोमयज्ञ (Soma Sacrifices)।

हवि यज्ञ में दूध, घी आदि की आहुति दी जाती है। इन यज्ञों में अग्निहोत्र सर्वाधिक प्रचलित है। 'दश पूर्णमास्य' यज्ञ सबसे अधिक महत्त्व के हैं। 'चातुर्मास्य यज्ञों' का महत्त्व भी कम नहीं है 'सोम-यज्ञ' अधिक कठिन हैं। 'अग्निष्टोम' यज्ञ सबसे सरल है, फिर भी इसमें सोलह पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है। कुछ सोमयज्ञ एकाह, कुछ अनेकाह व कुछ द्वादशाह के हैं। सोमयज्ञ से सम्बन्धित एक धार्मिक कर्म भी है, जिसका नाम 'अग्नि-चयन' है। यह एक वर्ष में पूर्ण होता है। इसकी तैयारी में ही बहुत समय लग जाता है। इसकी सामग्री भी कम नहीं है।

गृह्य-सूत्र

ये श्रौत सूत्रों के बाद में रचे गये। ब्राह्मणों में घरेलू याज्ञिक कर्मों का सर्वथा अभाव है। इसीलिए गृह्य सूत्रकारों ने किंवदन्तियों एवं प्रचलित धारणाओं को ही आधार बनाया।

ऋग्वेद के गृह्य-सूत्र

(i) *शांखायन गृह्य-सूत्र*—इसमें छः अध्याय हैं। इनमें से प्रथम चार अध्याय ही मौलिक हैं। इनमें विविध प्रक्षेप मिलते हैं।

(ii) *शाम्बव्य-शाम्भव गृह्य-सूत्र*—इसका सम्बन्ध 'कौषीतकी सम्प्रदाय' से है। यह अब भी हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में सुरक्षित है। शांखायन गृह्य-सूत्र के प्रथम दो अध्यायों के विषय से यह प्रभावित हुआ। इसमें पितृ-सम्बन्धी एक स्वतन्त्र एवं मौलिक अध्याय भी पाया जाता है।

(iii) *आश्वलायन गृह्य-सूत्र*—इसका सम्बन्ध 'ऐतरेय ब्राह्मण' से है। यह आश्वलायन श्रौत-सूत्र के विषय को ही आगे बढ़ाता है। इसमें चार अध्याय हैं।

सामवेद के गृह्य-सूत्र

(i) *गोभिल गृह्य सूत्र*—गृह्य सूत्रों में सबसे पुराना, सबसे पूर्ण और सबसे अधिक मनोरञ्जक है।

(ii) *खादिर गृह्य सूत्र*—इसका सम्बन्ध 'द्राह्यायण सम्प्रदाय' से है। 'राणायनीय शाखा' ने भी इसका प्रयोग किया है।

शुक्ल यजुर्वेद के गृह्य-सूत्र

पारस्कर-गृह्य सूत्र—इसी का नाम 'कातेय' या 'वाजसनेय गृह्य-सूत्र' है। यह 'कात्यायन श्रौत-सूत्र' से अत्यधिक सम्बन्धित है। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

कृष्ण यजुर्वेद के गृह्य-सूत्र

इस प्रकार के गृह्य सूत्रों की संख्या सात है, किन्तु अभी तक केवल तीन ही प्रकाशित हो पाये हैं।

और ३ पाक यज्ञ (Baked offerings) तो गृह्य कर्मों की कोटि में आ जाते हैं, शेष श्रौत कर्म कहलाते हैं।

गृह्य-संस्कार

कुछ मुख्य गृह्य-संस्कार निम्नलिखित हैं :—

(१) पुंसवन—पुत्र-प्राप्ति का लक्ष्य, (२) जात-कर्म—पुत्र जन्म, (३) नामकरण—जन्म के बाद १०वें दिन होता है, (४) क्षुधा-कर्म—बच्चे का मुण्डन, (५) गोदान—यह बच्चे के १६वें वर्ष में किया जाने वाला प्रथम क्षौर-कर्म है, (६) उपनयन—ब्राह्मण के लिए यह कर्म आठ और सोलह वर्ष की आयु के बीच में हो जाना चाहिए, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए कुछ वर्ष और भी बढ़ सकते हैं। इसके बाद ही बालक द्विज कहलाता है। (७) समावर्तन--गुरु-गृह से पढ़कर अपने घर आना, (८) विवाह, (९) महायज्ञ—यह प्रतिदिन किया जाता था, (१०) वेद यज्ञ—वेद का नित्य पाठ करना, (११) देव यज्ञ—देवताओं के लिए होम करना, (१२) पितृ यज्ञ—पितरों के लिए तर्पण करना, (१३) भूत-यज्ञ—विभिन्न पिशाचादि के लिए बलि प्रदान करना, (१४) मनुष्य यज्ञ—अतिथि-सत्कार आदि, (१५) दर्श-पूर्णमास्य यज्ञ आदि संस्कार—इनमें विभिन्न संस्कार सम्मिलित हैं, यथा—वर्षारम्भ में सर्पों को बलि देना, गृह-निर्माण एवं गृह-प्रवेश, जन समुदाय के हितार्थ साँड दाग कर छोड़ देना, कृषि-सम्बन्धी उत्सव, चैत्यों (अर्थात् पूज्य पुरुषों की समाधियों) पर बलि चढ़ाना आदि, (१६) अन्त्येष्टि—दो वर्ष से छोटे बच्चों को तो गाड़ देते हैं तथा शेष सभी का दाह-कर्म होता है, (१७) श्राद्ध—प्रतिवर्ष मृतक का श्राद्ध होना, (१८) पितृ-मेध—एक वर्ष बाद मृतक की अस्थियाँ गाड़ देना तथा वहाँ पर एक स्मारक बनवा देना।

इनमें से बहुत से संस्कार तो आज भी ज्यों-के-त्यों चले आते हैं और कुछ आंशिक परिवर्तन के साथ किये जाते हैं।

धर्म-सूत्र

इनमें दैनिक कृत्यों (Customs of every day life) की

है। ये सूत्र भी बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं। कारण यह है कि यास्क, जो कि सूत्र-काल के प्रथम प्रहर में था, ने कई नीति-सम्बन्धी नियमों को उद्धरण रूप में अवतारित किया है :—

(i) *आपस्तम्ब धर्म-सूत्र*—इसने आपस्तम्ब कल्प सूत्र के २८वें और २९वें अध्याय का क्रोडीकरण किया है। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के यज्ञ और उनके कर्त्तव्यों का वर्णन है। धर्मपक्ष से इसमें वैदिक विद्यार्थी और गृहस्थ के विभिन्न कर्त्तव्यों का वर्णन है। कुछ भोज्य पदार्थों को गर्हित बतलाकर वर्जित कर दिया है। शुद्धि और तप आदि अन्य कार्य भी वर्णित है। धर्म-निरपेक्ष पक्ष में विवाह, उत्तराधिकार और अपराध आदि ही केवल आते हैं। इसकी भाषा पाणिनि के पूर्वकाल की है, इसलिए प्रो० बूह्लर ने इस सूत्र का रचना-काल लगभग ४०० ई० पू० बतलाया है।

(ii) *हिरण्यकेशि धर्म-सूत्र*—इसका पूर्वोक्त धर्मसूत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह प्रतीत होता है कि उक्त धर्मसूत्र से ही विलग होकर यह शाखा विकसित हुई और इस प्रकार इसने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लिया। ईसा की ५वीं शती में ही यह सूत्र उक्त आपस्तम्ब धर्म-सूत्र से अलग हुआ। हिरण्यकेशि सम्प्रदाय के कल्पसूत्र के २९ अध्यायों में से २६ और २७वें अध्याय की विषय-सामग्री का ही इसने क्रोड़ीकरण किया है।

(iii) *बौद्धायन धर्म-सूत्र*—इसका विषय इसी सम्प्रदाय के कल्पसूत्र पर एक क्रम में आधारित नहीं है। विषय पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह आपस्तम्ब कर्मसूत्र से पुराना है। बौद्धायन सम्प्रदाय आज कहीं नहीं मिलता किन्तु कभी यह अवश्य ही दक्षिण भारत में रहा होगा। १४वीं शताब्दी में आचार्य सायण इसी सम्प्रदाय के एक सदस्य थे। इसमें चारों आश्रमों में मनुष्य के कर्त्तव्य, मिश्रित जातियाँ, विविध यज्ञ, शुद्धीकरण, तप, शुभ-उत्सव, राजाओं के कर्त्तव्य, अपराधों का न्याय, साक्षियों का प्रत्यक्षीकरण, उत्तराधिकार और विवाह के नियम, स्त्रियों की दशा आदि विषयों का अनुशीलन हुआ है। इसका

चौथा अध्याय श्लोकमय है और बाद की रचना प्रतीत होता है। उक्त तीन धर्म-सूत्र ही मुख्य हैं।

(i) *गौतम धर्मशास्त्र*—इसका सम्बन्ध किसी भी कल्पसूत्र से नहीं है तथापि इतना तो है कि यह कभी वैदिक धर्म-सम्प्रदाय से सम्बन्धित अवश्य था, क्योंकि सामवेद की राणायनीय शाखा की ही एक उपशाखा 'गौतम' नाम की भी कही गई है। कुमारिल ने तो इसका 'सामवेद' से सीधा सम्बन्ध बतलाया है, क्योंकि इसका २६वाँ अध्याय सामवेद ब्राह्मण से अक्षरशः मिलता है। यद्यपि इसे धर्म-शास्त्र कहा गया है तथापि इसकी शैली को देखकर इसे धर्म-सूत्र ही कहना ठीक होगा। यह पूर्णतः गद्य में ही है।

(ii) *वसिष्ठ धर्मशास्त्र*—इसकी कोई टीका नहीं मिलती। इसमें तीस अध्याय हैं। अन्तिम पाँच अध्याय बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं। इसमें बहुत से अशुद्ध पाठ मिलते हैं। इसमें गद्य-पद्य का मिश्रण मिलता है। इसमें प्रायः त्रिष्टुप् छन्द प्रयुक्त हुआ है। इसकी धर्मसूत्र सम्बन्धी सामग्री अवश्य ही पुरानी है। इसमें आपस्तम्ब धर्म-सूत्र की तरह ही केवल छः वैवाहिक विधियों को स्वीकार किया गया है, आठ को नहीं।

(iii) *मानव-धर्म-सूत्र*—इसके बहुत से उद्धरण वसिष्ठ धर्मशास्त्र में पाये जाते हैं। इसके छः उद्धरण तो ज्यों-के-त्यों मनुस्मृति में पाये जाते हैं। वसिष्ठ धर्मशास्त्र में एक उद्धरण तो ऐसा है जोकि आंशिक रूप में गद्यमय तथा अंशतः पद्य में हैं। पद्यमय अंश मनुस्मृति में भी पाया जाता है।

(iv) *वैखानस धर्म-सूत्र*—यह चार प्रश्नों में बँटा है। आन्तरिक प्रमाणों से इसकी रचना ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्व नहीं हो सकती। यह विष्णु धर्म-सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसे सामान्यतः धर्म-सूत्र न कहकर गृह्य-धर्मसूत्र कहना ही उचित होगा। इसमें चार आश्रमों के विभिन्न कर्त्तव्यों का विवेचन है। संन्यास आश्रम पर विशेष विस्तार से लिखा गया है।

शुल्व-सूत्र

आपस्तम्ब सम्प्रदाय के कल्प-सूत्र के अन्तिम अर्थात् ३०वें प्रश्न का विषय ही इन सूत्रों में प्रतिपादित हुआ है। ये क्रियात्मक सूत्र हैं, जिनमें वेदिका आदि के निर्माण के लिए उचित नाप-तोल दी गई है। इनसे तत्कालीन विकसित ज्यामिति ज्ञान का पता लगता है। भारतीय गणित-ग्रन्थों में ये सूत्र सबसे पुराने हैं।

वैतान सूत्र का अंगभूत 'प्रायश्चित्त सूत्र' सबसे प्राचीन सूत्रों में से एक है।

द्वादश अध्याय

वेदाङ्ग

वैदिक साहित्य का जो अंश सूत्र-शैली में लिखा गया है, उसे छः भागों में बाँटा गया है, जिन्हें कि वेदाङ्ग कहते हैं। वेद के स्वरूप तथा अर्थ के संरक्षण के निमित्त ही वेदाङ्ग साहित्य का उदय हुआ। इसका जन्म उपनिषद्-काल में ही हो गया था, क्योंकि छओं वेदाङ्गों के नाम तथा क्रम का वर्णन 'मण्डूकोपनिषद्' (१।१।५) में हमें सबसे पहले मिलता है। वह इस प्रकार हैं :—

(i) शिक्षा (Phonetics),

(ii) छन्दस् (Metre),

(iii) व्याकरण (Grammar),

(iv) निरुक्त (Etymology),

(v) कल्प (Religious practice) तथा

(vi) ज्यौतिष-विद्या (Astronomy)

इनमें से पहले चार तो वेदों के शुद्ध उच्चारण एवं परिज्ञान में सहायक बनते हैं तथा अन्तिम दो धार्मिक कृत्यों की विधि और उनके करने के लिए उचित काल आदि बतलाते हैं।

शिक्षा

'तैत्तिरीय आरण्यक' (७, १) में 'शिक्षा' का उल्लेख आया है। उसमें भी इस शास्त्र के अन्दर अक्षर, मात्राएँ, स्वर-सन्धान, उच्चारण और ध्वनि-नियम आदि का अध्ययन होना स्वीकार किया गया है। 'तैत्तिरीय-उपनिषद्' में शिक्षा के छः अंगों के नाम इस प्रकार हैं—(१) वर्ण, (२) स्वर, (३) मात्रा, (४) बल, (५) साम और (६) सन्तान।

वर्ण से अभिप्राय अक्षरों से है। स्वर से अभिप्राय उदात्त, अनुदात्त

और स्वरित से है। मात्रा से अभिप्राय है स्वरों के उच्चारण करने में लगने वाला समय। मात्रा तीन प्रकार की होती है—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। बल से तात्पर्य है स्थान और प्रयत्न से। साम का अर्थ है साम्य अर्थात् दोष से रहित तथा माधुर्य आदि गुण से युक्त उच्चारण। पाणिनि ने सुन्दर ढंग से पढ़ने वाले के ये गुण बतलाये हैं—"माधुर्यमक्षर व्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः। धैर्यं लय समर्थञ्च षडेते पाठकाः गुणाः॥" इसके विपरीत अधम पाठकों के गुण ये हैं—"गीती, शीघ्री, शिरः कम्पी तथा लिखित पाठकः। अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च, षडेते पाठकाऽधमाः॥" सन्तान शब्द का अर्थ है संहिता अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। उदाहरण के लिए 'वायो आयाहि' में दो स्वतन्त्र वैदिक पद हैं, यहाँ सन्धिजन्य रूप 'वायवा याहि' होगा।

सबसे प्राचीन उपलब्ध ध्वनि-शिक्षा के दर्शन विभिन्न वेदों के 'संहिता-पाठों' में होते हैं। इसी शिक्षा का अगला कदम 'पद-पाठ' का सन्निवेश है। यास्क, पाणिनि तथा पतञ्जलि पद-पाठों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार वेद के मूल पाठ से ही अधिक अच्छे तरीके से अर्थज्ञान हो सकता है।

वेद में स्वरों की प्रधानता का एक मुख्य कारण भी है और वह है अर्थनियामकता, अर्थात् शब्द के एक होने पर भी स्वर-भेद से उसका अर्थ-भेद हो जाया करता है। जैसे होम का प्रधान मन्त्र "इन्द्र-शत्रुर्वर्धस्व" है, जिसका अर्थ है कि इन्द्र का शत्रु अर्थात् घातक विजय प्राप्त करे। इस प्रकार 'इन्द्र शत्रुः' शब्द में 'इन्द्रस्य शत्रुः' यह षष्ठी तत्पुरुष समास अभीष्ट था। परन्तु यह अर्थ तभी सिद्ध हो सकता था जब इन्द्र शत्रुः' अन्तोदात्त हो। लेकिन ऋत्विजों की असावधानता से अन्तोदात्त के स्थान पर आदि उदात्त (इन्द्र शब्द में 'इ') का उच्चारण किया गया। इस स्वर-परिवर्तन से यह शब्द तत्पुरुष समास से बहुव्रीहि बन गया और इसका अर्थ हो गया 'इन्द्रः शत्रुः यस्य' अर्थात् इन्द्र जिसका घातक है। इस प्रकार यज्ञ का फल यजमान के लिए ठीक उल्टा ही सिद्ध हुआ। लिखा भी है:—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥
(पा० शि० श्लोक ५२)

'प्रातिशाख्य' ही शिक्षा का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका संहितापाठ और पद-पाठ से सीधा सम्बन्ध है। वे उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित करके हमारी पावन पुस्तकों के पाठ को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं। प्रातिशाख्यों का काल पाणिनि के पहले का है। वैदिक सन्धियों के विषय में जितने स्पष्ट और पूर्ण नियम प्रातिशाख्यों में मिलते हैं उतने पाणिनि में भी नहीं मिलते।

चार प्रातिशाख्य अब भी सुरक्षित हैं। उनका प्रकाशन भी हो चुका है। वे ये हैं:—

(i) ऋग्वेद का प्रातिशाख्य,
(ii) अथर्ववेद का प्रातिशाख्य,
(iii) यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा का प्रातिशाख्य, तथा
(iv) यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का प्रातिशाख्य।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य—इसमें तीन अध्याय हैं। आश्वलायन के गुरु शौनक इसके कर्ता बतलाये जाते हैं। इसमें आगे चलकर 'उपलेख' नाम का एक भाग भी जोड़ दिया गया, जिसमें कि विभिन्न परिशिष्ट विषय समाविष्ट हैं।

अथर्ववेद के प्रातिशाख्य—अथर्ववेद के तीन प्रातिशाख्य प्रकाशित हुए हैं। पहला शौनक सम्प्रदाय वाला चार अध्यायों का है जिसे डॉ० ह्विटनी ने सम्पादित कर अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। दूसरा है अथर्ववेद-प्रातिशाख्य-सूत्र, जो पंजाब विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला में विश्वबन्धु शास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ अपेक्षाकृत बहुत ही स्वल्पकाय है तथा अथर्ववेद-सम्बन्धी कतिपय विषयों का ही प्रतिपादन करता है। तीसरा ग्रन्थ भी अथर्व प्रातिशाख्य के नाम से प्रसिद्ध है तथा लाहौर से भूमिका तथा टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें ऋषियों के बड़े विचित्र नाम दिये गए हैं। इस प्रकार के ऋषियों की संख्या बीस है।

वाजसनेयी प्रातिशाख्य—इसमें आठ अध्याय हैं। कात्यायन इसके कर्त्ता हैं। इसमें शौनक आदि पूर्व ऋषियों का भी उल्लेख है।

सामवेद के ऊपर भी कई प्रातिशाख्य प्रकाशित हुए हैं, जिनमें मुख्य ये हैं :—

(१) *पुष्प-सूत्र*—पुष्प ऋषि द्वारा प्रणीत होने से यह प्रातिशाख्य पुष्प सूत्र के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके १० प्रपाठक हैं। इसके ऊपर उपाध्याय अजातशत्रु-कृत भाष्य प्रकाशित हुआ है।

(२) *ऋक् तन्त्र*—यह ग्रन्थ सामवेद की कौथुम शाखा का प्रातिशाख्य ग्रन्थ है। यह 'ऋक्तन्त्र व्याकरण' के नाम से निर्दिष्ट है। इसके रचयिता सुप्रसिद्ध शाकटायन हैं जिनका निर्देश यास्क तथा पाणिनि ने अपने ग्रन्थों में किया है।

प्रतिशाख्यों के अतिरिक्त प्रसिद्ध शिक्षा-ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

पाणिनीय शिक्षा—यह शिक्षा नितान्त प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा—यह परिमाण में बड़ी है। इसके श्लोकों की संख्या २३२ है। इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद की 'वाजसनेयी संहिता' से है।

वासिष्ठी शिक्षा—इसका भी सम्बन्ध वाजसनेयी संहिता से है।

कात्यायनी शिक्षा—इस शिक्षा में केवल तेरह श्लोक हैं जिनके ऊपर जयन्त स्वामी नामक विद्वान् ने संक्षिप्त टीका लिखी है।

पाराशरी शिक्षा—इस शिक्षा में १६० श्लोक हैं। इसमें भी स्वर, वर्ण आदि आवश्यक विषयों का विवेचन है।

माण्डव्य शिक्षा—इस शिक्षा का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। इस शिक्षा में वाजसनेयी संहिता में आने वाले ओष्ठ्य वर्णों का संग्रह किया गया है।

अमोघानन्दिनी शिक्षा—इसमें १३० श्लोक हैं; जिनमें स्वरों का

तथा वर्णों का पर्याप्त सूक्ष्म विचार किया गया है ।

माध्यन्दिनी शिक्षा—इसमें केवल द्वित्व के नियमों का विचार है ।

वर्णरत्न प्रदीपिका—इसके रचयिता भारद्वाज-वंशी अमरेश नामक विद्वान् हैं । इस ग्रन्थ के श्लोकों की संख्या २२७ है ।

केशवी शिक्षा—इसके रचयिता आस्तीक मुनि के वंशज गोकुल दैवज्ञ के पुत्र दैवज्ञ केशव हैं ।

मल्लशर्म शिक्षा—इसके रचयिता उपमन्यु गोत्रीय अग्निहोत्री खगपति के पुत्र मल्लशर्मा नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं । इसके पद्यों की संख्या ६५ है ।

स्वरांकुश शिक्षा—इसके लेखक जयन्त स्वामी ने पच्चीस पद्यों में स्वरों का विवेचन किया है ।

षोडश श्लोकी शिक्षा—इसके रचयिता रामकृष्ण नामक विद्वान् ने सोलह पद्यों में वर्ण और स्वरों का विचार प्रस्तुत किया है ।

अवसान निर्णय शिक्षा—इसके लेखक अनन्तदेव नामक विद्वान् ने शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध इस शिक्षा का निर्माण किया है ।

स्वर-भक्ति-लक्षण-शिक्षा—इसके लेखक सदाशिव के पुत्र बाल-कृष्ण नामक विद्वान् हैं ।

नारदीय शिक्षा—यह शिक्षा 'सामवेद' से सम्बद्ध है । इसके ऊपर शोभाकर भट्ट ने एक विस्तृत व्याख्या भी लिखी है । सामवेद के स्वरों के रहस्य को जानने के लिए यह बड़ी ही उपयोगी है ।

माण्डूकी शिक्षा—इसका सम्बन्ध 'अथर्ववेद' से है । इसके श्लोकों की संख्या १०६ है ।

इन शिक्षा-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य छोटी शिक्षाएँ भी मिलती हैं जैसे—क्रम-सन्धान शिक्षा, गलहक् शिक्षा और मनःस्वार शिक्षा ।

इन शिक्षा-ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भली भाँति सिद्ध होता है कि प्राचीन ऋषियों ने भाषा-शास्त्र के इस आवश्यक अंग का कितना वैज्ञानिक अध्ययन किया था । शिक्षा के चार ग्रन्थ पण्डित धनराज जी की सूची में भी दिये गए हैं । याज्ञवल्क्य शिक्षा में २५०००, गणेश सूत्र

में १ लाख २५ हजार, भारद्वाज शिक्षा में ३६००० और काश्यप शिक्षा में ५६००० श्लोक या सूत्र बतलाये गए हैं।

छन्द

वैसे तो ब्राह्मण-ग्रन्थों में यत्र-तत्र छन्दों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनका नियमित रूप से प्रतिपादन इन कृतियों में पाया जाता है:—

(i) शांखायन श्रौत-सूत्र के (७-१२७) में।

(ii) ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अन्तिम तीन परिच्छेदों में।

(iii) सामवेद के निदान-सूत्र में।

इनके अतिरिक्त पिंगल-कृत 'छन्दः-सूत्र' में भी वैदिक छन्दों पर प्रकाश डाला गया है। कात्यायन-कृत दो अनुक्रमणियों में से प्रत्येक में एक भाग ऐसा है कि जिसमें वैदिक छन्दोनिरूपण किया गया है। इनका विषय ऋग्वेद प्रातिशाख्य से मिलता-जुलता है।

वेद के मन्त्रों के उच्चारण के निमित्त छन्द का ज्ञान बड़ा आवश्यक है। पाणिनीय शिक्षा (श्लोक ४) का कहना है—'छन्दः पादौ तु वेदस्य'—छन्द वेद के पाद हैं। जिस प्रकार बिना पैरों के सहारे न तो मनुष्य खड़ा हो सकता है और न चल सकता है, उसी प्रकार छन्द के आधार के बिना वेद लंगड़ाने लगता है—चलने में असमर्थ रहता है। कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' में छन्द का लक्षण 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः' किया है, परन्तु लौकिक संस्कृत के छन्दों में यह बात नहीं है।

छन्दों के विषय में 'ऋग्वेद' के प्रकरण में सविस्तार लिखा जा चुका है। कात्यायन ने ऋग्वेद के छन्दों की संख्या इस प्रकार दी है:—

गायत्री	२४६७
उष्णिक्	३४१
अनुष्टुप्	८५५
बृहती	१८१
पंक्ति	३१२
त्रिष्टुप	४२५३
जगती	१३५८
	९७६७

लगभग तीन सौ मन्त्र अति जगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि आदि विविध छन्दों में निबद्ध हैं। लौकिक छन्दों का विकास इन्हीं वैदिक छन्दों से हुआ है।

पुनश्च पण्डित धनराज शास्त्री की सूची में छः छन्दोग्रन्थों के नाम दिये गए हैं जो सभी प्राचीन हैं। 'छन्दोर्णव' में १ लाख ३२ हजार श्लोक हैं, 'विष्णु सूत्र' में २५००० हैं, 'छन्दोरहस्य' में १६०००, 'छन्दः प्रभाकर' में १२०००, 'छन्दः प्रदेश' में ३२०००, और 'छन्दरत्नाकर' में ७००० श्लोक बतलाये हैं।

व्याकरण

व्याकरण का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र—व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्। व्याकरण वेद पुरुष का मुख माना जाता है—मुखं व्याकरणं स्मृतम्। सबसे प्राचीन व्याकरण का क्या क्रम रहा होगा, उसकी विषयावली क्या होगी, ये सब बातें ठीक-ठीक इस समय मालूम नहीं हो सकतीं। परन्तु 'गोपथ ब्राह्मण' में एक जगह लिखा है :—

"ओङ्कारः पृच्छामः को धातुः, किम् प्रातिपदिकम्, किम् नामाख्यातम्, किम् लिङ्गम, किम् वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः उपसर्गोनिपातः, किं वै व्याकरणम्, को विकारः, को विकारी, कति मात्राः, कति वर्णाः, कत्यक्षराः, कति पदाः, कः संयोगः, किम् स्थानानुप्रदानकरणम्, शिक्षिकाः किम् उच्चारयन्ति, किम् छन्दः, को वर्णः, इति पूर्व प्रश्नाः।" (गोपथ ब्राह्मण १-२४)।

इससे स्पष्ट है कि 'गोपथ ब्राह्मण' की रचना के बहुत पहले वैदिक व्याकरण पूर्ण विकसित रूप में उपस्थित था।

व्याकरण का काम है भाषा के नियमों का प्रदर्शन। इसीलिए इसका दूसरा नाम शब्दानुशासन भी है। शब्दों की संख्या अनन्त हैं, इसलिए व्याकरण का भी कोई अन्त नहीं है।

महर्षि शाकटायन ने ऋक्-तन्त्र (पृ० ३) में लिखा है कि व्याकरण का कथन ब्रह्मा ने बृहस्पति से किया, बृहस्पति ने इन्द्र से, इन्द्र ने भर-

द्वाज से, भरद्वाज ने ऋषियों से, और ऋषियों ने ब्राह्मणों से। पण्डित-समाज में एक प्राचीन गाथा प्रख्यात भी है :—

समुद्रवत् व्याकरणं महेश्वरे, तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ ।
तद्भाग भागाच्च शतं पुरन्दरे, कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ ॥

अर्थात् महेश्वर व्याकरण समुद्र के समान विस्तृत था। बृहस्पति का व्याकरण आधे घड़े में जल रखने के समान था। इसके टुकड़े का भी शतांश इन्द्र व्याकरण में विद्यमान था और पाणिनि में तो कुशा के अग्रभाग से गिरने वाले जल का बिन्दु ही वर्तमान है।

ऐन्द्र व्याकरण—इन निर्देशों से इन्द्र द्वारा व्याकरण की रचना किये जाने का वर्णन स्फुट प्रतीत होता है।

पाणिनि व्याकरण—आजकल व्याकरण-रूपी वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला एक ही व्याकरण है और वह है 'पाणिनीय-व्याकरण'। महर्षि पाणिनि ने लगभग ४००० अल्पाक्षर सूत्रों द्वारा संस्कृत भाषा का नितान्त वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत कर विद्वानों को आश्चर्य में डाल दिया है। अष्टाध्यायी के सूत्रों में ये नाम आये हैं—अत्रि, अङ्गिरस, आपिशलि, कठ, कलापी, काश्यप, कुत्स, कौंडिन्य, कौरव्य, कौशिक, गालव, गौतम, चरक, चक्रवर्मा, छागलि, जाबाल, तित्तिरि, पाराशर्य, पील, बभ्रु, भरद्वाज, भृगु, मण्डूक, मधूक, यास्क, वडवा, वडतन्तु, वसिष्ठ, वैशम्पायन, शाकटायन, शाकल्य, शिपालि, शौनक, स्फोटायन।

पाणिनि के बाद व्याडि का नम्बर आता है जिनके विषय में नागेश भट्ट ने लिखा है कि व्याडि का ग्रन्थ एक लाख श्लोकों का है। व्याडि के बाद किसी-किसी का कहना है कि निरुक्तकार यास्क वैयाकरण हुए हैं। यास्क के बाद कात्यायन और कात्यायन के बाद पतञ्जलि का नाम आता है। पतञ्जलि के महाभाष्य के बाद वामन और जयादित्य की काशिकावृत्ति प्रसिद्ध है। कात्यायन ने वार्तिक तथा पतञ्जलि ने महाभाष्य बनाया। कैयट ने उस पर प्रदीप नाम की टीका लिखी। नागो जी भट्ट ने प्रदीप की टीका की। हरिदत्त ने पदमञ्जरी नाम की काशिका

वृत्ति की टीका की। इसी पर जिनेन्द्र ने भी टीका की। नागो जी भट्ट ने पाणिनि सूत्रों की संक्षिप्त टीका 'वृत्त-संग्रह' नाम से की। पुरुषोत्तम ने भाषा वृत्ति लिखी और सृष्टिधर ने उसकी विवृत्ति लिखी। भट्टोजी दीक्षित ने 'शब्द कौस्तुभ' लिखा और बालम भट्ट ने 'प्रभा' लिखी। भट्टोजी दीक्षित ने 'सिद्धान्त कौमुदी' लिखी, जिसके प्रचार से अष्टाध्यायी की चाल उठ-सी गई। सिद्धान्त कौमुदी पर भट्टोजी दीक्षित ने प्रौढ़-मनोरमा नाम की टीका लिखी। शब्देन्दुशेखर बालम भट्टी पर संक्षिप्त टीका है। लघुशब्देन्दुशेखर उससे भी संक्षिप्त टीका है। 'मध्यकौमुदी' और 'लघुकौमुदी' वरदराज ने लिखी। इनके बाद तो पाणिनि पर ही अवलम्बित अन्य अनेक ग्रन्थ हैं। परिभाषा, परिभाषा वृत्ति, लघु-परिभाषा वृत्ति, चन्द्रिका, परिभाषेन्दुशेश्वर, उसकी काशिका, कारिका वाक्य प्रदीप, व्याकरण भूषण, भूषण सार दर्पण, व्याकरण भूषण सार, व्याकरण सिद्धान्त मञ्जूषा। पिछले चार ग्रन्थ वाक्य प्रदीप से सम्बन्ध रखने वाले टीका आदि हैं। वाक्पदीश व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य भर्तृहरि (षष्ठ शतक) थे। ये शब्दाद्वैत के संस्थापक थे। उनकी दृष्टि में स्फोट ही एकमात्र परम तत्त्व है और यह जगत् उसी का विवर्त रूप है। लघु भूषण कान्ति, लघु व्याकरण, सिद्धान्त मञ्जूषा, कला, गण पाठ, गण रत्न महोदधि सटीक, धातु प्रदीप, पाणिनि धातु पाठ, माधवीय वृत्ति और पद चन्द्रिका ये सब ग्रन्थ पाणिनीय सूत्रों पर अवलम्बित हैं। इनके अतिरिक्त भी पाणिनि सूत्रों के आधार पर अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं जिनकी नामावली देना यहाँ बाहुल्य मात्र है।

रामचन्द्राचार्य ने पञ्चदश शतक में अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रक्रिया के अनुसार एक नये क्रम से निबद्ध किया, जिसका नाम 'प्रक्रिया कौमुदी टीका' है। भट्टोजी दीक्षित ने भी इसी क्रम को अग्रसर किया।

किसी नये शाकटायन ने 'कामधेनु' नामक व्याकरण भी लिखा है। जैनियों में हेमचन्द्र का व्याकरण प्रचलित है। वररुचि ने 'प्राकृत प्रकाश' लिखा था। आदि कवि वाल्मीकि रचित प्राकृत व्याकरण के सूत्र हैं जिस पर लक्ष्मीधर ने षड्भाषा चन्द्रिका नाम की संस्कृत में टीका लिखी

है। बंगाल में कलाप अथवा कातन्त्र व्याकरण प्रचलित है। यहाँ पर एक वोपादेव का बनाया हुआ 'मुग्धबोध' नामक व्याकरण भी बहुत अधिक प्रचलित है। इस पर बहुत सी टीकाएँ भी लिखी गई। कुछ ऐसे भी वैयाकरण हो गये हैं जिनका आधार प्राचीन पाणिनीय सूत्र नहीं हैं।

निरुक्त

सायणाचार्य ने निरुक्त की व्याख्या की है—"अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तत् निरुक्तम्।" अर्थात् अर्थ की जानकारी के लिए पदों का स्वतन्त्र संग्रह निरुक्त है। 'निरुक्त' निघण्टु की टीका है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों का समुच्चय किया गया है।

'महाभाष्य' (मोक्ष धर्म पर्व अ० ३४२, श्लोक ८६-८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस 'निघण्टु' के रचयिता हैं—

> वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
> निघण्टुक पदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
> कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
> तस्मात् वृषा कपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

वर्तमान निघण्टु में 'वृषाकपि' शब्द संग्रहीत किया गया है। अतः पूर्वोक्त कथन के अनुसार यही प्रतीत होता है कि महाभारत काल में प्रजापति कश्यप इसके निर्माता माने जाते थे। 'निघण्टु' में पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक काण्ड' कहते हैं। चतुर्थ अध्याय 'नैगम काण्ड' और पञ्चम अध्याय 'दैवत काण्ड' कहलाता है। प्रथम तीन अध्यायों में तो पृथ्वी आदि के बोधक अनेक पदों का एकत्र संग्रह है। द्वितीय काण्ड को ऐकपदिक भी कहते हैं। 'नैगम' का तात्पर्य यह है कि इनके प्रकृति-प्रत्यय का यथार्थ अवगमन नहीं होता—'अनवगत संस्कारांश्च निगमान्।' दैवत काण्ड में देवताओं के रूप तथा स्थान का निर्देश है।

निघण्टु के व्याख्याकार—आजकल निघण्टु की एक ही व्याख्या उपलब्ध होती है और इसके कर्ता का नाम है—देवराज यज्वा। ये

रंगेशपुरी के पास के रहने वाले थे। नाम से ही ये दक्षिणी मालूम पड़ते हैं। कुछ लोग इन्हें सायण से भी अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु इन्हें सायण से प्राचीन मानना ही न्यायसंगत है। आचार्य सायण ने 'ऋग्वेद' (१।६२।३) के भाष्य में 'निघण्टु भाष्य' के वचनों का निर्देश किया है, जो देवराज के भाष्य में थोड़े पाठान्तर से उपलब्ध होता है। इस भाष्य के अतिरिक्त अन्य कोई निघण्टु-भाष्य उपलब्ध नहीं है। देवराज ने अपने भाष्य के उपोद्घात में क्षीर स्वामी तथा अनन्ताचार्य की 'निघण्टु-व्याख्याओं' का उल्लेख किया है—'इदं च······क्षीर-स्वामि-अनन्ता-चार्यादिकृतां निघण्टु व्याख्यां ··निरीक्ष्य क्रियते।' क्षीर स्वामी 'अमरकोष' के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। देवराज के उद्धरण अमरकोष-टीका (अमर-कोशोद्घाटन)में ज्यों-के-त्यों उपलब्ध होते हैं। अतः निघण्टु व्याख्या से देवराज का अभिप्राय इसी अमर व्याख्या से ही प्रतीत होता है। इस भाष्य का नाम है निघण्टु-निर्वचन। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज ने 'नैघण्टुक' काण्ड का ही निर्वचन अधिक विस्तार के साथ किया है (विरचयति देवराजो नैघण्टुक-काण्ड-निर्वचनम्—श्लोक ६)। इस भाष्य का उपोद्घात वैदिक भाष्यकारों के इतिवृत्त जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। व्याख्या बड़ी ही प्रामाणिक और उपादेय है। इसमें आचार्य स्कन्द स्वामी ऋग्भाष्य तथा स्कन्द महेश्वर की निरुक्त-भाष्य टीका से विशेष सहायता ली गई है। प्राचीन प्रमाणों का भी उद्धरण बड़ा ही सुन्दर है।

प्रसिद्ध तान्त्रिक भास्करराय-रचित एक छोटा ग्रन्थ उपलब्ध होता है जिसमें निघण्टु के शब्द अमर की शैली पर श्लोकबद्ध कर दिये गए हैं।

निरुक्त काल—निघण्टु काल के अनन्तर निरुक्तों का समय आरम्भ होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त संख्या में चौदह थे—निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदं (दुर्ग वृत्ति १।१३) यास्क के उपलब्ध निरुक्त में बारह निरुक्तकारों के नाम तथा मत निर्दिष्ट किये गए हैं। इनके नाम अक्षर-क्रम से इस प्रकार हैं—(१) आग्रायण, (२) औपमन्यव, (३) औदुम्बरायण,

(४) और्णनाभ, (५) कात्थक्य, (६) क्रौष्टुकि, (७) गार्ग्य, (८) गालव, (६) तैटीकि, (१०) वार्ष्यायणि, (११) शाकपूणि और (१२) स्थौलाष्ठीवि। तेरहवें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं। इन तेरह के अतिरिक्त किसी निरुक्तकार का पता नहीं मिलता। इन ग्रन्थकारों में शाकपूणि का मत अधिकता से उद्धृत किया गया है। बृहद्देवता में तथा पुराणों में शाकपूणि को यास्क से विरुद्ध मत रखने वाला कहा गया है।

यास्क का निरुक्त—निरुक्त वेद के षडङ्गों में अन्यतम है। आजकल यही यास्क-रचित निरुक्त इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें बारह अध्याय हैं। अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट-रूप में दिये गए हैं। इस प्रकार सब मिलाकर चौदह अध्याय हैं।

निरुक्त की टीका—सबसे प्राचीन, सबसे विस्तृत और सम्पूर्ण टीका जो आजकल निरुक्त के ऊपर उपलब्ध हुई है, वह है दुर्गाचार्य वृत्ति। किन्तु निश्चित रूप से यह इस विषय का आदिम ग्रन्थ नहीं है। इन्होंने अपनी वृत्ति में प्राचीन टीकाकारों की व्याख्या की। चार स्थलों पर इन्होंने किसी वार्तिककार के श्लोक उद्धृत किये हैं, प्रसंग से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह वार्तिक इसी निरुक्त पर ही था। वेदों के ये कितने मर्मज्ञ थे इसका परिचय तो दुर्गवृत्ति के साधारण पाठक को भी लग सकता है।

पण्डित धनराज शास्त्री की सूची में पांच निरुक्त ग्रन्थ दिये हुए हैं। गणेश निरुक्त में ३६००० सूत्र हैं, निरुक्त सूत्र में ५२०००, गार्ग्य निरुक्त में १००००, अर्थार्णव में ६२००० और शब्द प्रभा में १ लाख ३२ हजार सूत्र हैं।

कल्प

'कल्प' का अर्थ है वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र (कल्पो वेद-विहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना-शास्त्रम्)। फलतः जिन यज्ञ-यागादि तथा विवाहोपनयनादि कर्मों का विशिष्ट प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में किया गया है, उन्हीं का क्रमबद्ध वर्णन करने वाले सूत्र-ग्रन्थों का सामान्य अभिधान 'कल्प' है।

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—(१) श्रौतसूत्र, जिनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित श्रौत अग्नि में सम्पद्यमान यज्ञ-यागादिक अनुष्ठानों का वर्णन है। (२) गृह्यसूत्र, जिनमें गृह्याग्नि में होने वाले यागों का तथा उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का विस्तृत विवरण है। (३) धर्मसूत्र, जिनमें चतुर्वर्ण तथा चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों, विशेषतः राजा के कर्तव्यों, का विशिष्ट प्रतिपादन है। ये ही कल्पसूत्रों में प्रधान-तथा परिगणित होते हैं। चतुर्थ प्रकार (४) शुल्वसूत्र के नाम से अभिहित किया जाता है जिसमें वेदिका-निर्माण की रीति विशेष रूप से प्रतिपादित है और जो इसीलिए आर्यों के प्राचीन ज्यामिति सम्बन्धी कल्पनाएँ तथा गणनाओं के प्रतिपादक होने से वैज्ञानिक महत्त्व रखता है।

'ऋग्वेद' के दो श्रौतसूत्र हैं—(१) आश्वलायन तथा (२) शांखायन, जिनमें होता के द्वारा प्रतिपाद्य विषयों की ओर विशेष लक्ष्य रखते हुए यागों का अनुष्ठान है।

'ऋग्वेद' के गृह्यसूत्रों में दो ही गृह्यसूत्र सर्वत्र प्रसिद्ध हैं जो पूर्वोक्त श्रौतसूत्रों के साथ सम्बद्ध हैं। इनके नाम हैं आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा शांखायन गृह्यसूत्र।

'शुक्ल यजुर्वेद' का एकमात्र श्रौतसूत्र है कात्यायन श्रौतसूत्र, जो परिमाण में पर्याप्त बड़ा है। इसमें छब्बीस अध्याय हैं जिनमें 'शतपथ-ब्राह्मण' के द्वारा निर्दिष्ट याग क्रम का अनुवर्तन किया गया है। कर्काचार्य का विस्तृत भाष्य इसके गूढ़ रहस्यों की व्याख्या के लिए महत्त्वशाली ग्रन्थ माना जाता है। 'शुक्ल यजुर्वेद' का एकमात्र गृह्यसूत्र 'पारस्कर गृह्यसूत्र' है। कात्यायन श्राद्धसूत्र श्राद्ध-विषय का वर्णन विस्तार के साथ करता है। इसमें नौ कण्डिकाएँ हैं तथा प्रति कण्डिका में सूत्र हैं। इसके ऊपर तीन टीकाएँ प्रकाशित हैं—कर्काचार्य की, गदाधर की तथा कृष्ण मिश्र की श्राद्धकाशिका। कात्यायन की रचना होने से ये 'कातीय श्राद्धसूत्र' के नाम से भी विख्यात है। कात्यायन-रचित शुल्व सूत्र काशी से प्रकाशित हुआ है। वेदि-निर्माण, चतुरस्रादि क्षेत्र तथा चिति आदि का

निरूपण इसमें किया गया है। ज्यामिति का वैदिक युगीय प्रतिपादन नितान्त महत्वपूर्ण है।

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित छः श्रौतसूत्र मिलते हैं—(१) बौधायन श्रौतसूत्र, (२) आपस्तम्ब, (३) हिरण्यकेशि या सत्याषाढ़, (४) वैखानस, (५) भारद्वाज तथा (६) मानव श्रौतसूत्र। इनमें से प्रथम पांच तो तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध रखते हैं तथा अन्तिम मैत्रायणी शाखा से।

सामवेद के कल्पसूत्रों में सबसे प्राचीन 'आर्षेय कल्पसूत्र' माना जाता है। जो अपने रचयिता के नाम पर मशक-कल्पसूत्र के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें सामगानों का तत्तत् विशिष्ट अनुष्ठानों में विनियोग का वर्णन है।

अथर्ववेद का कल्पसूत्र विभिन्न ऋषियों के द्वारा प्रणीत है। इस वेद के श्रौतसूत्र का नाम है वैतान श्रौतसूत्र। यह न तो प्राचीन न मौलिक ही माना जाता है। 'वैतान' का अर्थ है त्रिविध अग्नि-सम्बन्धी ग्रन्थ। यह गोपथ ब्राह्मण का अनुसरण अनेक अंशों में करता है। कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रभाव भी इसके ऊपर विशेष है। कौशिक गृह्यसूत्र अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है।

कल्पसूत्रों के सम्बन्ध में सूत्र-साहित्य वाले अध्याय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

धर्म-सूत्र—कल्पसूत्रों के प्रसंग में धर्मसूत्रों का विशेष कथन आवश्यक है क्योंकि ये कल्प के अविभाज्य अंग हैं। धर्मसूत्रों में प्राचीनतम ग्रन्थ 'गौतम धर्मसूत्र' माना जाता है जिसका सम्बन्ध 'सामवेद' से है। कृष्ण यजुर्वेदीय कल्पकारों में प्राचीनतम आचार्य बौधायन ने धर्मसूत्र भी लिखा है जो उनके कल्पसूत्र का एक अंश मात्र है। बौधायन गृह्यसूत्र बौधायन धर्मसूत्र का अस्तित्व मानता है। 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' भी बहुत प्राचीन है। इसमें अपाणिनीय प्रयोग उपलब्ध होते हैं। हिरण्यकेशि धर्मसूत्र एक प्रकार से आपस्तम्ब धर्मसूत्र का ही संक्षिप्त प्रवचन है। वसिष्ठ धर्मसूत्र को यद्यपि कुमारिल 'ऋग्वेद' से सम्बद्ध बतलाते हैं, परन्तु प्रकृत ग्रन्थ में ऐसी कोई बात नहीं है जो मुख्यतः ऋग्वेद से सम्बन्ध

कल्पना की भित्ति हो सके। इसके अतिरिक्त विष्णु धर्मशास्त्र कौषीतकी शाखा से सम्बन्ध रखता है।

ज्योतिष

वेदाङ्गों में ज्योतिष अन्तिम वेदाङ्ग है। नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञ-याग का विधान वेदों में पाया जाता है। इन नियमों के यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञान नितान्त आवश्यक तथा उपादेय है। कहा है :—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता, कालानिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं काल-विधान-शास्त्री, यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्॥
(वेदाङ्ग ज्योतिष श्लोक ३।)

वेदांग ज्योतिष का प्रतिनिधि ग्रन्थ दो वेदों से सम्बन्ध रखने वाला उपलब्ध होता है—(१) यजुर्वेद से याजुष ज्योतिष तथा (२) ऋग्वेद से आर्च ज्योतिष। पहले में ४३ श्लोक हैं और दूसरे में ३६। बहुत से श्लोक दोनों ग्रन्थों में एक ही समान हैं। ये वेदकालीन प्राचीन ज्योतिष-शास्त्र का वर्णन करते हैं।

वेदाङ्ग ज्योतिष के कर्ता का नाम लगध था। इनका ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। कुछ लोग इन्हें विदेशी मानते हैं, पर यह बिल्कुल निराधार कल्पना है। गणना के लिए इस ग्रन्थ में पाँच वर्ष का युग माना गया है। इन वर्षों के नाम हैं सम्वत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्‌वत्सर। ये नाम 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में दिये गए हैं। उस समय वर्ष माघ मास से आरम्भ होता था। ज्योतिष के सिद्धान्त-ग्रन्थों में बारह राशियों से गणना की जाती है परन्तु इस ज्योतिष में राशियों का कहीं नाम-निर्देश नहीं है। प्रत्युत गणना के आधार २७ नक्षत्र ही हैं।

पश्चात्कालीन ज्योतिष-ग्रन्थों में विराह मिहिर का 'सूर्य सिद्धान्त' सर्वप्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त चार अन्य सिद्धान्त भी प्रचलित थे—पौलिश सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त, वासिष्ठ सिद्धान्त तथा पितामह सिद्धान्त,

जिनमें से रोमक सिद्धान्त का सम्बन्ध यूनानी ज्योतिष से मानते हैं। पराशर और गर्ग भी वराह मिहिर के पहले भारी ज्योतिर्विद् हो चुके हैं। इनसे पीछे के ज्योतिर्विदों में आर्य भट्ट, वराह मिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य, कमलाकार आदि प्रसिद्ध ग्रन्थकार हुए हैं। जिन्होंने गणित ज्योतिष की अपेक्षा फलित ज्योतिष को अधिक महत्त्व दिया। इनमें से आर्य भट्ट की आर्यभटीय मौलिकता के कारण अपना विशेष महत्त्व रखती है। इसमें गैलिलिओं के सूर्य की स्थिरता वाले सिद्धान्त की पूर्व-कल्पना की गई है।

त्रयोदश अध्याय

वैदिक-कालीन भौगोलिक स्थिति

वेद में लोकत्रय का तात्पर्य 'पृथ्वी', 'अन्तरिक्ष' और 'स्वर्ग' से लिया गया है। 'काण्व संहिता' तथा 'मैत्रायणी संहिता' में पुराणों में विख्यात कथानक का उल्लेख मिलता है कि प्राचीन काल में पर्वतों के पंख थे। वे जहाँ चाहते थे उड़कर जाया करते थे। इससे उत्पन्न जन-धन-हानि से बचाने के लिए इन्द्र ने पर्वतों के पंखों को काट डाला और पृथ्वी को सुरक्षित बनाया। 'ऋग्वेद' में मूजवत् नामक एक विशिष्ट पर्वत का उल्लेख मिलता है। 'अथर्ववेद' के ५वें काण्ड के २२वें सूक्त के अनुसार मूजवत् पर्वत् बहुत दूर उत्तर-पश्चिम में गन्धार या बाल्हीक देश के पास कहीं पर था। यही पर्वत सोमलता का मूलस्थान था जहाँ से सोम लाकर यज्ञ में प्रस्तुत किया जाता था।

समुद्र—ऋक् (१।४७।६) तथा अथर्व (१६।३८।२) में समुद्रजात वस्तुओं का और विशेषतः समुद्र से उत्पन्न मुक्ता का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया गया है। तुग्र के पुत्र भुज्य ने बहुत लम्बी यात्रा की थी जिसमें एक सौ डांडों के जहाज का उपयोग किया गया था। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य लम्बी समुद्र-यात्रा करने से कभी मुँह नहीं मोड़ते थे।

नदियाँ—'ऋग्वेद' में 'सप्त-सिन्धवः' शब्द अनेक बार उल्लिखित हुआ है, परन्तु ये सात नदियाँ कौन सी हैं इसका पता लगाना बड़ा कठिन है। बहुत सम्भव है कि पंजाब की पाँचों नदियाँ—शुतुद्रि, विपाशा, परुष्णी, वितस्ता और असिक्नी सिन्धु तथा सरस्वती के साथ इस शब्द में परिगणित हो गई हों। 'ऋग्वेद' के दशम मण्डल में एक पूरा सूक्त ही नदियों की स्तुति में प्रयुक्त हुआ है। १०।७५ सूक्त नदी सूक्त कहलाता

है। इस सूक्त के पंचम मन्त्र में सिंधु की पूरबी सहायक नदियों के क्रम से नाम दिये गए हैं :—

"इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति, शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जिकीये शृणुह्या सुषोमया॥"

(१) *गंगा*—इस स्थल के अतिरिक्त अन्यत्र 'गाङ्गचः' शब्द से गंगा के किनारे रहने वालों का आभास होता है।

(२) *यमुना*—इस नदी का नाम ऋग्, ऐतरेय तथा शतपथ के अनेक स्थलों पर आता है।

(३) *सरस्वती*—ऋग्वेद-काल में यह पश्चिम समुद्र तक निरन्तर बहती थी। यह वैदिक आर्यों की पुण्यतमा तथा ख्याततमा नदी है जिसके किनारे वैदिक याग-विधान का बहुशः उल्लेख है।

(४) *शुतुद्री*—वर्तमान सतलज है। रामायण में यह 'शतद्रु' के नाम से विख्यात है।

(५) *परुष्णी*—इसका वर्तमान नाम रावी है। इरावती के नाम से भी यह प्रसिद्ध थी।

(६) *असिक्नी*—काली होने के कारण इस नदी का नाम असिक्नी पड़ा था। इसी का वर्तमान नाम चन्द्रभागा या चनाब है।

(७) *मरुद्वृधा*—यह कोई बड़ी नदी है।

(८) *वितस्ता*—आधुनिक नाम झेलम। अभी तक काश्मीर में वितस्ता 'वेथ' के नाम से प्रसिद्ध है।

(९) *आर्जीकीया*—निरुक्त (९।२६) के अनुसार 'ऋजीक' पर्वत से उत्पन्न होने के कारण या ऋजुगामिनी होने से इसका यह नाम पड़ा। यास्क इसे विपाश् (व्यास) का ही नामान्तर बतलाते हैं।

(१०) *सुषोमा*—अटक जिले में बहने वाली 'सोहन' नदी।

इनके बाद इसी सूक्त के षष्ठ मन्त्र में सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदियों का उल्लेख है जो इस प्रकार हैं :—

(१) तृष्टामा, (२) सुसर्तु, (३) रसा, (४) श्वेती, (५) कुभा, (वर्तमान काबुल नदी), (६) मेहत्नु, (७) गोमती, (८) क्रुमु।

इनके अतिरिक्त कुछ नाम यत्र-तत्र मिलते हैं वे हैं—सुवास्तु, सरयू, विपाश्, आपया, दृषद्वती, सदानीरा, अनितभा, यव्यावती, रथस्या, वरणावती, विबाली, शिफा तथा हरियूपीया ।

देश—'ऐतरेय ब्राह्मण' (८।१३) ने राजा के महाभिषेक के प्रसंग में इस आर्य मण्डल को पाँच भागों में विभक्त किया है—प्राच्य (पूरब के लोग तथा देश), दक्षिण, पश्चिम में नीच्य तथा अपाच्य (पश्चिम के रहने वाले लोग), उत्तर हिमालय से उस पार उत्तर कुरु, व उत्तर मद्र नामक जनपदों की स्थिति थी और सब के बीच था प्रतिष्ठित ध्रुव मध्यम प्रदेश जिसमें कुरु-पंचालों का निवास था ।

उत्तर-पश्चिम के देशों में गन्धार, कम्बोज, कीकट, बल्हिक तथा वाहीक के नाम मिलते हैं । यही सभी देश अनार्य लोगों के ही निवास-स्थान थे । इनके अतिरिक्त ब्राह्मणों में कुछ अन्य देशों के भी नाम मिलते हैं ।

मद्र—यह देश वर्तमान पंजाब का ही एक छोटा भाग था । इसकी राजधानी शाकल थी जो आजकल का 'स्यालकोट' है । हिमालय के उत्तर में (परेण हिमवन्तम्) 'उत्तरमद्र' नामक जनपद का उल्लेख 'उत्तर कुरु' के साथ 'ऐतरेय ब्राह्मण, (८।३।१४) में किया गया है ।

महावृष—इसकी भौगोलिक स्थिति का पता ठीक-ठीक नहीं चलता ।

काशि या काश्य—अँथर्व (पैप्पलाद शाखा के अनुसार ५।२२।१४), शतपथ (१३।५।४।१९), जैमिनीय (२।३।१९) तथा वृहदारण्यक(२।१७) में उल्लिखित काशि वर्तमान 'काशी' ही है ।

कोशल—इस देश का नाम शतपथ (१।४।१।१७) तथा जैमिनीय ब्राह्मण में मिलता है ।

विदेह—शतपथ (१।४।१०) में 'विदेघ' नाम से भी इसी देश का निर्देश किया गया है । आजकल यह प्रदेश बिहार-स्थित तिरहुत नाम से प्रख्यात है । कोशल तथा विदेह की सीमा पर 'सदानीरा' थी जो संभवतः वर्तमान गण्डकी होगी ।

मगध—'ऋग्वेद' में मगध का नाम नहीं मिलता, किन्तु यह निश्चित है कि यह पूर्वीय देश था।

अङ्ग—'ऋग्वेद' में इसका नाम नहीं मिलता परन्तु 'अथर्ववेद' में मगध के साथ इसका नामोल्लेख है (५।२२।१४)। 'गोपथ ब्राह्मण' में 'अङ्ग मगधाः' समस्त पद की उपलब्धि से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अंग और मगध सम्मिलित राष्ट्र माने जाते थे।

देशों के नाम के अतिरिक्त कतिपय स्थानों के नाम भी वैदिक ग्रन्थों में आते हैं जिनमें कतिपय प्रसिद्ध स्थान यहाँ दिये जाते हैं—काम्पिल (तै० सं० ७।४।१६।१)—पंचाल की राजधानी; कुरुक्षेत्र—पुण्य-भूमि रूप से उल्लेख किया गया है; तूर्ध्न—कुरुक्षेत्र का उत्तरी भाग (तै० आ० ५।१।१); त्रिप्लक्ष—दृषद्वती के अन्तर्धान का स्थान जो यमुना के पास था; नैमिश (काठक सं० १०।६)—प्रसिद्ध नैमिषवन, वर्तमान निमिसार; परीणह्—कुरुक्षेत्र में पश्चिम में कोई स्थान (ताण्ड्य २५।१३।१)। अन्य भी अनेक छोटे-मोटे स्थानों का वर्णन यत्र-तत्र किया गया है जिनका वर्णन अनावश्यक समझकर नहीं किया जाता।

पणि कौन थे ?

ऋग्वेद-काल में पणि लोगों की सत्ता मन्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होती है। इनका स्वरूप जानने के लिए पहले इस शब्द की व्युत्पत्ति करना आवश्यक हो जाता है। पणि शब्द व्यवहारार्थक पण् धातु (पण व्यवहारे स्तुतौ च) से बना है जिससे इसका निरुक्तिगम्य अर्थ है—व्यवहार करने वाला, व्यापार से जीविका चलाने वाला। इस धातु से निष्पन्न अनेक शब्द आजकल भी व्यवहृत होते हैं। जैसे आज भी बाजार को 'विपणि' या 'आपण' कहते हैं और अक्षर-परिवर्तन के साथ इसीसे निष्पन्न हुआ 'वणिक्' शब्द है जिसका अर्थ 'बनिया' से लगाया जाता है। अतः आजकल के बनिये वैदिक पणियों के भाई-बन्धु ही नहीं, बल्कि साक्षात् उत्तराधिकारी हैं। ऋग्वेद-काल में ये लोग जमीन तथा समुद्र के रास्ते से व्यापार करते थे। व्यापार से धन-प्राप्ति को ही

जीवन का लक्ष्य मानने वाले लोभी बनियों में जितने सद्‌गुण तथा दुर्गुण विद्यमान रहते हैं वे सब इन पणियों में भी विद्यमान थे, ऐसा 'ऋग्वेद' (८।६।४।२) से प्रतीत होता है। ये लोग नितान्त स्वार्थी थे—अपने ही सुख के लिए धन खर्च करना जानते थे, किसी सत्कार्य में धन खर्च करने से सदैव विमुख रहते थे। 'ऋग्वेद' में इनके लिए 'अराधसः' का प्रयोग मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि धन सम्पन्न होने पर भी वे इसका उपयोग यज्ञानुष्ठान के लिए कभी नहीं करते थे। इनकी तुलना भेड़िया से की गई है। ये लोग आर्यों के देवताओं में भी विश्वास नहीं करते थे। एक स्थान पर एक ऋषि पूषन् से प्रार्थना करता है कि वे पणियों के निर्दय मन को मृदु बनावें। ऋषियों की दृष्टि में पणि लोग थे—शोभन कर्मों से विहीन, बकवादी, मिठबोला, यागादिकों में श्रद्धा-हीन, देवताओं को स्तुतियों द्वारा वर्धन न करने वाले तथा यज्ञों का अनुष्ठान न करने वाले :—

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ॥
(ऋ० ७।६।३)

ये लोग सूद बहुत लिया करते थे इसलिए इनके वास्ते 'बेकनाट' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। ये लोग क़ाफ़िले लेकर चला करते थे तथा इधर-उधर की गायें चुराकर अपनी गायों में मिला लिया करते थे। पणियों के कोई-कोई सरदार भले आदमी भी होते थे, ऐसे एक सरदार की प्रशंसा 'ऋग्वेद' (६।४५।३१-३३) में की गई है। इसका नाम बृबु था। शांखायन श्रौतसूत्र (१६।११।११) के अनुसार भरद्वाज ऋषि ने बृबु से दक्षिणा में विशेष दान प्राप्त किया था। 'नीत मञ्जरी' में बृबु के आख्यान में उसे बढ़ई का काम करने वाला बतलाया गया है जिससे जान पड़ता है कि पणि लोग जहाज़ बनाने के काम में निपुण थे। पणियों के सरदार बृबु की शिक्षाप्रद कहानी 'ऋग्वेद' से बहुत काल पीछे भी भारतीयों का मनोरंजन करती रही। प्राण-संकट आने पर हीन जाति के अन्न खाने पर भी पुरुष पाप से लिप्त नहीं होता इस सिद्धान्त

को पुष्ट करने के लिए मनु ने भी इसके कथानक का उल्लेख किया है:—

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥

(मानव धर्मशास्त्र १०।१०७)

वेदकालीन समाज

वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था। 'ऋग्वेद' के काल में वर्ण-व्यवस्था विद्यमान थी या नहीं, इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अधिकांश पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के नाम तथा काम की व्यवस्था तथा परिबृंहण ब्राह्मण-युग की ही महती देन है। 'ऋग्वेद' में ये वर्ण विद्यमान न थे।

विवाह-प्रथा

'ऋग्वेद' के युग में विवाह एक सुव्यवस्थित प्रथा के रूप में दृष्टि-गोचर होता है। वैदिक आर्य संग्राम-प्रिय जाति थी, जो शत्रुओं के साथ समारांगण में अपनी भुजाओं का पराक्रम दिखलाने के लिए सर्वदा उद्यत रहती थी। विवाह सर्वदा युवक तथा युवती का हुआ करता था। बाल-विवाह का कहीं भी संकेत नहीं मिलता। विवाह का सर्व-मान्य सूक्त 'ऋग्वेद' के दशम मण्डल का ८५वाँ सूक्त है जिसका अनु-शीलन ऋग्वेदीय विवाह की पूर्ण भावना का परिचायक है। सूर्या के दान के प्रसंग में यह मन्त्र आता है:—

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादद्दात् ॥

(ऋ० १०।८५।९)

इस मन्त्र का 'पत्ये शंसन्तो' सायण भाष्य के अनुसार 'पतिकामा' तथा 'पर्याप्त यौवना' अर्थ रखता है। वैदिक आर्य एक ही विवाह करता था तथापि बहु-विवाह की प्रथा स्पष्टतः प्रचलित थी। च्यवन ऋषि की

बहुपत्नियों का (ऋ० १।११६।१०) में उल्लेख मिलता है तथा याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों का स्पष्ट उल्लेख 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में आया है।

नारी की महिमा—वैदिक युग में नारी का गृहस्थी में बड़ा महत्त्व था। दुहिता के रूप में या पत्नी या माता के रूप में वह सर्वथा सम्मान-भाजन थी। "जायेदमस्तम्—जाया ही घर है" की भावना ऋग्वेदीय-युग में प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी थी। उस समय स्त्रियाँ शिक्षित भी हुआ करती थीं। अनेक 'ऋषिकाओं' का दर्शन हमें 'ऋग्वेद' के अनुशीलन से होता है। कक्षीवान् की पत्नी घोषा का नाम इस प्रसंग में महत्वशाली है जिसने अपनी तपस्या तथा मन्त्र-दर्शन के बल पर अश्विन की अनुकम्पा से अधिक उम्र बीतने पर विवाह का सौख्य प्राप्त किया। दशम मण्डल के दो लम्बे सूक्त (३६ तथा ४०) उसकी अध्यात्म दृष्टि के परिचायक हैं। लोपामुद्रा ने अपने पति अगस्त्य के संग में १।१७६ सूक्त का दर्शन किया। अपाला (१०।६१) तथा रोमशा के संग में सूर्य की पुत्री सूर्या भी ऋषिका हैं (१०।८५)। काव्य-रचना का यह दृष्टान्त उदात्त शिक्षा-पद्धति का स्पष्ट प्रमाण है।

सामाजिक जीवन—वैदिक आर्य लोगों का समाज कृषीवल समाज था जो एक निश्चित स्थान पर अपनी बस्तियाँ बनाकर पशु-पालन तथा कृषि-कर्म में सन्तत निरत रहता था। गाँव सड़कों द्वारा जुड़े रहते थे। ये लोग रखवाली के लिए कुत्ते भी पाला करते थे। गाँवों के अतिरिक्त नगर भी उस समय थे और वहाँ पर रक्षा के लिए किले होते थे। ऋ० १।१८६।२ में पुर् (किले) को पृथ्वी (विस्तृत) तथा उर्वी (विशाल) बतलाया गया है।

उस समय नगर का अभिप्राय मुख्यतया राजधानी से लिया जाता था। वैदिक ग्रन्थों में पुर् तथा पुर दोनों शब्द मिलते हैं। 'ऋग्वेद' के आर्य काम्पिल (पाञ्चालों की राजधानी), आसन्दीवन्त (कुरु-राजधानी) तथा कौशाम्बी नगरियों से भली भाँति परिचित हो गये थे।

आर्य लोग भेड़ें भी पालते थे तथा कम्बल आदि ऊनी वस्त्र तैयार करते थे। कपास की खेती खूब होती थी एवं सूती वस्त्र भी तैयार किये

जाते थे। बढ़ई लोग युद्ध-यात्रा के तथा मनोविनोद के प्रधान सहायक रथ को बनाते थे तथा आर्यों की गृहस्थी की उपयोगी काठ की चीजें तैयार करने में लगे रहते थे। लोहार (कार्मार) हल के फाट आदि बनाता था। कुम्हार (कुलाल) घड़ा आदि मिट्टी के बर्तन बनाता था। चमार (चर्म्मन) लोग मधु आदि रखने के लिए चमड़े के भी बर्तन बनाते थे। ग्रामों में नाई (वप्ता, ऋ० १०।१४२।४) भी होते थे। 'ऋग्वेद' में डाक्टरों (भिषक् ऋ० २।३३।४) का भी उल्लेख आया है।

वैदिक-कालीन गृह—वैदिक मन्त्रों में घर के अर्थ को सूचित करने वाले गृह, आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य, दुरोण आदि अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं, जो घर की विशिष्टता को लक्ष्य कर प्रयुक्त किये गए हैं। चारों ओर दीवालों से घिरे रहने के कारण घर 'आयतन' कहलाता है तथा दरवाजा होने के कारण उसे दुरोण के नाम से पुकारते थे। निवास-स्थान के अर्थ में वास्तु तथा पस्त्या का प्रयोग किया जाता था। 'सुवास्तु' तथा 'वास्तोष्पति' शब्दों में वास्तु घर बनाने के स्थान को भी लक्षित करता है जो इस शब्द का कालान्तर में गृहीत अर्थ है। इन घरों में आर्यों के पशु भी रहा करते थे।

घरों के चार विभाग हुआ करते थे—(१) अग्निशाला—वह कमरा जिसमें अग्नि जलाई जाती तथा विभिन्न अग्निकुण्डों में देवताओं के लिए होम किया जाता था। (२) हविर्धान—भाण्डार-गृह जिसमें गृहस्थी के नित्य खर्च तथा यज्ञ-याग की वस्तुएँ एकत्र रखी जाती थीं। (३) पत्नीनां सदन—अन्तःपुर। यह बहुत ही भीतर हुआ करता था जिसमें स्त्रियाँ स्वच्छन्दतापूर्वक अन्य घर वालों की आँख से ओझल होकर रह सकती थीं (गुहा चरन्ती योषा—ऋ० १।१६७।३)। दूसरे कमरों में आने-जाने में स्त्रियों के लिए कोई रुकावट न थी, परन्तु बाहर जाते समय विवाहित स्त्रियाँ चादर या दुपट्टे से अपने शरीर को ढक लिया करती थीं। (४) सदस्—बैठने का स्थान; बाहरी दालान जिसमें पुरुषवृन्द एकत्र होकर सोते, बैठते या बातचीत किया करते थे। इन कमरों के अतिरिक्त पशुओं के रहने के भी अलग कमरे होते थे जो 'शाला' या 'गोत्र' कहे जाते थे।

अतिथियों एवं पुरोहितों के ठहरने के लिए भी अलग कमरे होते थे।

'ऋग्वेद' के एक मन्त्र में 'तल्प', 'प्रोष्ठ' तथा 'वह्य' पर लेटकर आराम करने वाली स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। 'अथर्ववेद' के विवाह सूक्त (१४।२।३१) में वधू को प्रसन्नचित्त होकर 'तल्प' पर आरोहण करने तथा पति के लिए प्रजा उत्पन्न करने का मंगलमय उपदेश दिया गया है।

नाना प्रकार की घरेलू वस्तुओं को रखने के लिए मिट्टी और धातु के बने 'कलश', लकड़ी के बने 'द्रोण' व चाम के बने 'हृति' का प्रयोग प्रत्येक घर में होता था। धनाढ्य लोगों के यहाँ सोने-चाँदी के प्याले (चषक) रहा करते थे। यज्ञ के अवसर पर हविष्य पकाने के लिए 'उरव्य' तथा घरेलू अवसरों पर पकाने के लिए 'स्थाली' काम में लाई जाती थी। जाँत (दृषत् तथा उपल) से अनाज पीसे जाते थे। काठ के बने हुए ओखल (उलूखल) तथा मूसर (मूषल) से अनाज या सोमलता के कूटने का काम लिया जाता था। तैयार अनाज को नापनेवाला बर्तन 'ऊर्वर' कहलाता था और उसकी सहायता से नापा गया अनाज भाण्डार (स्थीवि) में रखा जाता था। चीजों को बचाने के लिए उन्हें शिक्य (छीका) पर लटकाकर रखने की चाल उस समय भी थी (अथर्व ९।३।६)। धातु या मिट्टी के बर्तनों में सोने या चाँदी के सिक्के भरकर रखे जाते और रक्षा के लिए उन्हें ज़मीन के नीचे गाड़ा भी जाता था।

भोजन—वैदिक आर्यों का भोजन सीधा-सादा, स्वास्थ्यवर्द्धक तथा सात्त्विक होता था जिसमें दूध और घी की प्रचुरता रहती थी। 'ऋग्वेद' के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि भारतीयों का सबसे प्राचीन भोजन यव (जवा) की रोटी और चावल (धान) का भात। व्रीहि (चावल) शब्द 'ऋग्वेद' में न आकर 'यजुर्वेद' आदि संहिताओं में मिलता है तथापि प्राचीन आर्यों को हम चावल से अपरिचित नहीं मानते, क्योंकि इसका वाचक धाना या धान्य शब्द 'ऋग्वेद' में अवश्य उपलब्ध होता है। अपूप (पुआ) आटा तथा दूध से तैयार किया गया आर्यों का एक स्वादिष्ट भोजन था।

पेय—वैदिक आर्यों का प्रधान पेय सोमरस था जिसे वे अपने इष्ट-देवता को अर्पित कर स्वयं पीते थे। यज्ञों के अवसर पर सोमरस का सेवन तथा भिन्न-भिन्न देवताओं को समर्पण एक महत्त्वपूर्ण व्यापार था।

वस्त्र और परिधान—वैदिक ग्रन्थों में परिधान के विषय में जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं वे इतने स्वल्प तथा विरल हैं कि उस समय की दशा का पूरा परिचय नहीं मिलता। वैदिक आर्यों के साधारण वस्त्र ऊन (ऊर्णा), रेशम तथा सूत के बने हुए रहते थे। सप्त सिन्धव के शीत-प्रधान भाग में ऊनी वस्त्र और इतर भाग में सूती वस्त्रों के पहनने की चाल थी।

साधारण रूप से प्राचीन भारतीय दो वस्त्रों का व्यवहार करते थे—अधो वस्त्र (निचले भाग को ढकने वाला कपड़ा, धोती या साड़ी) तथा अधिवास (ऊपरी भाग को ढकने के लिए चादर या दुपट्टा)। कमर के पास धोती को बाँधने की चाल थी जिसे 'नीविं करोति' वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त करते थे। शरीर के ऊपरी भाग को भी दो प्रकार से आच्छादित करने की प्रथा थी। कभी-कभी उसे ढीले-ढाले लम्बे रैपर (उपवासन, पर्याणहन या अधिवास) से ढकते थे और कभी-कभी दर्जी के द्वारा सिले हुए शरीर से चिपकने वाले कुर्ता (चपकन) या कुर्ती (जैकेट) पहनते थे जिसे वैदिक ग्रन्थों में 'प्रतिधि', 'द्रापि' और 'अत्क' नाम से पुकारते थे। अथर्व वेद (१४।२।४९) में वर्णित दुलहिन का 'उप-वासन' चादर ही जान पड़ता है तथा मुद्गलानी का जो वस्त्र (वासः) हवा के झोंकों से उड़ता था वह भी 'उत्तरीय' प्रतीत होता है। (उत स्म वातो वहति वासो अस्याः ऋ० १०।१०२।२)। 'पर्याणहन' भी एक हल्की चादर ओढ़ने के काम आती थी। अधिवास के वर्णन से (शत० ५।४।४।३) प्रतीत होता है कि वह लम्बा ढीला-ढाला चोगा था जिसे राजा लोग धोती तथा कुर्ते के ऊपर पहना करते थे। सिले हुए कपड़े पहनने की चाल वैदिक काल में अवश्य थी। प्रतिधि (अथर्व १४।१।८) दुलहिन के वस्त्रों में वर्णित है, प्रसंगानुसार यह कञ्चुकी जान पड़ती है। धन-सम्पन्न व्यक्ति शरीर में सटने वाले, सुनहले तारों से बने जरी

के काम वाले 'द्रापि' पहना करते थे ।

इनके अतिरिक्त वैदिक आर्य माथे पर पगड़ी (उष्णीष) तथा पैरों में जूते भी पहनते थे । युद्ध के अवसर पर सैनिकों के पदत्राण पहनने का उल्लेख मिलता है ।

भूषा—आर्य लोग आभूषण धारण करने के प्रेमी थे । 'ऋग्वेद' में अनेक प्रकार के आभूषणों के धारण करने का उल्लेख मिलता है । सबसे प्रसिद्ध गहना था सुवर्ण-निर्मित 'निष्क' जो गले में पहना जाता था (ऋ० २।३३।१०; ५।१६।३) । निष्क मुद्रा के रूप में भी प्रचलित था । स्त्रियाँ केश-रचना किया करती थीं । (ऋ० १०।११४।३) में 'चतुष्क-पंदा युवतिः सुपेक्षा' दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि वे चार प्रकार से केश-बन्धन करती थीं । इसके अतिरिक्त 'ओपश', 'कुरीर' और 'कुम्ब' शब्द भी इसी अर्थ के द्योतक प्रतीत होते हैं क्योंकि इनके विशिष्ट अर्थों का पता भाष्यकारों के अनेक प्रयत्न करने पर भी भली भाँति नहीं चलता । जमदग्नि ऋषि ने अपनी पुत्री के केशवर्धन के लिए ज़मीन से खोदकर एक औषधि निकाली थी (अथर्व ६।१३७) जिसके प्रयोग करने से छोटे-छोटे बाल लम्बे हो गये । इन वैदिक शब्दों को समझने के लिए भारतीय पुरातत्त्व विभाग के द्वारा खुदाई में मिली मूर्त्तियों के केश-सज्जा की परीक्षा आवश्यक है ।

आर्थिक जीवन

वैदिक आर्य उस अवस्था को पार कर चुके थे जिसमें मनुष्य अपनी क्षुधा-शान्ति के लिए फल-मूल पर ही निर्भर रहा करता है अथवा पशुओं का शिकार कर माँस से अपनी उदराग्नि की ज्वाला को शान्त किया करता है । वे लोग एक सुव्यवस्थित तथा एक स्थान पर रहने वाले समाज में सुसंगठित हो गये थे । उनकी जीविका का प्रधान साधन था खेती एवं पशु-पालन । वे कृषीवल समाज के रूप में 'ऋग्वेद' में चित्रित किये गए हैं ।

कृषि—'ऋग्वेद' तथा पिछले ग्रन्थों में खेत के लिए 'उर्वर' तथा 'क्षेत्र'

शब्द साधारणतया प्रयुक्त किये गए हैं खेत दोनों प्रकार के होते थे— उपजाऊ(अप्नस्वती) तथा परती (आर्तना, ऋ० १।१२७।६)। खेतों के माप का भी वर्णन 'ऋग्वेद' में मिलता है। वैदिक-काल के कृषि-कर्म के प्रकारों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय खेती आज की भाँति ही होती थी। खेत को हलों से जोतकर बीज बोने के योग्य बनाया जाता था। हल का साधारण नाम 'लांगल' या 'सीर' था जिसके अगले नोकीले भाग को फाल कहते थे। हल की मूँठ बड़ी चिकनी होती थी (सुमतित्सरु, अथर्व ३।१७।३)। हल में एक मोटा लम्बा बाँस लगा रहता था जिसके ऊपर जुआ (युग) बँधा रहता था। हल खींचने वाले बैलों की संख्या ६, ८, १२ या २४ तक होती थी। हलवाहा (कीनाश) अपने पैनों (अष्ट्रा, तोद या तोत्र) से इन बैलों को हाँकता था। वैश्य लोग ही अधिकतर खेती किया करते थे, क्योंकि अष्ट्रा उनका चिह्न बतलाया गया है। खेतों में खाद भी डाली जाती थी।

पकने जाने पर खेतों को हँसुआ (कटनी, ऋ० १०।१०१।३; दात्र ऋ० ८।७८।१०) से काटते थे। अनाज को पुलियों में बाँधते थे और खलिहान में लाकर साफ़ किया करते थे। 'शतपथ' ने कर्षण (जोतना), वपन (बोना), लवन (काटना) तथा मर्दन (माँड़ना)—चार ही शब्दों में कृषि-कर्म की पूरी प्रक्रिया का वर्णन कर दिया है। मर्दन के बाद सूप (शूर्प) से भूसा अलग किया जाता था (ऋ० १०।७१।२)।

बोये जाने वाले अनाजों के नाम मन्त्रों में मिलते हैं। 'ऋग्वेद' में यव तथा धाना का उल्लेख है। कोई-कोई इन्हें अनाज से साधारण नाम मानते हैं। बोये जाने वाले अनाजों के नाम हैं—व्रीहि (धान), यव (जौ), मुद्ग (मूँग), माश (उड़द), गोधूम (गेहूँ), नीवार (जंगली धान), प्रियंगु, मसूर, श्यामाक (साँवा), तिल (वाज० सं० १८।१८)। खीरे का भी नाम मिलता है। इनमें अनेक अनाजों के नाम 'ऋग्वेद' में न होकर बाद की संहिताओं में मिलते हैं। 'तैत्तिरीय संहिता' में काले तथा सफेद धान में अन्तर किया गया है तथा धान के तीन मुख्य प्रकार बतलाये गए हैं— कृष्ण (काला), आशु (शीघ्र जमने वाला) तथा महाव्रीहि (बड़े दानों

वाला, तै० सं० १।८।१०।१)।

उस समय खेतों की सिंचाई का भी प्रबन्ध था। एक मन्त्र में जल दो प्रकार का बतलाया गया है—खनित्रिया (खोदने से उत्पन्न होने वाला) तथा स्वयंजा (अपने-आप होनें वाला, नदी-जल आदि)। कूप तथा अवट (खोदकर बनाये गए गड्ढे) का उल्लेख 'ऋग्वेद' के अनेक स्थलों पर मिलता है। ऐसे कुओं का जल कभी कम नहीं होता था (अक्षितं, ऋ० १०।१०१।६)। पानी पत्थर के बर्तन (अश्मचक्र, ऋ० ११। २५।४) से निकाला जाता था और फिर लकड़ी के बर्तन में उड़ेल दिया जाता था। कुओं का जल नालियों द्वारा खेतों में पहुँचाया जाता था (सूर्मि सुषिरा, ऋ० ८।६९।१२)।

व्यापार—वैदिक-काल में कृषि-कर्म तथा औद्योगिक शिल्पों से उत्पन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय हुआ करता था। व्यापार करने वाले को 'वणिक्' कहते थे और उसके कर्म को 'वाणिज्या'। मूल्य के 'शुल्क' तथा 'वस्त्र' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वैदिक-काल में पणि लोग जल तथा स्थल मार्ग से व्यापार किया करते थे।

बहुत से पशु माल ढोने के काम में लाये जाते थे। ऐसे पशुओं में बैल (बधिया, 'बध्रयः' ऋ० ८।४६।३०), घोड़े, ऊँट (उष्ट्र, १।१०४) तथा भैंसे (महिष, ऋ० ८।१२।८) प्रधान थे। कुत्तों व गधों का भी उपयोग किया जाता था (ऋ० ८।४६।२८,।१।३४।६)। बैल, घोड़े और गधे रथों में भी जोते जाते थे। मरुस्थलों में ऊँटों को ले जाया जाता था। कुत्तों से यह काम लिये जाने की बात सुनकर कुछ आश्चर्य होता है। (अश्वेषितं, रजेषितं, शुनेषितं, ऋ० ८।४६।२८), परन्तु कुत्ता कृषक आर्यों के लिए बड़े काम का था। वह चोरों तथा दूसरे आक्रमणकारियों से घर की रक्षा करता तथा उसके द्वारा सुअर का शिकार भी किया जाता था।

'ऋग्वेद' के अनुशीलन के बाद समुद्र से व्यापार न करने की धारणा उन्मूलित हो जाती है। 'ऋग्वेद' के मन्त्रों में साधारण नावों के अतिरिक्त सौ डाँड वाली (शतारित्रा) बड़ी नाव का स्पष्ट उल्लेख है (ऋ०

१।११६।५)। उसके पंख (पतत्रि) भी कहे गये हैं जिसका तात्पर्य पालों से है। नासत्यौ (अश्विन्) के अनुग्रह से 'शतारित्र' नाव पर चढ़कर समुद्र-यात्रा करने वाले तुग्र-पुत्र भुज्यु के उद्धार का उल्लेख 'ऋग्वेद' के अनेक मन्त्रों (१।११२।६, ६।६२।७ आदि) में मिलता है। जान पड़ता है कि इन देवों ने भुज्यु को समुद्र के बीच जहाज में डूबने से बचाया था। वरुण देव की स्तुति में शुनःशेप ऋषि का कहना है कि वे आकाश से जाने वाले पक्षियों के ही मार्ग को नहीं जानते, अपितु समुद्र पर चलने वाली नावों के मार्ग से भी वे परिचित हैं।

सिक्के—व्यापार के लिए विनिमय-कार्य के निमित्त गाय की महती उपयोगिता थी, परन्तु किसी प्रकार के सिक्कों का चलन उस समय अवश्य था। एक प्रकार का सिक्का 'निष्क' भी था। निष्क एक आभूषण भी होता था जो सोने व चाँदी दोनों से बनता था। कक्षीवान् ऋषि ने किसी दानी राजा से सौ निष्क तथा सौ घोड़े पाने की बात लिखी है। (१।१२६।२) पिछले ग्रन्थों में तो निष्क निश्चित रूप से विशिष्ट प्रकार की मुद्रा का ही बोधक है। एक मन्त्र में प्रयुक्त 'मना' भी किसी प्रकार का सिक्का ही जान पड़ता है। अनेक वैदिक ग्रन्थों में 'हिरण्यं शतमानं' उपलब्ध होते हैं जिनमें सोना तोलने के किसी मान की ओर संकेत होता है।

उस समय ऋण लेने की भी प्रथा थी। ऋण चुका देने के लिए 'ऋग्वेद' में 'ऋणं संनयति' वाक्य का प्रयोग मिलता है। द्यूत में ऋण-परिशोध न करने पर द्यूतकर को जन्म-भर दासता स्वीकार करनी पड़ती थी। एक जगह (ऋ० ८।४७।१७, अथर्व ६।४६।३) ऋण के आठवें भाग (शफ) तथा सोलहवें भाग (कला) को चुकाने की बात मिलती है। पूर्वजों द्वारा लिये गए ऋण उनके वंशजों द्वारा चुकाये जाते थे।

राजनीतिक दशा

वैदिक-काल में 'समिति' में एकत्र होने वाली प्रजा के द्वारा राजा चुना जाता था। अथर्ववेद (७।८७-८८) तथा ऋग्वेद (१०।१७३) में

पूरा सूक्त ही राजा के निर्वाचन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र में 'समिति' के द्वारा राजपद के निर्माण की धारणा स्पष्टतः घोषित की गई है :—

'ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशाः संमनसः सध्रीची ध्रुवायते समितिः कल्पतामिह ॥

अपने कर्त्तव्य से च्युत होने पर राजा अपने पद तथा देश से च्युत कर दिया जाता था तथा अपने दोषों को स्वीकार करने पर वह फिर से चुना जाता था। राजा अपने जीवन-काल के लिए निर्वाचित होता था। उसकी सहायता के निमित्त दो विशिष्ट जन-संघों का निर्देश 'ऋग्वेद' में मिलता है जिसमें एक का नाम था 'समिति' तथा दूसरी का नाम था 'सभा'। सभा और समिति दोनों ही प्रजापति की पुत्रियाँ मानी गई हैं (सभा च सा समिति—श्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने—अथर्व० ७।१२।१)। दोनों ही जनता के द्वारा चुनी गई संस्थाएँ थीं; 'अथर्ववेद' के एक मन्त्र में सभा 'नरिष्ठा' के नाम से अभिहित है।

ब्राह्मण-काल में राजा के अधिकारों में भी विशेष रूप से वृद्धि सम्पन्न हुई। उसको यज्ञ भी करने होते थे। अश्वमेध का अनुष्ठान सम्राट् तथा चक्रवर्ती-पद के लिए आवश्यक बतलाया गया है। ग्यारह अधिकारी 'रत्नी' के नाम से विख्यात थे जिनके पास अभिषेक से पहले राजा को जाना आवश्यक था। इनके नाम ये हैं—(१) सेनानी (सेनापति), (२) पुरोहित, (३) अभिषेचनीय राजा, (४) महिषी (पट्टरानी), (५) सूत, (६) ग्रामणी (ग्राम या पंचायत का अध्यक्ष), (७) क्षत्तृ, (८) संग्रहीतृ, (९) भगदुह (प्रजाओं से कर वसूल करने वाले अधिकारी), (१०) अक्षावाप (रुपया-पैसों के हिसाब रखने वाले अफ़सर), (११) गोविकर्तृ (जंगल का अधिकारी)। (शतपथ ५।३।१)

अभिषेक—ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'राज्याभिषेक' का बहुशः वर्णन मिलता है जो राजनीतिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्व रखता है। इस अवसर पर राजा जो प्रतिज्ञा करता है उसका पूरा वर्णन 'ऐतरेय ब्राह्मण' में ऐन्द्र

महाभिषेक के अवसर पर दिया गया है। राजा श्रद्धा के साथ वह प्रतिज्ञा उद्घोषित करता है :—

'यां च रात्रिमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्तं ये लोकं सुकृतमापुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येपमिति।'

(ऐ० ब्रा० ८।३।१७२)

अर्थात् जिस रात को मैं पैदा हुआ था तथा जिस रात को मैं मरूँ इन दोनों के बीच में जितने यज्ञीय अनुष्ठान मैंने किये हैं, उनसे तथा स्वर्ग लोक, मेरे जीवन, मेरी सन्तान से बंचित हो जाऊँ यदि मैं तुमसे द्रोह करूँ। यह प्रतिज्ञा राज्य की प्राप्ति के अवसर पर करनी पड़ती थी। इस घोषणा के अनन्तर उसे व्याघ्र-चर्म से आच्छादित आसन्दी (काष्ठ-निर्मित-सिंहासन) पर बैठने के लिए आज्ञा दी जाती है तथा पुरोहित उसके ऊपर सोने की थाली से एकसौ या नव छिद्रों से बहने वाले जल के द्वारा अभिषेक करता है तथा 'शुक्ल-यजुर्वेद' के कतिपय मन्त्रों (६।४०;१०।१७-१८) का इस प्रसंग में उच्चारण करता है।

शासन-पद्धतियाँ—'ऐतरेय ब्राह्मण' के ऐन्द्र महाभिषेक (८।३) के अध्ययन से वैदिक-युग में प्रचलित अनेक शासन-पद्धतियों से भी हमें परिचय मिलता है। जैसे उस समय का भौज्य-शासन गणराज्य का एक विशिष्ट रूप था। 'ऐतरेय' के अनुसार उत्तरी भाग में सम्भवतः कुरु व मद्र में वैराज्य था अर्थात् जहाँ राजा का अभाव होता था और एक प्रकार से प्रजातन्त्र शासन था। पूर्व में साम्राज्य-पद्धति प्रचलित थी जिसमें राजा शासन करता था।

धार्मिक जीवन

दैवी उपासना—देवतागण को 'ऋग्वेद' में 'असुर' कहा गया है। असुर का अर्थ है असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्ति-सम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता असुर हैं।

'ऋग्वेद' में ऋत की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत क अर्थ है

सत्य—अविनाशी सत्ता। इस जगत् में 'ऋत' के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही ऋत है। इस ऋत की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का साम्राज्य विराजमान है।

'ऋग्वेद' में देवताओं के द्विविध रूप का वर्णन है—एक तो स्थूल दृश्य-रूप है और दूसरा सूक्ष्म अदृश्य-रूप। देवताओं के सम्बन्ध में विशेष 'ऋग्वेद' के प्रकरण में लिखा जा चुका है।

वैदिक यज्ञ—अग्नि मुख्यतया दो प्रकार का होता है—स्मार्ताग्नि तथा श्रौताग्नि। अग्नि का आधान पचीस से ऊपर चालीस वर्ष से पूर्व उम्र के सपत्नीक व्यक्ति को करने का अधिकार है तथा स्थापन करने पर उसे यावज्जीवन अग्नि की उपासना करते रहना अनिवार्य होता है। श्रौत अग्नि के चार प्रकार हैं—(१) गार्हपत्य, (२) आहवनीय, (३) दक्षिणाग्नि व (४) सभ्याग्नि। इन्हीं में नाना होम-द्रव्यों के प्रक्षेप का विधान है।

दर्शपूर्णमास याग क्रमशः अमावास्या तथा पूर्णिमा को किया जाता है। चातुर्मास्य चार-चार मासों में अनुष्ठित होता है। इसमें चार पर्व होते हैं—(१) वैश्वदेव पर्व फाल्गुनी पूर्णिमा को अनुष्ठेय; (२) वरुण-प्रघास—आषाढ़ी पूर्णिमा को अनुष्ठेय; (३) साकमेध—कार्तिकी पूर्णिमा में अनुष्ठेय तथा (४) शुनासीरीय—फाल्गुन शुक्ल को अनुष्ठेय। निरूढ़ पशु-यज्ञ प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में करना चाहिए। सोमायणी यज्ञ भी पशु-याग का एक प्रकार है। पिण्ड पितृयज्ञ पितरों को उद्देश्य करके किया जाया है।

सोमयाग के प्रधानतः कालगणना की दृष्टि से तीन प्रकार हैं—(१) एकाह—एक दिन में साध्य याग, (२) अहीन—दो से लेकर १२ दिनों तक चलने वाला याग और (३) सत्र—१३ दिनों से आरम्भ कर एक वर्ष या १००० वर्ष तक चलने वाला याग।

अग्निष्टोम—'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' (ऋ० ६।४८।१, साम मन्त्र-

द्वितीय खण्ड

प्रथम अध्याय

कला का विकास-काल : गुप्त-साम्राज्य[1]

कुषाण और आन्ध्र साम्राज्य के पतन के बाद भारत में कोई भी बड़ा साम्राज्य एक शताब्दी पर्यन्त सत्ता-सम्पन्न न रह सका। चतुर्थ शताब्दी ई०पू० के आरम्भ में मगध का शासन-सूत्र श्री गुप्त या गुप्त नामक एक मुख्य व्यक्ति के हाथ में आया, जिसके राज्य में बंगाल का भी कुछ भाग सम्मिलित था। गुप्त के बाद उसका पुत्र घटोत्कच राज्य-सिंहासनारूढ़ हुआ। ये दोनों पिता-पुत्र विशेष शक्तिसम्पन्न न थे किन्तु घटोत्कच के पुत्र चन्द्रगुप्त के राज्यारूढ़ होने पर इतिहास का एक नया पृष्ठ आरम्भ हुआ। चन्द्रगुप्त ने किसी प्रकार राज्य को बढ़ाया तथा 'महाराजाधिराज' की असाधारण उपाधि प्राप्त की। उसका विवाह कुमार देवी नाम की लिच्छवि वंशीय राजकुमारी से हुआ। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस शादी के कारण चन्द्रगुप्त की उन्नति हुई। सम्भव है कि इस सम्बन्ध से चन्द्रगुप्त का सामाजिक सम्मान बढ़ गया हो। चन्द्रगुप्त का राज्यकाल ३२० ई० पू० से ३४० ई० पू० तक रहा। बाद में उसका पुत्र समुद्रगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। वह युद्ध-विद्या में बहुत निपुण था। वह कौटिल्य की राजनीति का मनुष्य-रूप में अवतार था। उसका राज्य पश्चिम में इलाहाबाद तक था। बाद में मालवा, आभीर, पंजाब आदि देशों ने स्वयं इसके साथ मेल कर लिया था। समुद्रगुप्त का शस्त्र-भय इतना अधिक था कि कुषाण और अफ़ग़ानिस्तान एवं गुजरात के शेष

---

(१) 'Ancient India' by Mazumdar के आधार पर।

क्षत्रपों ने भी समुद्रगुप्त के सामने आत्म-समर्पण कर दिया था। इसका राज्य उत्तर में हिमालय, पश्चिम में यमुना और चम्बल नदी, पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी तथा दक्षिण में भेलसा या जबलपुर की सीध में भारत-भर में विस्तृत था।

भारत के उद्योग और व्यापार
(Industry and Inland trades)

बाह्य देशों से व्यापारिक सम्बन्धों की प्रचुरता भारत में औद्योगिक कार्यों की व्यापकता का अनुमान कराती है। उत्कीर्ण लेखों से यह सिद्ध है कि कला और काष्ठादि सम्बन्धी उद्योग (Craft) मनुष्यों में अधिक प्रचलित थे। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के समय में सेना-विभाग में पदातियों, रथियों, अश्वारोहियों और महावतों को विशेषतया नौकरी, वृत्ति या आश्रय दिया जाता था। वे धातुओं, काष्ठ, घोड़े और हाथियों के सम्बन्ध में विशेष खोज करते थे तथा रथों, जहाजों और अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया करते थे। अच्छी लकड़ियों की प्राप्ति तथा उत्तम धातुओं की उपलब्धि के लिए बड़े-बड़े जंगल काटे जाते थे और खानों में भी काम होता था। इस विषय में अर्थशास्त्र के निर्माता कौटिल्य चाणक्य ने अनेक नियमों का निर्माण किया है। खानों के उच्चाधिकारी को 'आकराध्यक्ष' कहा करते थे। वह भूगर्भ-विद्या का निपुण ज्ञाता होता था। कतिपय लोह-खनिज-विशेषज्ञों की सहायता से तथा श्रमिकों द्वारा वह अनेक अस्त्रों का निर्माण करता था एवं राज्य-भर की खानों की परीक्षा करके राज्य की अर्थ-वृद्धि में सहायक होता था। एक और भी राज्य का कर्मचारी होता था जो धातु विद्या का आचार्य समझा जाता था तथा ताँबा, सीसा, टीन, पारा, पीतल, काँसा, गन्धक, Bell-metal व विष-तत्वों (Arsenic) से बनने वाले पदार्थों का निर्माण तथा परीक्षण स्वयं करता और करवाता था।

समुद्राध्यक्ष शंखों, सीपियों, रत्नों, कीमती पत्थरों, हीरों, मूँगों, मोतियों आदि व अनेक प्रकार के नमकों का संग्रह करता था तथा इस

सम्बन्ध की व्यापारिक वस्तुओं का निर्माण करता था।

वनाध्यक्ष-वनों की सुरक्षा का उत्तरदायी था तथा उन काष्ठ के पदार्थों को बनवाना था जो साधारण जीवनोपयोगी व राज्य-रक्षा के उपयुक्त होते थे।

इनके अतिरिक्त एक इनसे ही सम्बन्धित और भी उद्योग था, जिसके विभाग का अध्यक्ष जलयान (समुद्रीय जहाज) बनाने का कार्य विशेष मात्रा में किया करता था। इससे यह सिद्ध है कि राज्य में अनेक औद्योगिक व्यापार थे तथा किन्हीं व्यापारों में राज्य का ही पूर्णाधिकार था।

खनियों (खानों), शस्त्र समुदायों, वन-सम्बन्धी वस्तुओं, नमकों तथा अन्य पदार्थों के नामों का भी निर्धारण राज्यतन्त्र से होता था। इतना ही नहीं, राज्य वस्त्र, तेल, चीनी आदि निर्माण करने के अपने कारखाने भी चलाता था, किन्तु व्यक्तिगत व्यापारों और उद्योगालयों पर भी उसका उचित नियन्त्रण था। व्यापाराध्यक्ष थोक और फुटकर वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता था तथा चोरी, मिलावट झूटे बाँट, नाप-तौल एवं सट्टों के ऊपर नियन्त्रण रखता था। श्रमिकों की आजीविका के लिए की जाने वाली हड़तालें अवैध समझी जाती थीं।

सारांश यह कि 'कौटलीय अर्थशास्त्र' में व्यापार और उद्योगालयों के विषय में वर्तमान निर्धारित उद्योग-नियमों का बहुत अधिक साहृश्य दिखाई पड़ता है।

प्रतिदिन बढ़ने वाली विलासिता अनेक उद्योग-धन्धों के प्रचलन का कारण बनी। रत्नजटित आभूषण आदि की तथा दर्पण की कला ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी से पूर्व ही पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। सोना, चाँदी, हाथीदाँत तथा रत्न आदि महार्घ पाषाणों की वस्तुओं का विस्तृत और विशेष वर्णन चाणक्य के 'कौटलीय अर्थशास्त्र' में उपलब्ध होता है। इत्र तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के रुई, रेशम, ऊन से बनने वाले सूत, अनेक प्रकार की पोशाकें, कम्बल, चमड़े, मृगछालाएँ तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की शराबों का जनता में बनाने का प्रचार था।

पक्षी-पालन (Poultry), राजाओं व मिस्त्रियों की आवश्यकता व पत्थरों की नक्काशी भी महलों, मन्दिरों तथा राजाओं, सेठों व व्यापारियों के भवन-निर्माण के प्राचुर्य के कारण उच्च सीमा को पहुँच चुकी थी।

उद्योगों में कृषि का भी विशेष स्थान था, परन्तु आजकल की तरह कृषि-प्रधान ही जीवन नहीं था। भाँति-भाँति की बूटियाँ उगाई जाती थीं। अन्न, शाक, फल-फूल तथा आयुर्वेदीय जड़ी-बूटियों के उत्पादन का प्रचार था एवं तेल व चीनी बनाई जाती थी। उत्तम श्रेणी के पशुओं का उत्पादन, गो-वाणिज्य, मुर्गे पालना, पक्षियों का चुगाना व लड़ाना, तथा मत्स्य-पालन भी उद्योगों में-से एक उद्योग था। जिसके द्वारा केवल उत्तम दूध, मक्खन व घी नहीं मिलता था अपितु मछलियों तथा विविध पशु-पक्षियों के मांस भी—जिनकी उन दिनों बड़ी माँग थी—मिल जाते थे। इसी प्रकार जीवनोपयोगी अन्य सामग्रियों के बनाने वाले व्यक्तियों की भी श्रेणियाँ थीं, जिनमें कुम्हार, रंगरेज़, मोची, चमार, हलवाई, माली, सड़क बनाने वाले, जुलाहे, टोकरी बनाने वाले, जिल्दसाज़, लुहार, नक्काश तथा अन्य व्यक्तियों की गणना की जा सकती है।

व्यापारी लोग देश-देशान्तरों में बैलगाड़ियों, नावों तथा जहाज़ों से माल ले जाते थे। कभी-कभी बैलगाड़ियों की पंक्तियों-की-पंक्तियाँ, जिन्हें कारवाँ (Caravan) कहते थे, चलते थे। जिनके सामान की चोरों से रक्षा के लिए बहुसंख्यक स्वयंसेवक तथा वेतनभोगी सिपाही रखे जाते थे। नदियों, बड़े नालों तथा सड़कों के द्वारा सामान बन्दरगाह तक पहुँचाया जाता था, जहाँ से विदेशों को जहाज़ों द्वारा भेजा जाता था। व्यापारी तथा सौदागरों की असंख्य धनराशि का वर्णन बहुधा पुस्तकों तथा शिलालेखों में मिलता है।

उद्योग और व्यापार के बड़े सुन्दर नियम थे। उन पर नियन्त्रण रखने वाली सभा को श्रेणी कहते थे, जिसका स्वरूप वर्तमान Corporation से मिलता-जुलता था। ये मध्यकालीन यूरोप के guild के समान थे। इनका कार्य भी उपर्युक्त व्यापारियों के समान ही व्या-

पार करना था। प्रत्येक उद्योग में एक-एक guild होता था, जो उस सभा के सदस्यों के चरित्रों का नियन्त्रण करता था, जिससे व्यापारियों व अधिकारियों के आर्थिक लाभ की सीमा निश्चित हो सके। वे नियम भू-सम्बन्धी नियमों के समान थे। प्रत्येक guild में एक-एक प्रधान पुरुष होता था। इनके पास सेना भी होती थी, जिससे वे समय पर राजा की भी सहायता करते थे। इसका कार्य स्थानीय बैंकों की तरह धन की सुरक्षा करना था। जनता इनके पास अपना धन सुरक्षा के लिए रखती थी, जिसके सूद से होने वाली आय तद्-तद् विशेष कार्यों में व्यय के लिए निर्धारित होती थी। यही इस संगठन (guild) के सुप्रबन्ध का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। यह सभा विद्वत्ता और संस्कृति के आधार पर विद्वानों को चुनकर बनाई जाती थी। प्राचीन भारत की यह एक विशेषतापूर्ण गण्यमान संस्था थी।

Guilds के अतिरिक्त अन्य भी Corporate संस्थाएँ थीं।

व्यापार सम्मिलित-सामग्री-संग्रह (joint stock) के सिद्धान्तों पर चलता था। व्यापारियों की एक league होती थी। कहीं-कहीं पर हमें Corner या trust जिन्हें union of trades कहते हैं, मिलते हैं, जो व्यापार में तेजी-मन्दी का नियन्त्रण करते थे। पर लाभ अवश्य होता था।

उपर्युक्त तथ्यों से सिद्ध है कि जन-साधारण में व्यापार की सूक्ष्म प्रवृत्ति थी, तथा व्यवसाय, वाणिज्य एवं उद्योग उच्चस्तर पर पहुँच चुका था।

सिक्के (Coinage)

आर्थिक विकास के इस समय में सिक्कों का पर्याप्त प्रचलन हुआ। वस्तु के बदले वस्तु लेने की पद्धति (barter), जो वैदिक काल में प्रचलित थी, धीरे-धीरे बहुमूल्य रत्नों द्वारा विस्थापित की जाने लगी थी। Herodotus के वर्णन से यह सिद्ध है कि पर्सियन क्षत्रपता (satrapy) भारत के सम्राट् को ३६० talents या स्वर्णचूर्ण अथवा

Ingots या रजतचूर्ण रुपये-पैसे की जगह देती थी। किन्तु वास्तविक धातुओं के सिक्कों का व्यवहार, जिन पर किसी का चित्र भी अंकित होता था, धीरे-धीरे बढ़ा। प्रामाणिक समिति द्वारा सिक्कों का भार और उसकी प्रामाणिकता निर्धारित होने के बाद उन सिक्कों को राजा, व्यापारी या समिति चलाते थे। राज्य का उन पर एकतन्त्र अधिकार (monopoly) न था। इन सिक्कों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र अंकित रहते थे और वे मुहर वाले सिक्के ही असली सिक्के होते थे। इन उत्कीर्ण सिक्कों को punch-marked coins कहते थे। इन पर साधारणतया किसी व्यक्ति-विशेष का नाम न होता था। ये चित्र कथानक से अत्यन्त सम्बद्ध न होते थे। अन्य भी कुछ सिक्के इसी प्रकार के उपायों से बनाये जाते थे। ऐसे सिक्के भारत के भिन्न-भिन्न भागों में हजारों की संख्या में प्राप्त हुए हैं, जो कि एक दीर्घकाल तक व्यवहार के साधन रहे थे।

सन् १२० ई० पू० में सिथियन (Scythian) लुटेरों (hordes) द्वारा आक्रमण करने पर बैक्ट्रिया (Bactria)-निवासी ग्रीक वहाँ से भागकर अफ़गानिस्तान एवं पश्चिमी पञ्जाब में आकर बसे। इनके राजा मिलिन्द ने सर्वप्रथम चित्र और नाम दोनों से अन्वित सिक्कों का चलन आरम्भ किया। राजा की प्रतिमा एक ओर अंकित होती थी तथा दूसरी ओर देवता या अन्य कोई चिह्न-विशेष अंकित होता था। जिसके निर्माण में उत्कृष्ट प्रकार की उत्कीर्ण-कला प्रतिभासित होती थी। न केवल विदेशी आक्रमणकारियों ने ही किन्तु भारतीय राजाओं ने भी सिक्के चलाने के उक्त उपायों को अपनाया, तथा उसी प्रकार के सिक्के चलाये, किन्तु वे एक भद्दी और कुडौल आकृति के थे।

गुप्तवंशीय राजाओं ने सोने के सिक्के चलाये। वे यद्यपि उत्तम थे और उनमें कलात्मकता थी किन्तु वे यूनानी (Greek) सिक्कों से बढ़-कर न थे। सिक्कों का वज़न 'मनुस्मृति' में निर्धारित परिमाण के अनु-रूप था जो कि एक रत्ती या एक गुञ्जाफल से तोला जाता था, जिसका

यद्यपि पूर्णरूप से कौनसा ८० रत्ती का असली सुवर्ण का सिक्का (standard gold coin) प्रचलित था, इसका वास्तविक परिज्ञान अभी तक नहीं हुआ। इसी प्रकार चाँदी का पुराण या धरण नाम का ३२ रत्ती का सिक्का तथा ८० रत्ती का ताँबे का 'कार्षापण' नाम का सिक्का और उनके उच्च सिक्के (multiples) तथा अवान्तर-भेद (sub-divisions) छोटे सिक्के भारत में यत्र-तत्र मिले हैं।

सबसे पहले जब सिक्के चालू हुए तो वे चाँदी या ताँबे के बनते थे, तथा उनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। किन्तु चाँदी व ताँबे के बने दोनों प्रकार के सिक्कों का तब साथ-साथ प्रचलन न था। किन्तु एक ही धातु काम में लाई जाती थी, यद्यपि दोनों ही धातुएँ इस काम में उपयुक्त होती थीं। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि चाँदी और ताँबे के सिक्के प्रचलित थे, तथा चाँदी और ताँबे को मिलाकर भी मुद्राएँ बनती थीं। मुद्राओं की धातुओं के मूल्य के अनुसार उनकी तौल और कीमत पर भी प्रभाव पड़ता था। सुवर्ण-मुद्राओं का चलन जो कुषाण-राजाओं के समय में हुआ—एक बड़ी कठिन समस्या थी, जिसका हल चाँदी को हटाकर सुवर्ण और ताम्र को मिलाकर निकाला गया। अतएव कुषाण-काल में चाँदी की मुद्राएँ नहीं मिलती हैं। गुप्त-काल में अवस्था बदली और सुवर्ण ने मुख्य स्थान पाया तथा रजत और सुवर्ण के मिश्रण से भी मुदाएँ बनीं। ताँबे की मुद्राएँ (currency) छोटे मूल्य के सिक्कों के रूप में चलीं, जो कि सर्वप्रथम मुद्राएँ ताँबे की बनती थीं, इस बात की सूचक थीं। फ़ारस के बादशाह डेरियस (Emperor Darius) (५१८ ई० पू०) से पूर्व भारत में सोने व चाँदी के रुपये-पैसों के मूल्याङ्कन (value) में कोई भेद न था। पर डेरियस के समय में भारत का सिक्का १ : ८ मूल्य रखता था तो फ़ारस में इसका मूल्य १:१३ था। इसका कारण यह था कि यद्यपि भारत में स्वर्ण बहुत था, पर चाँदी की उत्पत्ति या प्राप्ति प्राकृतिक (indigenous) उपायों से बहुत ही नियंत्रित थी, तथा इसकी प्राप्ति अधिकतया बाहर से होती थी। सुवर्ण व ताम्र में जो उतार-चढ़ाव का अनुपात था, वह चाँदी से बहुत ही कम था, क्योंकि

सोना और ताँबा यहीं उपलब्ध हो जाता था। यह रजत व सुवर्ण का अनुपात-भेद ही दोनों से बनी मुद्राओं में अन्तर होने का कारण था। यह अन्तर १:५७ रत्ती तक था।

आरम्भिक काल में ताँबे का प्रामाणिक पैसा 'कार्षापण' ८० रत्ती या १४० ग्रेन का था। कौटिल्य ने ३२ रत्ती के चाँदी के कार्षापण का वर्णन किया है। गुप्त-कालीन सुवर्ण-मुद्राएँ कुषाण स्टैण्डर्ड से बनी थीं, जिन्हें दीनार (लैटिन Denarius का अपभ्रंश) भी कहते थे, जो १२१ ग्रेन की होती थी। समुद्रगुप्त की मुद्राएँ दो प्रकार की थीं—कुछ १३२ ग्रेन की तथा दूसरी सुवर्ण स्टैण्डर्ड के १४६·४ ग्रेन की थीं।

गुप्तकालीन मुद्राओं पर विदेशी आक्रमणों का प्रभाव स्पष्ट है, किन्तु दक्षिण भारत में यह प्रभाव नहीं के बराबर था। यहाँ केवल सुवर्ण और ताम्र मुद्राएँ ही व्यवहृत होती थीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि दक्षिण भारत चाँदी का नाम ही नहीं जानता था, किन्तु दक्षिण भारत में रजत-सुवर्ण के (कहीं ताँबे के भी) सिक्के इतने अधिक पाये जाते हैं कि जिससे यह सिद्ध होता है कि ईस्वी पश्चात् द्वितीय व तृतीय शताब्दी में इनका ही प्रचार था—यह अनुमान किया जा सकता है। गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद माण्डलिक राजाओं (Principalities) ने अपनी-अपनी मुद्राएँ चलाईं, जिनमें प्रधान पाल-वंशीय तथा प्रतिहार-वंशीय भूपाल थे। इनकी मुद्राओं की आकृति (design) तथा तौल (weight) का कोई नियत रूप न था।

सम्पत्ति और विलासिता (Wealth and Luxury)

अपरिमित व्यापारिक प्रकारों से भारत वैभवशाली बन गया। प्राचीन काल से भारत की गणना धनी द्वीपों में की जाती रही है। अतएव इसे सोने की चिड़िया भी कहा जाता है। असंख्य धनराशि (Fabulous wealth) की अनेक कथाएँ प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलती हैं। कोशल-देशवासी अनाथपिण्डक एक प्रसिद्ध सौदागर था। उसकी इच्छा श्रावस्ती नगरी के 'जेतवन' नामक उपवन (Park) को

बुद्ध के लिए उपहार में देने की हुई, किन्तु इसके अधिपति ने किसी भी मूल्य पर 'जैभवन' देना पसन्द न किया। अन्त में यह निश्चित हुआ कि यदि कोई उस उपवन की सम्पूर्ण भूमि पर सुवर्ण की मुद्राएँ बिछा सके तो उतनी मुद्राएँ लेकर मैं उसे यह उपवन दे सकता हूँ। अनाथपिण्डक ने इस शर्त को स्वीकार (Closed with) किया। यह कथानक भरहुत स्तूप की प्राचीरों पर अब भी अंकित है जिसमें लिखा है कि गाड़ी-की-गाड़ी सोना यहाँ बिछाया गया था। यह घटना ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी की है।

जैनों ने एक धार्मिक ग्रन्थ में आनन्द नामक एक सद्गृहस्थ का वर्णन आता है—वह अन्त में श्रावक बन गया था। उसने चार करोड़ सुवर्ण-मुद्राएँ एक सन्दूक में बन्द करके रख दी थीं तथा चार करोड़ ही की उसकी एक सम्पत्ति थी जिसमें चार पशुओं के झुण्ड थे। प्रत्येक झुण्ड में दस-दस हजार पशु थे अर्थात् चालीस हजार गौवें और घोड़े आदि उसके पास थे। निःसंदेह ऐसी कथाएँ अतिशयोक्ति (Exaggeration) से पूर्ण हैं, तथापि देश की प्राचीन आर्थिक स्थिति पर प्रकाश अवश्य डालती हैं। इसी प्रकार व्यापारी राजाओं द्वारा प्रदत्त धन-राशियों के वर्णनों से भी भारत के धन का अनुमान लगाया जा सकता है। दृष्टान्त के लिए कार्ली की गुफा (Carli Cave) जो कि भारत में ही नहीं अपितु समस्त वसुधा में एक अद्भुत सुन्दर रत्न है, एक ही व्यापारी के धन से निर्मित हुई थी।

द्रव्य की प्रचुरता विलासिता की जननी है। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतवासी सौन्दर्य और आभूषणों के प्रेमी हैं। उनके वस्त्रों पर ज़री का काम होता है और महार्घ रत्न जड़े जाते हैं। वे प्रायः फूलदार कपड़े पहनते हैं। बुद्ध-कालीन साहित्य में विलासिता (Luxury) के सैकड़ों उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनमें अनेक भूमिक उच्चतम प्रासादों का वर्णन मिलता है—जो ईंटों, पत्थर व लकड़ी के बनते थे। जिनके मकान रंगदार दीवाल वाले, चित्रित (Frescoes) वाले झालरदार छज्जे (terrace) वाले झुकी ओलाती (छज्जे) वाले होते थे। इन

मकानों में स्नानागार (bath rooms) पत्थर व ईंटों के थे। पार्श्व-गृह, अग्निशाला (यज्ञशाला आदि), चिमनियाँ, भूगर्भ गृह (जिनमें उष्ण-जल से स्नान अर्थात् (steam bath) के बाद ठंडक ली जाती थी) बने थे। अठपहलू कुर्सियाँ, आराम कुर्सियाँ, सोफा, राजोचित कुर्सियाँ, गद्दीदार व स्प्रिंगदार कुर्सियाँ, तिनकों की बनी जालीदार कुर्सियाँ, भिन्न-भिन्न प्रकार के पलंग जिनके पावे नक्काशी वाले व अनेक जंगली प्राणियों की टाँगों जैसे होते थे। नीले, पीले, लाल, भूरे, काले, नारंगी, गुलाबी व हलके पीले (Yellowish) रंग की चप्पलें तथा नोकदार उसी तरह के दो, तीन या अनेक तले वाले बब्बर शेर की खाल, बघेरे, चीते (Panther), बारहसिंगे, बिल्ली, गिलहरी तथा उल्लू की खाल के जूते एवं फुल बूट जो फीतेदार रुई की जमी तहों के, तीतर की तरह के रंग-बिरंगे, बकरे या मेढ़े (Ram) के सींगदार या बिच्छू के डंकदार, मोर के पंखों से जड़े होते थे। जूते ऊनी, सुनहरे कामदार, चाँदी के फूलदार, मोती, फ़िरोजा (Beryl), बिल्लौर (Crystal) ताँबा, शीशा, टीन, लोहा व राँगे की पत्तियों से सजाये जाते थे। जवाहरात व कीमती पत्थरों—जैसे हीरा, लाल आदि—को भूषणों की तरह स्त्री व पुरुष पहनते थे। बहुमूल्य फिरोजा (Beryl) बिल्लौर, हरित मणि, सोना, चाँदी, ताँबे और शीशे के बने बर्तन रंगीन चित्रों वाले या रत्न-जटित भी होते थे।

यद्यपि इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की भी चर्चा की जा सकती है, पर उक्त नामावली ही भारतीय विलासिता और आराम की जिन्दगी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, जिससे जीवन की लौकिक सुख-परायणता अभिव्यक्त हो रही है।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सुखी जीवन के प्रति फलस्वरूप भारत में ग़रीबी न थी, जैसी आज दिखाई पड़ती है। सौभाग्य से उन दिनों कल-युग (factory system) न था, जो कि मानवीय स्तर को नीचे गिराने वाला है। घरेलू उद्योग-धन्धे आर्थिक विषमता को दूर करने वाले थे तथापि अकाल तथा अन्य दैवी घटनाएँ भी कभी-कभी दर्शन दे देती थीं। इस काल का वर्णन Megasthenes ने

निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

"भारत के निवासी धनोपार्जन के उपाय जानते हैं और अपने गर्व-पूर्ण व्यवहारों से आत्म-सम्मान का परिचय देते हैं। वे तीक्ष्ण-बुद्धि वाले व कला-निपुण हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे स्वच्छ जलवायु में पले हैं। भारत-भूमि प्रत्येक प्रकार के फलोत्पादन में समर्थ है। भारत में ऐसी भी खानें हैं, जिनसे चाँदी, सोना, ताँबा और लोहा उत्पन्न होता है। जिनसे अनेक उपयोगी वस्तुएँ तथा आभूषण बनाये जाते हैं और युद्ध के अस्त्र भी तैयार होते हैं। अनेक अन्नों के साथ-साथ विशेषतया ज्वार और तरह-तरह की दालें, चावल और तथा स्वयं उत्पन्न होने वाले अनेक फलदार पेड़ यहाँ अधिक पाये जाते हे। जमीन से घास-जैसे पदार्थ पैदा होते हैं जो पशुओं के चारे का काम देते हैं। यह भी निर्वि-वाद सत्य है कि यहाँ अकाल बहुत कम पड़ता है और खाद्य-पदार्थों की कमी नहीं है।

कला (Art)

कला विलासितापूर्ण सुखी जीवन का साधन है। जिस समय का यह वर्णन किया जा रहा है उस समय (४०० ई० पू०) में आर्यों का दक्षिण में पूर्ण साम्राज्य था—जैसा कि तेलगू और तमिल भाषाओं से सिद्ध है। आर्यों का साम्राज्य लंका, बर्मा व इण्डोचीन, ईस्ट इण्डीज और मध्य एशिया में फैला हुआ था। ब्राह्मण-धर्म का इन देशों में पूर्ण प्रभाव था एवं इस समय विदेशियों ने भारत में व्यापार करना आरम्भ कर दिया था तथा भारत अपनी कलात्मक पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। अशोक और मौर्य-काल में उन्नति चरम शिखर पर पहुँची हुई थी। सिन्धु घाटी की सभ्यता और अशोक-साम्राज्य के मध्यकाल में कौनसी विशेष कला विकसित हुई, इसका पता नहीं चलता। इससे यह न समझना चाहिए कि भारतवासी इस समय कला से अनभिज्ञ ही थे। यूरोपीय विद्वानों की इस भ्रान्त धारणा का खण्डन करने के लिए साहित्यिक प्रमाण ही पर्याप्त हैं जिनकी तुलना अन्य वस्तुओं से नहीं की जा सकती।

स्तूप

अशोक-कालीन-कला चार भागों में विभक्त थी—(१) स्तूप, (२) स्तम्भ, (३) गुफाएँ तथा (४) निवास के लिए बनाये गए भवन। स्तूप एक प्रकार से ईंट और पत्थर की बनी हुईं स्मारक-समाधियाँ थीं, जिनको बौद्ध और जैनों ने बनवाया तथा जिनकी नींव में महात्मा बुद्ध और महावीर तथा अन्य धार्मिक नेताओं और महात्माओं के अवशेष उनके स्मरण कराने के लिए रखे गये थे। स्तूपों की ऊँचाई और उनका घेरा साधारण (votive) स्तूपों से बढ़कर होता था। अशोक ने बड़े-बड़े स्तूपों का निर्माण कराया, जिनकी संख्या ८४ हजार तक बताई गई है। अशोक के ६०० वर्ष बाद चीन के प्रसिद्ध यात्री ह्वेन-साँग (Hiuen-Tsang) ने अफ़गानिस्तान और भारत की यात्रा की। उस समय हमारे स्तूप अंशतः धराशायी हो चुके थे। साँची का सबसे बड़ा स्तूप अशोक का बनवाया हुआ कहा जाता है। वह अर्ध-चन्द्राकृति और सिरे पर घटे हुए वृक्ष की तरह (Truncated) है। इसकी जड़ में एक ऊँचा चबूतरा बना होता है, जिसके दक्षिण भाग में ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी होती हैं। इस स्मारक स्तूप के चारों ओर जंगलेदार (balustrade) पत्थर लगे होते हैं। इन पर कोई खुदाई नहीं की गई। इनमें नीचे से जाने का रास्ता बना हुआ है। इन भागों का ह्रास और विकास होता चला आया है।

स्तम्भ (Pillars)

इस प्रकार अशोक-काल के कतिपय कलात्मक आदर्शों से प्रस्तर-स्तम्भ-कला के विज्ञान का परिज्ञान हो जाता है। इन प्रस्तर-स्तम्भों की संख्या अज्ञात है, तथापि लगभग तीस या चालीस के कही जा सकती है। इन स्तम्भों में दो भाग होते हैं जिन्हें मध्य भाग (Capital) और शिरो-भाग (Shaft) कहा जा सकता है; क्योंकि ये पत्थर के टुकड़ों के बने होते हैं। उन पर ऐसी पॉलिश की गई है जिसके कारण आज के कला-कारों को उनके धातु-निर्मित होने की भ्रान्ति हो जाती है। लौरिय-

नंदनगढ़ (Louriya Nandangarh) का स्तम्भ इन स्तम्भों में सर्वोत्तम है—ऐसा V. Smith मानते हैं। इसके Shaft पॉलिशदार (sand-stone) के बने हुए हैं जो ३२ फीट ९½ इंच ऊँचे और घटते-घटते ३"½ इञ्च परिधि वाले तथा २२½ इंच शिखर वाले हैं। आगे चलकर Smith ने इन एक पत्थर के बने हुए (Monolyth shafts) के बारे में लिखा है कि इतने बड़े स्तूपों (स्तम्भों) का निर्माण और वहन (fabrication and conveyance) तथा एक पत्थर से रचना इस बात में प्रमाण हैं कि अशोक-कालीन कारीगर बड़े चतुर और निपुण थे। इन स्तूपों (स्तम्भों) का भार लगभग पचास टन के है। स्तूपों के शिखर भी एक ही ठोस पत्थर के (Monolythic) बने हुए हैं। रामपुरवा तथा संकिशा के शिखरों पर क्रमशः शेर तथा हाथी चित्रित हैं। इन स्तूपों में सबसे शानदार खम्भा (Pillar) सारनाथ का है। इसका शिखर सात फीट ऊँचा है। इसके चारों ओर शेरों की प्रतिमाएँ हैं जो पीठ मिलाये खड़ी हैं और मध्य में धर्मचक्र बना हुआ है जिसमें बत्तीस अरें (spokes) हैं। शेरों के नीचे भी चार चक्र हैं जिनमें प्रत्येक चक्र में २४-२४ अरें हैं। शेर एक वर्तुलाकृति ढोल पर खड़े हैं, जिस ढोल पर शेर, हाथी, बैल और घोड़ों की आकृतियां उत्कीर्ण हैं, वे शिखर के ऊपरी हिस्से में पारस्परिक अविरोधसूचक बने हुए प्रतीक के रूप में खड़े हैं। सारा शिखर एक ही बड़े पत्थर का बना है। इसकी कला की प्रशंसा प्रत्येक कलामर्मज्ञ ने की है।

Mr. V. A. Smith ने लिखा है कि ऐसे सुन्दर उत्तम कलापूर्ण चित्रों का निर्माण अभी तक किसी भी देश में नहीं मिला है। John. Marshall ने भी इन्हें सर्वोत्तम रचना (masterpiece) बतलाया है।

गुफायें (Caves)

अशोक के पौत्र दशरथ ने श्रमणों के रहने के लिए गुफाएँ बनवाई थीं जो बड़ाबड़ (baraber) पहाड़ी पर गया से सोलह मील दूरस्थित हैं। सुदामा नाम की गुफा अपने राज्य के बारहवें वर्ष में आजीविक मता-

नुयायी साधुओं के लिए अशोक ने बनवाई थीं जिसमें दो भाग बने थे। बाह्य भाग ३२ फीट ६ इंच लम्बा तथा १६ फीट ६ इंच चौड़ा है।

कर्ण चौपार नाम की गुफा जिसे अशोक ने उन्नीसवें वर्ष में बनवाया था, चतुष्कोणिक बृहत्कक्ष (rectangular hall) वाली है। जिसकी लम्बाई ३३ फीट ६ इंच व चौड़ाई १४ फीट है। इसकी दीवालों पर मेहराबदार (Arched) ४ फी० ८ इंच की छत है। यह परिमाण छत के ऊपर के भाग का है तथा इसकी ऊँचाई ६ फीट ७ इंच है। यह कक्ष (Chamber) कठोर (Refractory) gneiss नामक पत्थर को खोदकर बनाया गया है। इस पर शीशे-जैसी चमकदार Burnish की हुई है जो शान्त बुद्धि एवं अपार परिश्रम की प्रतीक है।

भवन-निर्माण कला

दुर्भाग्यवश मौर्य-काल का कोई चिह्न शेष नहीं रहा है, किन्तु मेगास्थनीज के पाटलिपुत्र के वर्णन से तथा Fa-hian के वर्णन से यह सिद्ध है कि इस काल की भवन-निर्माण कला अद्भुत थी। चीनी यात्री ने लिखा है कि पटना के मध्य में बना राजप्रासाद पत्थर के कामों से चमकदार दीवारों तथा गोपुरों (main gates) से विशाल था। जिसका निर्माण देव-शिल्पियों ने ही किया प्रतीत होता है क्योंकि ऐसी रचना मानव-शक्ति से परे की है।

इस प्रकार मौर्य-साम्राज्य-काल में यह गुहा-निर्माण कला व स्थापत्य-कला खूब विकसित हुई। लगभग चार-पांच सौ गुफाएँ इसी समय बनाई गईं। वे गुफाएँ केवल विहार (dwelling places) ही नहीं थीं किन्तु चैत्यायन या चर्चों (उपासना-गृह) के रूप में भी काम में आती थीं। अशोक-कालीन गुफाएँ न विशाल थीं, न अच्छी खोदी गई थीं। किन्तु पश्चिम की भाजा, बेदशा, कोण्डेन (kondane), जुनार, नासिक, अजन्ता और एलोरा की गुफाएँ तथा पूर्व दिग्वर्ती उदयगिरि नामक उड़ीसा प्रान्तीय भुवनेश्वर से निकटवर्ती गुफा केवल अपने ढंग की अनूठी ही नहीं किन्तु कलात्मक सौन्दर्य में भी आदर्शभूत तथा नक्काशी व सजावट

में अद्वितीय है।

कार्ली नाम की बम्बई व पूना की मध्यवर्ती गुफा आधुनिक प्रकार की गुफा है। यह बनावट में प्राचीन चर्चों-जैसी, सीधी लम्बी गुफा वाली तथा किनारे-किनारे अनेक छोटे-छोटे रास्तों वाली व अर्धवृत्त झरोखों के समुदाय से युक्त एवं अर्धवृत्ताकार है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई दरवाजे से अन्तिम दीवाल तक १२४ फीट ३ इंच है। ४५ फीट ६ इंच चौड़ी तथा फर्श से चोटी (Apex) तक ४५ फीट ऊँची है। पन्द्रह-पन्द्रह खम्भे प्रत्येक दिशा में बने हैं, जो Nave तथा Aisles को पृथक् करते हैं। प्रत्येक खम्भा जड़ में चौड़ा अष्टकोण डंठल की तरह shaft चित्रित शिखर-युक्त तथा इसके अगले भाग में घुटने टेके हुए दो हाथियों के चित्रों वाला है, एवं प्रत्येक खम्भे पर एक स्त्री व एक पुरुष का चित्र अंकित है। कहीं-कहीं दो स्त्रियाँ भी अंकित हैं। खम्भे के पिछली ओर घोड़े या शेर का चित्र बना हुआ है। इसकी कलात्मक उन्नति स्तूपों के अत्यलंकृत द्वारों के निर्माण से प्रकट होती है।

साँची-स्तूपों में चार-चार द्वार बने हैं। इनके कलात्मक सौन्दर्य के विषय में पृथक् रूप से एक-एक ग्रन्थ ही लिखे जा सकते हैं, जिनमें इन द्वारों और स्तूपों का ही विशद वर्णन किया जा सके। प्रत्येक खम्भे पर बुद्ध की जीवनी अंकित है—जिनमें गृहस्थ-जीवन, वन्य-जीवन, शोभा-यात्राएँ (procession), घेरेदार जन-संमर्द (silges) तथा वन्य-पशुओं के अनेक प्रकार के समूह-के-समूह प्रदर्शित किये गए हैं। भरहुत स्तूप के द्वार तथा बाड़ (Railings), एवं अमरावती के स्तूप भी. नक्काशी की दृष्टि से अनुपम हैं। इनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की नक्काशी तथा स्वर-विद्या का महत्त्व (Phonetic value) कला के इतिहास में सबसे बढ़-कर हैं।

कला-भेद

अशोक-राज्य के बाद के समय में प्रस्तर-कला के अनेकों सिद्धान्त प्रचलित हुए। जिनमें (१) गान्धार कला, (२) मथुरा कला, (३)

सारनाथ कला तथा (४) अमरावती कला—ये चार कलाएँ उल्लेखनीय हैं। इन स्थानों के आदर्शभूत प्रकार और विशेषताएँ अन्वेषण का विषय बनी हुई हैं, जो कि पृथक्-पृथक् पुस्तक-रूप में चर्चा-रूप विषय को उपस्थित करती हैं और तभी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश भी डाला जा सकता है।

गान्धार कला भारत में सीमावर्ती उत्तर-पश्चिम प्रान्तवर्ती प्रदेशों में पल्लवित हुई। इस देश पर ३०० वर्षों तक ग्रीस निवासियों का राज्य रहा। इस नवीन राज्य के निरन्तर सम्पर्क के कारण ग्रीक-कला को भारतीय आदर्श विचार और विषयों का नया जामा पहनाया गया, जिसमें ग्रीक-कला का बौद्धिक आदर्श और कलात्मक वैशिष्ट्य प्रतिबिम्बित हुआ और परिणामस्वरूप इण्डो-ग्रीक शैली (Hellenic school) का जन्म हुआ तथा तदनुसार बुद्ध या बोधिसत्व के वे सुन्दर चित्रित बनाये गए, जिनके कारण प्राचीन भारत आज भी गर्व के साथ अपना मस्तक ऊँचा उठा सकता है। इस कला की विशेषता है यथार्थ (realistic) प्रदर्शन, जो कि शरीर-व्यापार-शास्त्र सम्बन्धी (Phisiological) विस्तार प्रदर्शित करने वाली भारतीय भावना का विरोधी रहा है। इस कला का प्रभाव अन्य कलाओं पर भी पड़ा। विशेषतया गया कला, मथुरा कला और अमरावती कला पर इसका अधिक प्रभाव परिलक्षित हुआ। किन्तु यह प्रभाव किस रूप का एवं किस सीमा तक सीमित रहा, इसका परिनिष्ठित निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। यह प्रभाव भारत के अन्तर्भाग तक नहीं पहुँच सका अतएव इसका पश्चात्कालीन भारतीय कला में अभाव पाया जाता है। किन्तु भारत के बाहरी प्रदेश में गान्धार-कला को बड़ा सम्मान मिला—यहाँ तक कि वह पूर्वी द्वीप, तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान की बौद्ध-कला की जननी कही जाती है। यही कला के विकास की संक्षिप्त गाथा है, जो भारत में धर्म की परिचारिका (Maid Servent) बनी रही है। कलाकारों ने बुद्ध-सम्बन्धी स्तूपों, विहारों और मन्दिरों की रचना के रूप में विकास प्राप्त किया तथा पत्थर-तराश व नक्काशों ने बुद्ध-

सम्बन्धी दन्त-कथाओं, जातक कथाओं तथा धर्म-देशनाओं (उपदेश) को अंकित करके विकसित होने का मार्ग उपलब्ध किया।

इस सीमा-विभाजन के होने पर भी कलाकारों ने जीवन का एक सुन्दर विश्लेषण या संभेद उपस्थित किया है तथा प्राकृतिक सौन्दर्य को भी विशेषता के साथ प्रदर्शित किया है। वृक्षों, वनस्पतियों, सरसियों, तालाबों, नदियों, पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों के चित्रों में प्रकृति और जन्तु-जगत् का सुन्दर समन्वय दिखाया गया है। साँची या भरहुत का प्रत्येक चित्र जीवन के आनन्दपूर्ण उपस्थापन में कलाकार के नैपुण्य को प्रकट कर रहा है।

कलाकारों के आश्रयदाता

जैन और ब्राह्मण धर्म के अनुयायी भी कलाकारों के आश्रयदाता हुए हैं, किन्तु उन कला-कालों के आधुनिक चित्र बहुत कम मिलते हैं। कला यह विश्लेषण करती आई है कि कौन चित्र बौद्ध-काल का बना है, कौन जैन धर्म का तथा कौन ब्राह्मण धर्म का। पर यह पूर्ण तथ्य नहीं, क्योंकि कला का विभाजन काल और देश पर अवलम्बित है किसी धर्म-विशेष पर नहीं। इसलिये कला के विषय में बौद्ध या जैन आदि प्रकारों को आधारभूत मानना सर्वथा मौलिक भ्रान्ति है

'India's Past' के अनुसार स्मारकों का विवरण

'India's Past' के लेखक ने चित्तौड़ में बने जैन मीनार (Tower) का उल्लेख किया है। साथ ही पहाड़ों की चट्टानों में से काटी गई अजन्ता की बुद्ध भिक्षुओं की निवास-स्थली का भी वर्णन किया है। उक्त चित्तौड़ का मीनार नौ मंज़िल का बना हुआ है। इसी प्रकार पेशावर में पाई जाने वाली बुद्ध-मूर्त्ति भी बड़ी प्राचीन है। बड़नगर (Vadnagar) गुजरात में हिन्दू तरीके का बना दरवाजा अद्भुत कारीगरी से ओत-प्रोत है। मामल्लपुरम् (मद्रास) में सात बुद्ध-विहार (Pagodas) बने हुए हैं जिनके ऊपर किया गया पत्थर का काम

भारतीयता की छाप का द्योतक है। ये बुद्ध-विहार एक ही बड़ी चट्टान में-से काटकर बनाये गए हैं। बाँकुरा (Bankura) के अन्तर्गत तञ्जौर में बना एक हिन्दू संस्कृति का द्योतक मन्दिर है, जिससे हिन्दू-आर्य (Indo-Aryan) सभ्यता का पता चलता है। उड़ीसा प्रान्तीय भुवनेश्वर का हिन्दू-आर्य कला वाला मन्दिर, तथा खजुराहो में बना हिन्दू संस्कृति प्रकट करने वाला मन्दिर तथा छतरपुर स्टेट में बना प्राचीन मन्दिर प्रस्तर-कला के उत्कृष्ट आदर्श के प्रतीक हैं। ब्राह्मण्य अर्थात् कार्तिकेय का मन्दिर, कोयम्बटोर (Coimbatore) मद्रास के मन्दिर, गुजरात में बने प्राचीन हिन्दू-आर्य सभ्यता को प्रकाशित करने वाले मन्दिर किस कला विशेषज्ञ के मन को आकृष्ट नहीं करते।

द्रविड़ सभ्यता का द्योतक तंजौर में बना हिन्दू मन्दिर बुद्ध-विहार (Pagoda) के अनुकरण पर बनाया गया है। खजुराहो (छतरपुर स्टेट) में बना हुआ बाबा विश्वनाथ का मन्दिर उत्कृष्ट कला का परिचायक है। कार्ली (Karli) की चैत्य कला तात्कालिक जनता के कला के प्रेम को व्यक्त करती है। यह हिन्दू-आर्य (Indo-Aryan) सम्बन्धों को दृढ़ बना रही है।

पुरी (उड़ीसा) में बना हुआ कोणार्क (Konark) मन्दिर सूर्य-उपासकों के लिए उत्तम है। इस प्रकार ईसा से चतुर्थ शताब्दी पूर्व प्रस्तर-कला अत्यन्त उन्नति पर थी, यह निस्संदेह कहा जा सकता है।

साँची के स्तूप, कार्ली (Karli) का मन्दिर और अजन्ता के भिक्षुओं के स्थान (Monastaries) तथा आबू पहाड़ पर बना हुआ संगमरमर का जैनियों का मन्दिर ये सब प्रस्तर-कला उस समय कितनी उन्नत थी, यह बतला रहे हैं।

द्वितीय अध्याय

भारतीय कला का आकर्षण[1]

तीसरी शताब्दी ई० पू० से ८वीं शताब्दी ई० पू० तक भारतीय-कला आकर्षक (evocative) रही है। जिसके कारण अनेक विचार-धारायें प्रचलित हो गई है। अन्धकारपूर्ण सुसज्जित मन्दिर में बनी भ्रकुटी चढ़ाये (scowling) देव-मूर्तियाँ तिब्बत की तान्त्रिक कला का प्रदर्शन कर रही हैं।

ताज का चित्र ब्रिटेन में सारे भारत को संगमरमर का बना हुआ तथा फूलों से सुसज्जित ही प्रतीत कराता है। यह ताज यवन-कालीन फ़ारस की कला का प्रदर्शन मात्र है। बुद्ध-यूनानी (Graeco-Buddha) कला भी हमारे लिये आदर्श (Norm) नहीं बन सकती जिससे भारतीय कला की अपनी विशेषता विनाशोन्मुख (decadence) हो जाय। उक्त सम्पूर्ण कलाएँ भारतीय कला का आंशिक प्रदर्शन करती हैं, वह भी कुरूपता (distorted way) के साथ। इस विश्लेषण में गुप्तकालीन अजन्ता और एलोरा (Ajanta and Ellora) का आर्ट सर्वथा उपेक्षित हो जाता है जो ५वीं शताब्दी ई० पू० से ६वीं शताब्दी ई० पू० में छाया रहा है। साथ ही भरहुत, साँची-मथुरा की कला और द्वितीय शताब्दी ई० पू० से तृतीय शताब्दी ई० पू० तक की कला तो इसमें आती ही नहीं। भारतीय कला की तुलना जब ख्मेर (Khmer) कला से की जाती है तो भारतीय और ख्मेर कला का भेद प्रतीत होता है कि :—Indian art is sensual living and essentially graceful and it sets a great store by decoration both in sculpture and architecture. In

---

(१) "Ancient India and Indian Civilization" by Paul Masson Oursel के आधार पर।

its most different aspects one finds the sinuous line of the human body, exeggeration of the signs of feminine beauty and slanting hips, तथा शरीर के अवनत स्थानों में आकृतियाँ सिकुड़ी हुई अंकित होती हैं। भारतीय कला में जीवन की विलासिता (Voluptuousness), वैभवशालिता (Opulence) व दिव्यता (Casualness) है, तथा ग्रीक कला शान्त (Cold) और सुदृढ़ (Stiff) है।

पूर्वकालिक भारतीय कला
(Pre-Indian Art)

हड़प्पा और मोहन्जोदड़ो (Harappa and Mohanjodaro) :—यह कला मेसोपोटामिया के सुमेर और सुसियाना (Susiana) कला से मिलती-जुलती है तथा भारतीय कला की भूमिका-मात्र है। मोहन्जोदड़ो की मोहरें बहुत पहले मिली थीं। पर सिन्धु घाटी (Indus Valley) की खुदाई ने यह बतलाया कि ऐसे दो नगर थे जो चौड़ी-चौड़ी ईंटों की दीवालों से बने थे। एक बाल-नर्तकी का चित्र, रंग की गई बर्तनों की श्रेणी, आभूषण तथा मोहर सुसियाना (मेसोपोटामिया) की कला से सादृश्य रखती हैं। वहाँ की किन्हीं मोहरों पर बैल का चित्र बना हुआ है तथा किन्हीं पर भारतीय पशुओं का। सिन्धु की घाटी (Valley) की सभ्यता की तिथि कोई निश्चित नहीं की जा सकती। मार्शल (Marshall) साहब, जो हड़प्पा की खुदाई के इञ्चार्ज थे, के अनुसार इस सभ्यता का समय तीसरी या चौथी शताब्दी ई० पू० है। वहाँ प्राप्त एक पेड़ का चित्र तथा एक मनुष्य का बैठा हुआ चित्र भारतीय प्राचीन वास्तु कला की ओर संकेत करता है। अतः निस्संदेह सिन्धु घाटी की सभ्यता आर्य-सभ्यता से प्राचीन है, पर इतनी प्राचीन नहीं जितनी सम्भावित की जाती है। कुछ मिट्टी के बर्तनों के गूढ़ परीक्षण से भी यही परिणाम निकलता है।

Architecture and Decoration

वैदिक सभ्यता की सिद्धि के लिए प्राचीन भवन या देवताओं के चत्रों की आवश्यकता नहीं। विदेशीय कला के एक-दो नमूनों को छोड़-

कर अन्य भारतीय कलाएँ केवल लकड़ी के काम पर ही आधारित हैं। भारतीय कला दो भागों में विभक्त है—लकड़ी की नक्काशी और एकिमेनियन (Achaemenian) की कला, इसे ही आजकल Hellenised world की कला कहते हैं। कोम्ब्राज (Combaz) का मत है कि यह काष्ठ-कला लीसिया (Lycia) की कला से मिलती-जुलती है, जो भारतीय टोडा (Todas) जाति में गाथिक (Gathic) कला या Vault की कला के सदृश है। काष्ठ-कला में घोड़े के नाल-जैसे छज्जों (Horse shoe shaped projections) का दरवाजों पर बना होना अपनी विशेषता रखता है। यही चित्र गुफाओं के बाहरी भाग फसादों (Facades) में भी मिलते हैं। झूठी खिड़कियाँ (false windows), महराबें जो (Balustrades) के आधार पर स्थित हैं वे तथा सीढ़ीदार कार्निस (Cornices) भी बहुत मिलती हैं। पर अजन्ता में सब बातें घुमावदार या झालरदार कार्निस आदि का रूप ले गई हैं। जिन्हें कुडू (Kudu) कहते हैं। कुडू, ख्मेर आर्ट में जो कि कम्बोडिया (Combodia) का Pre-Angkor आर्ट था, व सातवीं शताब्दी में विकसित हुआ था, उसमें तथा चम्पा (Annam) आर्ट में पाये जाते हैं। आगे चलकर त्रिकोणाकार और ऊपर के नुकीले (Trapezium shaped) दरवाजे बनने लगे। आठ पहलू लम्बे चौकोर बनावट के (Eight sided shefts) खम्भों का निर्माण अशोक काल की विशेषता थी।

कार्ली तथा पर्सीपोलिस (Persipolis) कला में भी यही कला दृष्टिगोचर होती है, पर वहाँ balustrades का आश्रय नहीं लिया गया है। धीरे-धीरे स्तूपों के सिरे पर चित्रों के स्थान पर पगड़ी-जैसी आकृति बनने लगी। यह पगड़ी बीच में भी बनती थी। किन्हीं खम्भों पर टोकरी (basket)-जैसी आकृतियाँ भी मिलती हैं।

प्राचीन काल में गोल चौखूँटे खम्भे भी बनाए जाते थे। इन खम्भों के पाये पादाधार (Pedestal base) वाले नहीं होते थे जैसे एलोरा में आज भी बने हैं, घोंघेदार (Spiral flutting) भी कहीं दृष्टिगोचर होती है। गुफाएँ दो उद्देश्यों से बनती थीं—या तो साधुओं के रहने के

लिए अथवा जन-समुदाय के द्वारा पूजा-सभा आदि धार्मिक कृत्यों के लिए। गुफाओं के खम्भे Epsidal end वाले या Dagoba वाले होते थे। भारतीय कलाकार Vault के सिद्धांतों को न जानते थे, जिनमें दो पत्थरों के टुकड़े नुकीले त्रिपाश्र्वाकार (trapesium shape) में काटकर जोड़े जाते थे। Cella भी जहाँ पर दीवालें नीची होती हैं तथा सिरे से नितान्त पृथक् होती हैं, ऐसी गुफाओं में ही मिलते हैं। मामल्लपुरम् के रथ में जो ७वीं शताब्दी की कला थी Colomate न थी, पर उसकी छत बड़ी थी तथा उसके चार खम्भे भी होते थे। वे छतें चित्रदार तथा कई तहों की बनने लगीं जो पट्टकदल (Pat'ak dal) में मिलती हैं। ईंटों के द्वारा छतें (Corbelling) तथा मंजिलें (Stories) भी बनने लगीं जिनमें मेहराबदार (Curbilinear) भाग भी होता था—जैसा श्रीपुर में है।

पाश्चात्य देशों में भी cella और कंगूरे प्राचीन (Classical) काल जैसे मिलते हैं जैसे कि पट्टकदल और एहोल (Aihole) में पाये गए हैं। दक्षिण भारत में cella बढ़ता गया तथा मंजिलें (Stories) भी असंख्य तथा विमान (Vimans) की आकृति की बनने लगीं। १०वीं व ११वीं शताब्दी के तंजौर के द्रविड़-मन्दिर इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। १३ वीं शताब्दी के बाद विमानाकृति प्रचलित हुई तथा गोपुर के समान होने लगी। उत्तरीय भारत की कला घुमावदार मीनार (Curbilinear tower) को जैसा बनाती थी वैसा रूप ८वीं शताब्दी से अब तक बनाती चली आती हैं। इसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। कुछ जैन मन्दिर गुम्बज वाले कक्ष (Domed hall) की आकृति के होते हैं। मैसूर के मन्दिर पिरामिड की तरह (Pyramidical) रूप के होते हैं। यह आकृति उत्तरीय तथा दक्षिणात्य कला का मिश्रित रूप है। इण्डोनेशिया और इण्डोचायना की कला भारतीय कला के अनुकरण पर बनाई गई। जावा के भवन Cella के ढंग पर बिना नींव के बनाये गए। चम्पा (Annam) में भी यही कला है और अंघोर (Angkor) तथा ख्मेर (कम्बोडिया) की कला तथा द्वारावती (स्याम) की कला भी ईंटों

के बने पवित्र (Sanctuary) शिखरों के निर्माण के रूप को घोषित कर रही है। ख्मेर-कला में पत्थर का अधिक प्रयोग है ईंटों का कम। बोरो-बुडर (जावा) के अनुसार अनेक मंजिल वाले मन्दिर यहाँ इसी ईंटों वाली कला में बने हैं। इनमें Corbel vault अत्यधिक दृष्टि-गोचर होते हैं।

सजावट (Decoration)

सजाने की कला स्थानीय (local) तथा विदेशागत (Imported) भेद से दो प्रकार की है, जो कि मनुष्य, देवता-पशु आदि के चित्रण में विकसित की गई है। इन चित्रों में पंखदार (Griflious) घोड़े, शेर, सर्प पुच्छधारी पुरुष (Centaurs) भी हैं। स्थानीय चित्रकला भरहुत (Bharhut) की सजाने की कला में दिखाई पड़ती है। दोनों कलाओं का मिश्रण jambs में मिलता है। प्राचीन काल (Classical age) के प्रसाधन उपयोग में नहीं आते। भवन के सम्मुख भाग पर फसाद (facades), खम्भों के शिखर पर (Pillar tops) तथा दरवाजों व खिड़कियों के ऊपर बनी मेहराबों (Architraves) पर मानव-चित्र अंकित हैं।

स्तूप (Stupas)

स्तूप-कला राज्य-सिंहासन के अर्धगोलाकार ऊपरी भाग Hemispherical mound masonary set पर निर्भर है तथा cubical tree का चित्र स्तूपों पर बना हुआ है। श्री फाउचर (Foucher) ने स्तूप-कला के प्रयोजन तथा उत्पत्ति पर यों प्रकाश डाला है कि आरम्भ में स्तूप बुद्ध की अस्थि-भस्म को रखने के लिए एक पात्र (Tumulus) के रूप में बने। ये कुल आठ थे जिनमें से सात ही पात्र (Tumulus) अशोक को मिले। आठवाँ जंगल में ही नष्ट हो गया। अशोक ने भस्म को एकत्रित किया। इसे यादगार रखने के पदार्थों के पात्रों (Reliquaries) में विभक्त किया। अन्त में ये स्तूप पवित्र स्मारक का रूप धारण करने लगे तथा किसी अद्भुत घटना या उच्चस्तरीय घटना के द्योतक बन

गए। स्तूप छोटे-बड़े दोनों प्रकार के थे। ये मन्दिरों के चारों तरफ प्रदक्षिणा के लिए भी बनाये गए। छोटे स्तूपों को डागोबा (Dagobas) कहते थे। ये ही स्तूप फिर गुम्बज (Dome) की आकृति के बने तथा शनैः शनैः घण्टों की शक्ल के बनने लगे।

हीनयान मतावलम्बी बौद्धों में इनका अधिक प्रचार हुआ जैसे लंका, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया और लाओस में। प्रारम्भ में स्तूपों की सजावट नहीं की जाती थी किन्तु बाद में ये खूब सजाये जाने लगे जैसे अमरावती में। ये स्तूप (Balustrodes) और (Reliefs) से सुरक्षित रखे जाते थे। उनके सिरों को (Medallions friezes) से भी रक्षा के लिए ढक दिया जाता था।

•

तृतीय अध्याय

धार्मिक कला (Religious Art)

यह कला द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व में प्रचलित हुई। इसका उद्-भव बुद्ध की चार विशेष घटना सम्बन्धी यात्राओं के चित्रण से हुआ।

१. कपिलवस्तु में बुद्ध की उत्पत्ति तथा बुद्ध का त्याग।

२ बुद्ध गया में ज्ञान-प्राप्ति।

३. सारनाथ बनारस के समीप मृगदाव उद्यान (gazelles park) में प्रथम उपदेश, तथा

४. कुशीनगर में परिनिर्वाण।

श्रद्धालु लोग इन स्थानों पर जाते थे तथा वहाँ से मिट्टी लाते थे जिससे इन घटनाओं को बतलाने वाले चित्र बनाये जाते थे। (१) सिंहासन, एक पेड़ के नीचे बना होता था जिस पर कोई बैठने वाला न होता था—यह चित्र राज्याभिषेक घटना का सूचक था। (२) एक पेड़ का चित्र ज्ञान-प्राप्ति का सूचक, (३) एक चक्र—धर्मचक्र प्रवर्तन का सूचक, तथा (४) माया (बुद्ध माता) के दोनों ओर हाथी के चित्र, इस चित्र में दो हाथी एक बालक का Asperse करते थे जो बालक अदृश्य होता था। इस प्रकार ये धार्मिक चित्र विकसित हुए। पूर्व रोमीय साम्राज्य की कला (Byzantine Art) में ऐतिमाशिया (Etimasia) के विषय में चित्र बने जिनमें देव-दूत (Angels) एक रिक्त गद्दी की पूजा करते दिखाई देते हैं जो कि गद्दी अंतिम निर्णय (Last Judgement) के लिए बनाई जाती है। यही कला फिर जातकों में वर्णित घटनाओं के आधार पर अंकित होने लगी तथा उसमें अनेक प्रकार के पशुओं के चित्र खींचे गये।

यह धार्मिक कला बौद्ध-यूनानी (Graeco Buddha) कला से नितान्त भिन्न थी। इसका ही अनुकरण गान्धार तथा कपिशा (Kapisa) की

कलाओं में पाया जाता है। मथुरा कला में भ्रूमध्य-चक्र का होना, उष्णीष व कुंचित केशों (Curls) का होना आदि अधिक पाया जाता है। इसमें बुद्ध के समाधिस्थ चित्र नहीं दर्शाये जाते किन्तु उपदेश देते हुए ध्यानावस्थित लेटे हुए या यूरोपीय ढंग (European's fashion) के अनुसार एक आसन (Seat) पर घुटनों को चौड़ाये हुए दिखाये जाते हैं— जैसा कि द्वारावती (स्याम) और जावा के चित्रों में पाया जाता है। बुद्ध की भिन्न-भिन्न हस्त-मुद्राएँ (hand positions) भी भिन्न-भिन्न भावों को व्यक्त करती हैं, जैसे—हथेली का गोद में होना ध्यान का, एवं दक्षिण हाथ का उठाना (जिसमें अनामिका व मध्यमा मिली हुई होती थी) विचार का सूचक है। खाली हथेली एवं हाथ का आगे होना दान का चिह्न है, अंगुलिओं का खड़ा करना अभयदान देने का सूचक है। चक्र का चलाना उपदेश का सूचक है। बौद्ध-यूनानी कला में सीथियन राजा की तरह बुद्ध के मूँछ भी दिखाई गई हैं। मथुरा कला में इसका ही अनुकरण पाया जाता है। इसमें बोधिसत्त्व के चित्रों को दक्षिण भुजा पर से वस्त्रावृत या वस्त्र-रहित भी अंकित किया है। इनमें सर्वोत्तम चित्र चम्पा के डङ्ग-डोङ्ग (Dong-Duong) नाम का है, यह बुद्ध का चित्र है। बुद्ध का वह चित्र जिसमें उनकी भुजाएँ लम्बी हैं बहुत प्रसिद्ध हुआ, तथा उत्तरीय भारत में वही बहुत अधिक पाया जाता है। जावा की कला में बुद्ध को ऐसे वस्त्र धारण कराये गए हैं जो नजर नहीं आते और सूक्ष्मतम हैं। यही चित्र चाँदी मन्दुत (Chandi Mendut), बोरोबुडर (Borobuder) और चाँदी साड़ी (Chandi-Sari) में भी अंकित हैं।

बुद्ध के कतिपय चित्र रत्नमालाओं से विभूषित हैं जो कि ख्मेर-कला के सूचक हैं। इसी प्रकार बेयन (Bayon) कला भी बढ़ी, जिसमें ध्यान के समय बुद्ध की आँखें बन्द दिखाई गईं। धीरे-धीरे यह कला भारत से चीन पहुँची। इसे समुद्र पार करना पड़ा। मध्य एशिया, तिब्बत व जापान पर भी भारत का प्रभाव पड़ा। माया के खड़े चित्र में उसका नितम्ब-भाग उभरा हुआ अर्थात् tilled hips वाला है, उसका दक्षिण

हाथ सिर पर रखा हुआ है, वाम हाथ एक वृक्ष की शाखाओं को पकड़े हुए है तथा वह लुम्बिनी वन में खड़ी हुई है—यह चित्र पुत्र-जन्म (बुद्ध जन्म) का सूचक है।

भरहुत में भी यही चित्र है। इस चित्र में देवगण प्रकट होने वाले बालक को लेने के लिए उतावले दिखाई देते हैं।

अमरावती की कला

अमरावती की द्वितीय से चतुर्थ शताब्दी तक की कला भी अपना विशेष स्थान रखती है। यह धार्मिक कला अजन्ता में पूर्ण विकसित हुई है। बौद्धों के अनुसार जैन तीर्थङ्करों के चित्र भी प्रकाश में आए। इनमें वैदिक यज्ञों के चित्र अंकित न किये जा सके; यक्ष और यक्षिणी के चित्र अंकित होते रहे। शिवलिंग (Phallus) के चित्र भारत तथा इण्डोचीन दोनों स्थानों में बढ़े। ये मथुरा कला में भी प्रदर्शित हुए। गुप्त-कला के समय ४थी व ५वीं शताब्दी में विष्णु तथा शिव के चित्र बने, तथा इस समय बुद्ध धर्म क्षीण होने लगा। इस प्रकार धार्मिक चित्र भद्दे प्रेममय दृश्य (indecent erotic scene) दिखाने में तथा सुन्दरता-युक्त आकर्षण के प्रदर्शन में अनेक सुधारों (Precosity) के साथ बढ़े। शान-शौकत (Gracefulness) और (Franzied violence) भी इनमें अंकित होता रहा।

(Sculpture and Painting)

पत्थर की नक्काशी तथा रंगीन चित्रकला अशोक-स्तम्भ पर दिखाई देती है तथा यह परिधान (Drapery) के रूप में विकसित हुई है। बौद्ध-यूनानी कला भारत-कला में विलीन हो गई। पाटलिपुत्र, भाजा, भरहुत, बुद्ध गया, कार्ली और मथुरा की कला में स्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है। इसमें परम्परागत कठोरता (Hieratic stiffness) नहीं है, किन्तु सजीवता, कथात्मकता, यथार्थवाद, अकृत्रिम भावाभिव्यक्ति (straight forwardness) और प्राणी-प्रेम दिखाई देता है। छोटे-छोटे मिट्टी के बने सिर (Small terracotta heads) पाटलिपुत्र में मिलते

हैं। भरहुत तथा बुद्ध-गया के सुसज्जित गोल चित्र (Medallions) में कलात्मक विकास (Technical progress) दृष्टिगोचर होता है। साँची के स्तूपों में कला की परिपूर्णता झलकती है। चित्रों में भारतीयता है। मूर्त्तियों के धड़ (Torso) नग्न हैं तथा वस्त्रपरिधान भारतीयता को लिये हुए है। पगड़ी एक तरफ को झुकी हुई है; नारी-चित्र और भी आकर्षक (fulsome) बन गये हैं। पीली मिट्टी की मथुरा-कला को देखकर एजिना (Aegina) की कला स्मरण हो आती है। ५वीं शताब्दी में भारतीय कला खूब बढ़ी—अमरावती, अफगानिस्तान तथा एशिया माइनर में भी फैल गई।

इसके अतिरिक्त कुछ मूर्त्तियाँ बनीं जो पालती (Squat) लगाकर बैठी हुई और भद्दी (Clumsy) थीं। अफ़गानिस्तान के सुदूर दक्षिण-पूर्व के हाडा (Hadda) नामक स्थान में तथा तक्षशिला में खुदाई होने पर कुछ मिश्रित धातु की ढाली गई मूर्त्तियाँ (works of stucco) मिलती हैं, जिनके सिर ढले तथा शरीर खोदे हुए हैं। मि० हॉकिन (Hackin) तथा मि० मिल्ली हर्बर्ट (Mile Herbert) इसके यत्न में हैं कि वे इस (Hellenistic Prototypes) का पता लगावें। गॉल, सुकरात (Gaul, Socrates) या ईसा मसीह के सिर बौद्ध-यूनानी कला में न थे। यह काल इस कला का उद्भव-काल था। इसका विकास हम भारतीय-नितम्बों के चित्रण में पाते हैं। मथुरा-कला पर इसका प्रभाव प्रथमतः पड़ा। कनिष्क के समय में भी यही प्रभाव प्रतीत होता है। नागा राजाओं के समय में Musee Guimet नामक फ्रांस के अजायबघर में जो प्रस्तर-मूर्त्तियाँ मिलती हैं उनमें स्वाभाविकता विशेष है। मथुरा कला भी सीथियन-प्रभाव से न बच सकी। मुख प्रान्तवर्ती ज्योतिषचक्र (Halo) का निर्माण भी बाद में हुआ। चक्षुः कला की भ्रू-भंगियाँ भी बाद में भारतीय ढंग की बनने लगीं। अमरावती-कला में कोई भी मिश्रण नहीं दिखाई देता। अजन्ता-कला में रंगीन-चित्रों (Painting) की अधिकता है—जो छठी शताब्दी की देन है। अजन्ता की १९ व २६ नं० की गुफाओं में यह कला विशेषतया दिखाई देती है।

बाग तथा सिगिरीया (Bagh and Sigriaya) और अफगानिस्तान के रंगीन चित्र भी Frescoes से भरे हुए हैं। देवगढ़ व एहोल में भी इनकी उपलब्धि होती है। एलोरा व एलीफेन्टा की गुफाओं की कला अजन्ता का ही विकसित रूप है जिनमें बौद्ध-प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। अनेक चित्रों में सादृश्य तथा शोभा (Grandeur) प्रतीत होती है। एलोरा की गुफा में अवतार-चित्र उल्लेखनीय हैं। रावण का क्षय (Ravana ka khai) नाम की गुफा में एकरूपता (Harmony) व शोभा (Grandeur) का प्रशंसनीय सम्मिश्रण है। इस प्रकार इस कला का वर्णन यहीं समाप्त होता है।

त्रिभंग का विकास
(Evolution of Tribhanga—the Triple bend)

त्रिभङ्ग-मूर्त्तियाँ—यह भङ्गि (Praxitelean bend) का ही एक रूपान्तर है। इसमें भारतीय कला की व्यापकता द्योतित होती है। विलासिता (Voluptuousness) व भारतीय कला की प्रभावशालिनी प्रवृत्ति (Swaying aspect of Indian Art) भी प्रतीत होती है। माया की शाखा अवलम्बित वाली त्रिभंगी मूर्त्तियाँ अत्यधिक हैं। एलोरा और एलीफेन्टा में त्रिभङ्ग का स्थान नहीं के बराबर है। नृत्य करते हुए शिव में यह त्रिभङ्ग दिखाई पड़ता है जो भुवनेश्वर, कोणार्क और खजुराहो की मूर्त्तियों में भी दृष्टिगोचर होता है। यह त्रिभङ्ग नेपाल द्वारा तिब्बत में गया और अब तक चला जाता है। यह जापान के होर्यूजी (Horyuji) तथा चीन के टीन लंग शान (Tien Lung Shan) में भी पाया जाता है। द्वारावती (स्याम) में त्रिभंग गुप्त-काल से लिया गया है। ख्मेर कला में भी यह उन्नत अवस्था को प्राप्त कर चुका था।

भारतीय कला का विकास (Evolution of Indian Art)

हड़प्पा तथा मोहन्जोदड़ो या सिन्धु-घाटी में यह भारतीय कला मोहरें, नगर, बर्तन, रत्नों आदि के रूप में मिलती है। यह तृतीय शताब्दी ई० पू० का समय था। दक्षिण में Cella बहुत बढ़ा। प्रस्तर

कला मामल्लपुरम् में बहुत दिखाई देती है। इसका प्रभाव चीन पर अधिक पड़ा। शैव सम्प्रदाय और तान्त्रिक कला से भी इस कला को प्रोत्साहन मिला। चम्पा में जावा की कला पहुँची। भारत-यूनानी कला का प्रभाव वैदिक काल में चीन पर पड़ा। बंगाल तथा राजपूती कला के रंगीन चित्र (Painting) भी भारतीय कला-धारा को सजीव बनाते हैं।

भारीतय सौन्दर्यात्मक कला (Indian Aesthetics)

विचारपूर्वक देखा जाय तो अजन्ता के Frescoes तथा संस्कृत-नाटक व पद्यकाव्यों एवं अजन्ता के रंगीन चित्रों का परस्पर बड़ा सम्बन्ध है। अजन्ता की १, २, १६ व १७ नं० की गुफाओं में उत्कृष्ट चित्र-कला आज भी विद्यमान है। मेरे विचार में यह कला केवल प्राचीन काल (Classical period) में ही नहीं प्रत्युत इसके बाद भी रही। संस्कृत भाषा के साहित्य से भी इसी प्रकार का दृश्य (Phenomenon) प्रदर्शित किया जाता है।

यह देखा जाता है कि कोई भी शब्द आद्यन्त के शब्दों के प्रभाव से आकृति बदल लेते हैं जैसे सब+ही=सभी तथा जैसा कि गान-विद्या में दीर्घ (long) या लघु (short) ध्वनि (Rhythm) में होता है। वे दृश्य इटालियन frescoes से मिलते-जुलते हैं जो अजन्ता में उपलब्ध हैं। जैसे लम्बे-लम्बे संस्कृत वाक्य ध्वनि-नियम (Euphony) के अनुसार बनाये जाते हैं वैसे ही चित्रकला में भी अनेक चित्रों का मिश्रण है। याक प्राणी की पूँछ (Tail) पकड़े स्त्रियाँ, उनकी आकृतियाँ, भंगिमाएँ व सिर की पट्टियां चित्रों का आकर्षण बढ़ा देती हैं। अजन्ता के चित्रों में संस्कृत नाटकों का लचीला स्वरूप नजर आता है। 'रत्नावली' द्वितीय अङ्क में रत्नावली का व 'शकुन्तला नाटक' में शकुन्तला का चित्र अंकित है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' अंक दो में तथा 'शकुन्तला' अंक तीन में चित्रकला दिखती है। संस्कृत नाटकों की कथावस्तु (Plot) तथा दृश्य प्रस्तावना से सम्बद्ध (relegated) हैं तथा Frescoes के निर्माण की विशेषता भी दिखाई देती है। अजन्ता में एक

राजा-रानी के जुआ खेलने का चित्र अंकित है। 'विद्ध शालभंजिका' में तप्तकर्ण नामक बन्दर का और एक बौने (Dwarf) का, जिसका नाम नगरकण्टक था, याक (Yak) की पूंछ का चंवर (Fly flapper) को हिलाती हुई प्रभंजिका का तथा पानदान को उठाती हुई नागावली का चित्र प्रदर्शित किया गया है। आनन्द उद्यान (Pleasure pavillion) में एलोय (Aloe) की सुगन्धि (Perfume) उड़ रही है तथा खम्भों पर रत्न-मालाएँ लटक रही हैं—यह 'प्रियदर्शिका' के तृतीय अंक में लिखा है। संस्कृत-काव्यों में एक शब्द-चित्र अंकित है जिसमें हरिणी (Gazelles) और उसकी डरपोक बड़ी-बड़ी तारों वाली आँखें चलती हुई दिखाई देती हैं। उसके बाल, कमर, गर्दन सभी सुन्दर व दर्शनीय हैं। अजन्ता चित्रकला में यही स्पष्ट दिखाया गया है। वहाँ स्त्रियाँ नूपुर धारण करती हैं, वे जब चलती हैं तो उनकी भूषण-ध्वनि खम्भों पर लटकती हुई मोतियों की ध्वनि से मिल जाती है। स्त्रियों में लचीलापन (Elasticity), भंगिमा (Suppleness) तथा कोमलता (lassitude) एवं अनुपमता (Non-chalant) है। गति (gait) सु-संतुलित है। अजन्ता की स्त्रियों में उनका विलासितापूर्ण सौन्दर्य (Voluptuousness delight) तथा सुकुमारता (languor) का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। 'नागानन्द' तथा 'शकुन्तला' में भी ये चित्र बहुत दिखाई देते हैं। बोधिसत्व के १ नं० की गुफा के चित्र में भी यही दशा है। बेयन (Bayon) की ख्मेर-कला भी इस विशेषता को रखती है। कालिदास व भवभूति के काव्य-चित्र भी अद्भुत कला प्रदर्शित कर रहे हैं। द्रविड़ कला में भी काली देवी का तथा तिब्बत की तान्त्रिक पद्धति में शक्ति तथा शिव के युद्ध के चित्र प्रस्तर-कला के सजीव व उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

उपसंहार (Conclusion)

यह कहा जा चुका है कि भारत में कला का एक गड़बड़ झाला (Chaos) है। ठीक ही कहा है कि :—Life breaks out from rules, and does not cease to proliferate in capricious

growths—हमारे Sculptural तथा Architectural monuments इस कला के प्रचुर परिमाण के प्रदर्शक हैं। भारतीय सभ्यता जंगली सभ्यता को अपनाये हुए है। भारत ने विलासिता (Pleasure) को अपनाया है तथा pleasure के विरुद्ध लड़ाई भी लड़ी है—जैसे राजा भर्तृहरि ने राज्य-परित्याग किया था, Dives और hazarus इसकी स्पर्द्धा में अपने कन्धे रगड़ते हुए एक चित्र में दिखाए गये हैं। स्पर्धा (Zeal) और भावना (Passion) परस्पर मिलकर बढ़े हैं। यूनान में Ontology (सत्त्वविद्या) की परिधि है। किन्तु भारत ने अपने आपको अनन्त ज्ञान के लिए उत्सर्ग कर दिया है जब कि यह उस ज्ञान का पथिक बनता है। भारत ने नियमहीनता (Anarchism) को भगा दिया है क्योंकि इसने अपने कार्यों में पदार्थों की नियम-बद्धता तथा दृश्य पदार्थों की सद्रूपता को अच्छी तरह पहचान लिया है॥

•

चतुर्थ अध्याय

भारत के स्मारक[1]

(The Monuments of Ancient India)

दुर्भाग्य से उपलभ्यमान स्मारकों में प्राचीन स्मारक दृष्टिगोचर नहीं होते। मौर्य-साम्राज्य लगभग १००० वर्ष तक रहा किन्तु राजगृह की दृढ़ और विशाल (Cyclopean) भित्तियों के शिल्पियों के कुछ औजारों, मिट्टी के बर्तनों, पत्थर की कब्रों (Tombs) और धातु के बने कुछ पदार्थों के सिवाय अब उसका कुछ भी अवशेष नहीं मिलता। इसका कारण यही है कि वे (भारतीय) अपने भवनों का निर्माण सुदूर जंगलों में करते थे और वहाँ भारत की जलवायु उन भवनों को नष्ट करने में प्रकृति की सहायता करती रही।

भारत के Paleolithic युग के मनुष्यों के विषय में हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है क्योंकि पाषाण-युग (Neolithic) की जाति ने हमें अधिक आकृष्ट किया है। द्रविड़ जाति ने भी इसी वंश में जन्म पाया है। द्रविड़-काल के अस्त्र-शस्त्र एवं पात्र सारे भारत में बिखरे हुए मिलते हैं, जिनमें अनेकों विभिन्नताएँ हैं। कुछ पॉलिशदार हैं तो कुछ बिना पॉलिश के। वे पश्चिम एशिया और यूरोप के समान बने हैं। इस सादृश्य से ही कुछ अन्वेषकों की यह धारणा बन गई है कि द्रविड़ लोग पश्चिमी एशिया के निवासी थे तथा बिलोचिस्तान द्वारा भारत आये। बिलोचिस्तान में प्रचलित ब्राह्मी (Brahmi) भाषा भी इसी बात की प्रमाण है। अन्य भाषा-मूलक दृष्टियों से यह सिद्ध है कि द्रविड़ लोग दक्षिण भारत के निवासी थे, वहाँ से वे उत्तर भारत में गये। इन धारणाओं में सत्यता हो या न हो किन्तु यह सभ्यता पाषाण-युग की देन है इसमें सन्देह नहीं। जो औजार यूरोपीय औजारों से भिन्न

---

1. 'Cambridge History of India' के आधार पर।

प्रकार के हैं वे रन्दे की तरह (Chisel shaped) लम्बी मूँठ वाले (high shouldered celts) हैं इन्हें मोन-ख्मेर (Mon-Khmer) जाति के व्यक्तियों ने बनाया था। बुन्देल खण्ड में कुछ छोटे-छोटे औज़ार मिले हैं जो कि पाषाण-युग की प्रतिमाओं के समान कला-शून्य खुदाई से अंकित हैं। दक्षिण दिशा में भी इसी प्रकार की वस्तुएँ मिली हैं। भूमध्य रेखा (Peninsula) के मध्य एवं दक्षिण भाग में कुछ एक पत्थर की बनी कब्रें (Monolythic Tombs) खड़ी हैं, जो कि प्राचीन अन्वेषकों के लिए Cinder mounds या cup marks (अर्थात् ऐसी चट्टानें जिनमें छोटे-छोटे गड्ढे कर दिए गये हों,) के रूप में पाई जाती हैं। ये गड्ढे ही प्राचीन काल की एक लिखावट थी। उत्तर भारत से ज्यों-ज्यों पाषाण-युग हटा धातु-युग (Bronze age) आया। अब तक केवल सात धातुओं के बने औजार मिलते हैं जिनका उल्लेख डा० वाइकाउन्ट स्मिथ ने किया है। इनके बाद हुगली (Hoogly) जोकि बिलोचिस्तान के पश्चिम में स्थित है, वहाँ पर मूंठदार भाले (Celts, harpoons, spear-heads) और भालों की चौड़ी व नुकीली फलें तथा छोटी-छोटी तलवारें प्राप्त हुई हैं जिनकी मूठों का वजन बहुत अधिक है। स्मिथ का कहना है कि उन दिनों शस्त्र बनाने का कार्य बड़े पैमाने पर होता था। गंजोरिया (Gungeria Hoard) में मिलने वाले चाँदी के आभूषणों से इनकी प्राचीनता के विषय में सन्देह होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि ताँबे के स्थान में लोहे का उपयोग कब किया जाने लगा, किन्तु वेदों में आये प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि ईसा के १००० वर्ष के पूर्व ही (in the second millenium B. C.) लोहा काम में आने लगा था। यह सम्भव है कि लोहे और ताँबे का परिचय भारतीयों को सर्वप्रथम इसी वेद से प्राप्त हुआ हो। बेबीलोनियन, एंग्रियन व भारतीय सभ्यता में ऐसी अनेक प्राचीन वस्तुएं मिली हैं जिनमें बहुत कुछ साहृश्य है। पुल्लवरम् (मद्रास) और बगदाद में कुछ ऐसे oblong short legged terracottas, माँस खाने के काम में आने वाली साधनभूत वस्तुएँ (Sarcophagi) मिली हैं जो कि एक-दूसरे से मिलती हैं।

वैदिक सभ्यता भारत के उत्तर में अधिक फैली, उस समय के लौरिया नन्दनगढ़ (बिहार) में मिलने वाले स्मारक श्मशान-भूमि के स्तूपों या गुम्बजों, या छतरियों (Burial mounds) के समान हैं और वैदिक काल के रीति-रिवाजों को प्रकट करते हैं।

मौर्य-काल का राजगृह बिन्दुसार के समय में उपेक्षा का विषय बना। उसकी प्राचीन राजगृह के स्थान से हटाकर नये राजगृह में स्थापना की गई। इसके मकान बनाने में ईंट, लोहा, पत्थर, सीपी, बाँस की खपाँच तथा मिट्टी का गारा काम में लाया गया। बाँस की जालीदार खपाँचें बनाई गईं। उनका Frame work अर्थात् काष्ठ-कार्य टेढ़ा घुमावदार (Curbilinear form) का है। दीवालें 'wattle of daub' के सिद्धान्त पर बनी हैं। बाद में लकड़ी के मकान बने जो अधिक सुन्दर थे। इनमें भारतीय कला झलकती है। छतें लकड़ी एवं पत्थर की बनने लगीं तथा चैत्यों में, खिड़कियों में मेहराबदार दरवाजे बने। लकड़ियों को कीड़े न खायँ इसलिए मकानों के लकड़ियों के खम्भे मिट्टी के थामलों में रखे जाते थे। इस प्रकार बर्तन बनाने के काम व फूल-पत्ती के काम 'pot and foliage' का आरम्भ हुआ जो गुप्त-काल में विकसित हुआ। धीरे-धीरे ईंटों को गारे में लगाकर खम्भे व दीवालें बनाई गईं जो विहारों में अब भी मिलती हैं। श्री एरियन (Shri Arrian) ने लिखा है कि शहर नगर-नदियों के किनारे या घाटियों में बसाये जाते थे। यह वर्णन मेगस्थनीज के वर्णन के साथ भी साम्य रखता है तथा पाटलिपुत्र के लकड़ी के बने बाड़ों (Palisades) एवं श्रावस्ती, भीटा और अन्य नगरों के वर्णनों से भी मिलता-जुलता है। भट्टी में पकी हुई (Kiln-burnt) ईंटें मौर्य-काल में कम मिलती हैं।

अशोक-कालीन सारनाथ में बने भवनों से भी ईंटों का प्रयोग कम है। कुम्भकार कला की वस्तुएँ मेसोपोटामिया, पंजाब और उत्तर-पश्चिम में अधिक मिलती हैं। मिन्टगोमरी जिले की हड़प्पा की खुदाई इस बात में प्रमाण है कि उन दिनों ईंट के मकान अधिक बनते थे।

वहाँ ईंटों की दीवालों पर भी चित्रों में कथाएँ अंकित हैं। मौर्य-काल के उत्थान के साथ-साथ भवन-निर्माण कला का विकास हुआ। श्री फर्ग्युसन के कथनानुसार भारतीय कला का इतिहास भग्नावशेषों में लिखा है। तत्कालीन स्मारकों के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएँ हैं किन्तु उनका संशोधन सम्भव है। वे स्मारक वीरगति-प्राप्त वीरों की प्रशंसा को अतिशयोक्ति पूर्ण बनाते हैं। सम्राट् सिकन्दर व सम्राट् आर्थर की जो दशा हुई वही अशोक की भी। इनके विषय में अनेक दन्तकथाएँ प्रसिद्ध हुईं जो इनसे सम्बद्ध न थीं। केवल ईंटों के मकानों के अतिरिक्त अनेक उपेक्षित स्तम्भ तथा अशोक-निर्मित उत्तर भारत के स्तूप, पटना में बना सोलह खम्भों वाला हॉल, शिलाओं से बनाई गई छतें, बिहार की "बड़ाबड़" नामक पहाड़ी पर शिला को काटकर बनाये गए मन्दिर, सारनाथ में बने लोहे के सींकचे, बुद्ध गया के मन्दिर के अन्दर बनी गद्दी, साँची और सारनाथ के स्तूपों की छतरियाँ, कलकत्ता और मथुरा के अद्भुतालय में रक्खी हुई पत्थर की तीन प्रतिमाएँ कला की प्राचीनता की द्योतक हैं। इनमें से बारह स्मारक अशोक ने बनवाये थे और तीन स्मारक उसके उत्तराधिकारी दशरथ ने। इनकी प्राचीनता इनके निर्माण के ढंग से तथा इन पर उत्कीर्ण शिला-लेखों से तथा उन पत्थरों पर की गई पॉलिश से सिद्ध है तथा टाँकी (Chisel) के कटाव से भी यह सिद्ध है कि ये प्रतिमाएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। उन गुफाओं के निर्माण से जो पहाड़ों की चट्टानों को काटकर बनाई गई हैं यह सिद्ध होता है कि वे चट्टानें चुनार की पत्थर की खान से निष्कासित थीं। पत्थर के बने भवन अति प्राचीन हैं। खम्भे और लाटें जिनकी चोटियों पर लोहे का घेरा लगा है एवं घण्टे के आकार के शिखर भी अद्भुत प्रस्तर-कला के नमूने हैं। अनेक सुरक्षित वस्तुओं में से "लौरिया नन्दनगढ़" का शेर तथा उत्कीर्ण हंसों की पंक्तियों वाला शिखर है। वे हंस-पंक्तियाँ बुद्ध के शिष्यों के रूप में दिखाई गई हैं। कहीं-कहीं पर केवल एक ही शेर है और उनके बीच में कोई भी धार्मिक चिन्ह नहीं हैं केवल कोई हाथी या साँड बना दिये गये है जो कि एक-दूसरे

से पीठ मिलाये खड़े हैं। कहीं-कहीं पर शहद की मक्खियों का छत्ता या कमल भी बना है जिसके साथ चक्र भी है। बुद्ध गया में आभूषणों का अभाव है और वहाँ की प्रतिमाएँ एक बड़ी शिला में से खोदकर बनाई गई हैं। वहाँ की छतरियों की सादगी भी दर्शनीय है, जिनकी तानों से किरणें निकल रही हैं। बिहार की पहाड़ियों के बने बुद्ध-भिक्षुओं के मकान भी जो आजीविक तपस्वियों के लिये बने थे, प्रस्तर कला के प्रतीक हैं। कुछ भवनों की वक्राकार आकृति है जिन पर काष्ठ का बना काम और पत्थर की पच्चीकारी दृष्टिगत होती है। वहाँ पर एक लोमश ऋषि की गुफा भी है, जिस पर कोई भी लेख अशोक या दशरथ का लिखा नहीं है और अन्दर का भाग अपूर्ण अवस्था में छोड़ दिया गया है—जिससे अनुमान होता है कि इस गुफा का निर्माण दशरथ की राज्य-समाप्ति तक नहीं हो पाया था।

स्मारकों की पत्थर की खुदाई की प्रवीणता और उन पर की गई पॉलिश दोनों में कला की दृष्टि से अन्तर है। पॉलिश हल्की होने पर भी उत्तम है। इसी भाँति की मथुरा के अजायबघर में रक्खी हुई परखम में मिली एक मूर्त्ति है जो सारनाथ के मुख्य भाग (Capital) में रक्खी हुई मूर्त्ति से खराब है। परखम-मूर्त्ति प्रस्तर-कला की Frontality व Trammels के नियमों को तोड़ नहीं सकी है जो कि कलाकारों के दिमाग में थे। सिर तथा Torso (धड़) की रचना ऐसी विभक्त और तिरछी है कि उसके दोनों भाग एक से दिखाई पड़ते हैं। लेकिन उसका चौड़ा पिछला हिस्सा जो कि थोड़े से ढालू (Chamfering) किनारे से जुड़ा है, सिद्ध करता है कि दोनों तरफ का भाग एक साथ नहीं बनाया गया था—एक तरफ के भाग के बनने के बाद दूसरी तरफ का बना। ये रद्दी संगतराशी की प्रचुरता प्रारम्भिक प्रस्तर-कला में पाई जाती है जिसमें सामने का शरीरावयव पृष्ठभाग और पार्श्वभाग को दबा लेता है, तथा कान इस प्रकार के गढ़े जाते हैं कि उनमें कानों के अवयवों का कोई प्रदर्शन नहीं होता। गर्दन भद्दी (Uncouth) होती है और पेट की गोलाई (Rotundity) और पैरों की बेडौल बनावट बड़ी भद्दी नजर आती है।

बॅक्ट्रिया से इस कला के निर्माण का प्रोत्साहन प्राप्त किया। ज्यों-ज्यों हेलेनिज़्म का प्रभाव घटा, मध्य एशिया के steps के अन्य तत्वों ने जड़ जमाई। वह कला भारत में फैली और कुषाण-साम्राज्य के पतन काल तक निरन्तर हिन्दूकुश के दर्रों द्वारा आती रही।

सारनाथ के स्मारकों की रचना का परखम में मिली मूर्त्ति-रचना से बड़ा सादृश्य है। ये दोनों मूर्त्तियाँ भारतीय अल्फा (Alpha) अर्थात् आदि और ओमैगा (Omega) अर्थात् अन्त नाम की कलाओं को निर्दिष्ट करती हैं जिसमें Perso-Hellenic कला की आत्मा काम कर रही है। कलकत्ता के अजायबघर में रखी हुई पटना से मिली हुई मूर्त्ति भी परखम की मूर्त्ति से अनेक दृष्टियों से मेल खाती है जिसमें धड़ (Torso) के निर्माण की विशेषता दिखाई गई है। साँची का शेरों वाला मुख्य द्वार भी सारनाथ के मुख्य द्वार से कलात्मक दृष्टि से तुलना में हीन है। अशोक की कला में भी Perso-Hellenistic धारा ही काम कर रही है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन सब मूर्त्तियों का निर्माण एक ही कारीगर ने किया था। इन विदेशी शिल्पियों की सहायता के लिए भारतीय शिल्पी भी उनका हाथ बटाते रहे। इस समय तक भारतीय शिल्पियों ने भारतीय कला के अनुरूप वैसी कोई भी मूर्त्ति नहीं बनाई थी जैसी मूर्त्ति सारनाथ के मुख्य द्वार पर है।

मौर्य-काल की छोटी-मोटी (Minor) कलाओं में संगतराशों की शिल्प-निपुणता भारतीय और पाश्चात्य कला की विभिन्नता को प्रकट कर रही है।

इस प्रकार देशी (Indigenous) सिक्के जिन्हें 'Punch-Marked' कहा जाता है, बहुत ही भद्दे, भिन्न-भिन्न आकृति वाले हैं और उनके ऊपर जो चित्र बनाये गए हैं वे कलात्मक दृष्टि से कोई आकर्षण नहीं रखते। इसी प्रकार राजा स्वोभूति (Sophytes) के समय के सिक्के सेल्यूकस निकेटर ने जब पंजाब पर आक्रमण किया था, उसके प्रभाव से प्रभावित हैं। Perso-Hellenic art की वस्तुओं के साथ-साथ जो कि बहुतायत से प्रारम्भकालीन खुरदरी Reliefs वाली पाई जाती हैं उन

पर पंखदार चित्र पर्शिया और मैसोपोटामिया के Proto-type हैं।

अभी तक उपलब्ध मौर्यकालीन वस्तुओं में जौहयों (Jewellers) तथा बिसातियों (Lapidaries) की रत्न एवं धातु सम्बन्धी कला बड़ी उन्नत स्थिति को प्राप्त कर चुकी थी। उन शिल्पियों की रुचि उक्त विशेषता वाली (Technical) बुद्धि की प्रखरता को निर्दिष्ट करती है जिससे वे किस प्रकार पत्थरों के टुकड़ों को धातु के बने मूर्त्ति के अवयवों के साथ जोड़ते थे। तक्षशिला में डायोडोटर्स के समय के सोने के या चाँदी के सिक्के मिले हैं, उनसे तथा प्राप्त अमूल्य रत्नों एवं आभूषणों से सिद्ध है कि उन दिनों चाँदी-सोने की वस्तुएँ अधिक बनती थीं।

पत्थर काटने वालों की कला का यत्किञ्चित आभास हरे रत्न (Beryl) की बनी मृतावशेष धारण करने वाली डिब्बियों द्वारा सिद्ध होता है। ये डिब्बियाँ (Caskets) भट्टिप्रोलु (Bhattiprolu) तथा पिप्राहवा (Piprahwa) में मिली हैं तथा मौर्य-काल की ही हैं। रत्न-विक्रेताओं की कला भारतीय मनोवृत्ति को आकृष्ट करती रही है जिससे कलात्मक चेष्टाओं (Artistic Motifs) की विभिन्नता व सजावट की सुन्दरता प्रतीत होती है। तब आर्टिस्टों का ठीक-ठीक छानबीन के साथ (Meticulous) विवरण खोजने की ओर झुकाव था जिससे मनुष्य कृतियों का विश्लेषणात्मक शारीरिक अवयवों से सम्बन्धित व्यापार (Anatomical treatment) उन्नत नहीं हो सका। भारत में शुंग-साम्राज्य की वृद्धि के साथ द्वितीय शताब्दी ई० पू० में बैक्ट्रिया के भौगोलिक विकास के साथ-साथ भारतीय कला भी उन्नत हुई। इस समय पाश्चात्य विचारों का प्रवाह पूर्व की ओर हुआ और भारतीय कलाकारों ने इससे प्रेरणा प्राप्त की। इसी समय प्रस्तर-कला का स्थान काष्ठ-कला ने ग्रहण कर लिया और काष्ठकला के चिरस्थायी होने के कारण एवं इस कला की पूर्ण भावाभिव्यक्ति का साधन होने के कारण कलाकार काष्ठ कला की ओर झुके। इस समय के उल्लेख्य स्तूपों में मध्यभारत का भरहुत का स्तूप है जो द्वितीय शताब्दी ई० पू० में बना। इस स्तूप में लकड़ी का काम अधिक है। इस स्तूप का पता १८४३ में श्री० ए० कनिंघम

(Sir A. Cunningham) ने लगाया। स्तूप को गाँववालों ने तोड़-फोड़ कर खराब कर दिया था। उसके तोरण-द्वार (Gateways) और बाड़ें (Railings) स्तूप के मलबे के नीचे दबी मिलीं जो कि आज भी कलकत्ता के संग्रहालय में विद्यमान हैं। इसकी दो बाड़ें थीं। बड़ी बाड़ पत्थर की थी एवं छोटी ईंट की। बाड़ का सिरा मोटा था। पूर्व द्वार २२ फीट ६ इंच ऊँचा था। पत्थरों पर शिल्पियों द्वारा जानवरों के चित्र चित्रित थे। वे चित्र बुद्ध-कथा के सूचक थे। प्रत्येक कथा पर शीर्षक उत्कीर्ण था। नागजातक, माया का स्वप्न, श्रावस्ती और जैत्र-वन जिस वन में पेड़ खड़े थे और मन्दिर बने थे तथा जिस जैत्र-वन की आधी भूमि पर सिक्के बिछे थे, जिन सिक्कों को अनाथपिण्डक बैल-गाड़ी में भरकर ले जा रहा है। इस प्रकार अनेक कथाओं के साथ-साथ यक्ष-यक्षिणी, देवता और नागराज भी अंकित हैं। इस समय चित्र-कला में वृद्धि अवश्य हुई थी किन्तु प्रस्तरों के मध्य में उत्कीर्ण चित्रों में वही त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं जो एक सदी पूर्व के चित्रों में पाई जाती थीं, तथापि प्रस्तर-कला परिपूर्णता को प्राप्त हुई प्रतीत होती है। तोरण के सहारे पर बने हुए छज्जे (Balusters) पर कुछ अभारतीय अक्षर अंकित हैं और खरोष्ठी लिपि तथा ब्राह्मी लिपि के अक्षर भी बाड़ पर खुदे हैं, जिनके लेखक उत्तर-पश्चिम से आये कारीगर थे। उन्होंने उक्त उत्तम चित्रों को बनाया क्योंकि स्थानीय शिल्पी, जो मध्यभारत के निवासी थे, इस कार्य में निपुण न थे। इस बात की पुष्टि बेस नगर (Besnagar), जो भेलसा (विदिशा) के निकट है, पर खड़े हुए गरुड़ स्तम्भ से सिद्ध होती है। उस पर लिखा है कि "तक्षशिला के रहने वाले राजा अण्टिआलसिडस (Antialcidas) के दूत और मूलतः ग्रीस निवासी हेलिओडोरस (Heliodorus) ने बनवाकर यह स्तम्भ भगवान् वासुदेव को अर्पण किया।" इससे सिद्ध होता है कि यूनान-निवासियों का राज्य भारत की तक्षशिला पर भी था एवं ग्रीक यहाँ रहते भी थे।

इस प्रकार भारतीय कला का एक नवीन प्रकार बुद्ध गया में खड़े

चढ़ाव-उतार वाले (Promenade) चक्रम के खम्भे के उत्तरीय भाग में लगी बाड़ से प्रकट होता है। यह बाड़ चौकोर (Quadrangular) १४५ फीट लम्बी व १०८ फीट ऊँची है तथा कई दृष्टियों से भरहुत की बाड़ के समान है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाले व्यक्ति को देखने से यह प्रतीत हो जाता है कि बुद्ध गया की बाड़ से भरहुत की बाड़ उत्तम नहीं है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय शिल्पियों ने इस मिश्रित (Hybrid) कला को पश्चिम एशिया के ग्रीक, सिथिक (Scythic), पर्शियन और मैसोपोटामियन शिल्पियों से सीखा था। इस प्रकार यह मिश्रित शिल्प भरहुत के शिल्प से बढ़ गया है। बुद्ध गया के स्तूपों का निर्माण प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुआ था। इसकी पुष्टि बाड़ के खम्भों से होती है जो कि खम्भे इन्द्रमित्र एवं ब्रह्ममित्र की पत्नियों ने भेंट में दिये थे। इन दोनों राजाओं के सिक्के उत्तर भारत में मिले हैं। ये राजा शुङ्ग वंश से सम्बद्ध थे या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु सिक्कों पर अंकित इनके चित्रों एवं लेखों से सिद्ध है कि ये प्रथम शताब्दी ई० पू० से पहले के न थे।

साँची के स्तूप (Sanchi Stupas)

साँची के स्तूपों के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि उसके चार द्वार हैं, पाँचवाँ द्वार सहायक द्वार के सामने स्थित है। उस स्तूप का अंतिम निर्माण अशोक ने किया जो कि दक्षिण द्वार पर शेरों की मूर्ति का बना था। वर्षों की वृद्धि के साथ स्तूपों पर मलबा चढ़ता गया तथा उन पर पर्तें भी लगती गईं। इस प्रकार स्तूप का अन्तिम फर्श बहुत ऊँचा हो गया। साँची की पहाड़ी पर बने केवल स्तूप ही उसकी प्राचीनता को सिद्ध नहीं करते किन्तु दक्षिण-पूर्व द्वार पर जो अष्टकोण स्तम्भ है जिस पर ब्राह्मी लिपि में कुछ लिखा हुआ है उससे सिद्ध है कि वह प्रथम शताब्दी ई० पू० का है। स्तम्भ-स्तर मौर्य या शुंग-काल का बना प्रतीत होता है। पहले ये खम्भे लकड़ी के बने थे पर जल जाने के बाद पत्थरों के बनाए गए, इससे भी इन स्तूपों की प्राचीनता सिद्ध होती है। बाड़

के पत्थरों पर अनेक प्रकार के चित्र अंकित हैं। चित्रों के देखने से प्रतीत होता है कि जो पहले की खुदाई थी वह कुछ भद्दी थी तथा बाद की खुदाई छेनियों (Chisels) से उत्तम प्रकार की गई है। द्वारों में सर्वप्रथम दक्षिण-द्वार की रचना हुई, तदनन्तर क्रमशः उत्तर, पूर्व और पश्चिम के द्वार बने। ये चारों द्वार एक ही प्रकार के हैं। आश्चर्य की बात यही है कि पत्थर का यह काम दो हजार वर्ष के बाद भी ज्यों-का-त्यों वर्तमान है। हाथी व शेर पीठ मिलाये खड़े हैं जैसा कि पर्सिपोलिस कला में होता आया है। मनुष्यों और स्त्रियों के, हाथियों या अश्वारोहियों के तथा सिंहों के चित्र भी उत्कीर्ण चित्रों के बीच-बीच में या सिरे पर अंकित हैं। इन चित्रों के ऊपर आधिपत्य तो चक्र का ही है जो कि त्रिशूल व अनुयायी व्यक्तियों से समन्वित है। जातक-कथाओं के दृश्य तथा बुद्ध-जीवन की विशेष घटनाएँ, शाक्य मुनि का पवित्र प्रतीक बोधि-वृक्ष और स्तूप भी इनमें बने हैं। काल्पनिक पशु-पक्षियों के चित्र भी अंकित हैं। कुछ ऐसे भी नाम लिखे हैं जो धर्मात्माओं और दानदाताओं के हैं। कुछ ऐसे चिह्न हैं जिनके द्वारा बुद्ध कथा की ओर संकेत किया जाता है—जैसे वृक्ष हाथी आदि। इन बातों का पता भरहुत के चित्रों पर चित्रित नामों से लगता है जिनको चित्र खोदने वाले नक्काशों ने लिखा है। वस्तुतः वे सब ही शिल्पी धन्यवाद के पात्र हैं। प्रोफ़ेसर ए० फाउचर (A. Foucher) और प्रो० ग्रनवेडेल (Grunwedel) ने जो इसकी व्याख्या की है उस व्याख्या के लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं, अन्यथा इन अर्थों का ज्ञान होना कठिन था। दक्षिण भारत में स्थित खम्भे पर छः Panels हैं जिनको बुद्ध सम्प्रदाय में षड् देवलोक माना गया है। बाईं तरफ़ बिम्बसार का चित्र है जो अपने मुसाहिबों (Attendants) के साथ बुद्ध के दर्शन के लिए राजगृह से जा रहा है। वहीं "नैरंजना" नाम की नदी भी अंकित है जिसमें बाढ़ आ रही है और काश्यप, बुद्ध को बचाने के लिए उस नदी में चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। नीचे के हिस्से में बुद्ध का नदी के पानी पर चलना दिखाया गया है और उनके सामने काश्यप अपने शिष्यों सहित उनको प्रणाम कर रहे हैं। तीसरी श्रेणि (Panel) में

अशोक निर्मित बुद्ध गया का मन्दिर है। तदनन्तर बुद्ध को एक मंदिर में बैठा हुआ दिखाया गया है। लिन्टिल धातु (Lintel) के बने हुये चित्र बहुत स्पष्ट हैं। एक संगीतज्ञों का समुदाय तथा एक जलपात्र हाथ में लिए हुए भक्तों का जमघट तथा एक तरफ राजकीय पुरुषों की पंक्ति, राजा और रानी, हाथी से उतरते हुए और पेड़ के नीचे पूजा करते हुए दिखाये गए हैं। ये राजा-रानी अशोक और तिष्यरक्षिता हैं। आगे चलकर बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण (Departure) दिखाया गया है। बाईं ओर नगर का चित्र है जिसके चारों ओर खाई खुदी हुई है, "कण्ठक" नाम का बुद्ध का घोड़ा खड़ा है जिसके खुरों को यक्ष सँभाले हुए है। बाईं तरफ बुद्ध का अश्वरक्षक "छन्दक" खड़ा है जो छाता सँभाले हुए है और बुद्ध के ऊपर उसे ताने हुए है।

जबसे ये चित्र बने तब से अनेक चित्रकारों ने इसमें योग दिया। फिर भी वे भद्दे नहीं लगते। दक्षिण द्वार पर बहुत ही अद्भुत चित्र-निर्माण-कला का प्रदर्शन है जो कि ब्रुश और पेन्सिल से बनाई गई है। मथुरा के कुषाण-राज्य से पूर्व शिला-लेखों की अपेक्षा ये अत्यन्त शिक्षापूर्ण हैं। इनके सामने भरहुत के शिलालेख निम्न श्रेणी के प्रतीत होते हैं। भरहुत की बाड़ पर साँचे में ढली चित्रवाली तोरण कला में ये अपना सानी नहीं रखते। मथुरा और उत्तर-पश्चिम की कला का सामंजस्य जैन आयागपीठ या आयागपय (Votive tablet) जो कि "लोन सोमिका" की है, विशेषतया दर्शनीय है। "आमोहिनी" नाम की स्त्री के द्वारा जो कि सौदास नाम के राजा के समय में थी—एक इसी प्रकार का पीठ बनवाया गया है जो कि (Christian) काल के आरम्भ में बनाया हुआ प्रतीत होता है। जहाँ-जहाँ पर स्तूप बनाए गए वहाँ-वहाँ पर साधु तथा साधुनियों के रहने के लिए Chapels या चैत्य भी बनाए गए जिनके सामने चौकोर उपवन भी होता था तथा कोनों पर एक मकान बना होता था जिसके नीचे भूगर्भ गृह भी बनाया जाता जा। ये प्रायः ईंटों के बनते थे। ऐसे आश्रम (Monastary) पिप्राह्व के स्तूप के समीप विशेषतया उपलब्ध होते हैं। इनमें लकड़ी

और पत्थर दोनों का उपयोग किया गया है। चैत्य क्रिश्चियन गिरिजा-घर (Basilicas) के जैसे ही बनते थे। सांची तथा भोपाल राज्य स्थित सोनारी (Sonari) के स्तूप क्रिश्चियन काल से भी प्राचीन हैं। इन चैत्यों का धरातल सीढ़ियों से चढ़ने लायक ऊँचा होता था तथा शिलाओं को काटकर बनाए गए पाश्चात्य भारत के चैत्यों के जैसी आकृति का बनाया जाता था।

जैनों तथा बौद्धों ने अपने-अपने चैत्यों को शिलाओं को काटकर बनाने का बड़ा प्रयास किया। इस प्रकार से मकानों को बनाने की प्रथा मिश्र में छठी शताब्दी ई० पू० से थी तथा फ़ारस में भी यही नीति अपनाई गई। डेरियस (Darias) तथा उसके उत्तराधिकारी अकेमीनियन (Achae-menian) की कब्रें नक्शे रुस्तम (Naksh-i-Rustam) और पर्सिपो-लिस की चट्टानों को खोदकर बनाई गईं। वहां से भरहुत में पहाड़ों को और बिहार में पत्थरों को खोदकर गुफाएँ बनाने की पद्धति प्रचलित हुई। लकड़ी का काम भी पत्थर पर होने लगा। यह दोनों लकड़ी व पत्थर के काम इस प्रकार चले कि जिससे खम्भे मजबूती के स्थान पर कमजोर होते गये। इस प्रकार आधुनिक भवनों का निर्माण स्तम्भ-प्रधान था। पत्थरों को काटना फिर उन्हें लकड़ी के चौखटों पर या अन्य प्रकार से ठीक बैठाना काल-साध्य था एवं इसमें परिश्रम भी अधिक लगता था, इस-लिए धीरे-धीरे यह हट गया। सीधी-साधी छतें व खम्भे या स्तूप बनने लगे। अतः इस निश्चय पर पहुँचना सरल है कि जितनी ही पुरानी गुफा होगी उतनी ही वह लकड़ी की Proto-type होगी। किन्तु केवल इस सामान्य नियम को ही सब जगह लगाना ठीक न होगा क्योंकि हमें अपवाद भी मिलते हैं तथा अन्य दृष्टिकोणों को भी ध्यान में रखना उचित है। विशेषतः प्लास्टिक के लगाने में, व सजावट के खम्भों के बनाने में जो कि गुफाओं में मिलते हैं उक्त लकड़ी वाला साधारण नियम लागू न होगा।

चैत्यांगण

जो चैत्य सर्वोत्तम हैं उनमें पश्चिमी भारत के भाजा, कोण्डेन

(Kondane) पित्तलखोरा, अजन्ता, विदिशा (Bedsa), नासिक और कार्ली के प्रमुख हैं। ये सब एक से हैं। इनमें से किसी एक का वर्णन अन्य चैत्यों के लिए पर्याप्त होगा। कार्ली का चैत्य-हॉल सबसे बड़ा है तथा कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। यह हाल १२४ फी० ३ इंच लम्बा व ४५ फी० ६ इंच चौड़ा है तथा उसी गिरजाघर की गुम्बज वाली आकृति (Apsidal plan) का बना है जैसे अन्य बनाए गए हैं। चैत्य के कक्ष (Nave) और गैलरी (aisles) के बीच में एक ही श्रेणी में ३७ खम्भे खड़े हैं जो कि गुम्बज (Apse) की गोलाई के चित्र-रहित और अष्टकोणीय आकृति के हैं। शेष १५ खम्भे हॉल या कक्ष (Nave) के दोनों ओर सतह में मोटे, सिरे पर घण्टाकृति वाले तथा चोटी पर घुटने टेके हुए हाथी, घोड़े व शेरों की आकृति वाले हैं जिनकी बगल में आरोही या सईस खड़ा है। इन चित्रों के ऊपर ४५ फी० का गुम्बज (Apse) है जो अर्ध-गोलाकार (Vaulted) छत पर बनाया गया है। Soffit के नीचे नसें उभरी हुई हैं जो पत्थर में नहीं खुदी हैं। किन्तु लकड़ी की बनी हैं। बड़े घेरे (Apsidal) के अन्त में गुम्बज (Vault) समाप्त हो जाता है तथा वहाँ पर गुम्बज की अर्ध-गोलाकृति है। उसके नीचे एक स्तूप है जो कि प्रसिद्ध स्तूपों जैसी आकृति का है, जिस पर एक लकड़ी की छतरी बनी है। हॉल के दरवाजे पर एक पर्दा है जो कि तीन दरवाजों के बाद है तथा एक रास्ता हॉल (Nave) की ओर जाता है शेष दो मार्ग गैलरी (Aisles) की ओर जाते हैं। यह पर्दा खम्भे (Pillars) की छत तक ऊँचा है तथा खुला हुआ भाग घोड़े के खुर जैसी आकृति की खिड़की से घिरा हुआ है। इस खिड़की के द्वारा ही हॉल में प्रकाश पहुँचता है तथा स्तूप व Nave दोनों पर अच्छा प्रकाश है। किन्तु Aisles में अपेक्षाकृत अँधेरा है। हाल के मुख्य द्वार के सामने एक बरसाती (Porch) बनी हुई है जो १५ फीट लम्बी तथा ५८ फीट ऊँची है। उसकी चौड़ाई भी ऊँचाई के बराबर है एवं दो कतारें (Tiers) अष्टकोणाकृति खम्भों की बनी हैं जिनके बीच में एक पत्थर की शिला है जिसमें लकड़ी की खुदी हुई चद्दरें हैं जो कि मुख्यद्वार के फसाद

(Facade) तक लम्बी चली गईं हैं।

भाजा व कोण्डेन के हॉल ६० फीट, अजन्ता के ९६ फीट तथा नासिक के ५५ फीट लम्बे हैं। पित्तलखोरा और अजन्ता के हॉल के खम्भों के मूल में मोटाई नहीं है तथा पार्श्व की Aisles की लकड़ी की छत (Wood ceiling) Coffers से सजी हुई है तथा वे सब तथा उनको सहारा देने वाली ribs पत्थर की बनी हैं, लकड़ी की नहीं। इन सबके सूक्ष्म पर्यवेक्षण से पता चलता है कि भाजा, कोण्डेन और पित्तलखोरा तथा अजन्ता की १०वीं गुफा एक साथ बनी, तथा त्रिदिशा की गुफा तथा अजन्ता की ९वीं गुफा तथा नासिक का चैत्य इसके बाद बने तथा सबके अन्त में कार्ली का हॉल बना।

नासिक का चैत्य और विहार दोनों उसी समय के हैं जबकि आन्ध्रदेश का अधिपति कृष्ण था तथा उसी के समय में उस विहार का निर्माण हुआ है। यह कृष्ण द्वितीय शताब्दी ई० पू० में हुआ था। अतः बाद की चारों गुफाएँ तृतीय शताब्दी ई० पू० की हैं तथा विदिशा की गुफा, पहली या दूसरी शताब्दी के आरम्भिक १० वर्षों में खोदी गई है। नासिक की गुफाएँ १६० वर्ष ई० पू० तथा कार्ली की लगभग ८० वर्ष ई० पू० की हैं। इस धारणा का विरोध भी हो सकता है। क्योंकि उत्कीर्ण कार्य (Epigraphical) और प्लास्टिक का कार्य जो कि कार्ली में पाया जाता है उसमें लिखा है कि इसे वैजयन्ती के सेठ भूपाल तुल्य भूतपाल ने बनवाया था। यह भूतपाल क्षत्रप नहपा के जामाता उषावदात से प्राचीन नहीं हो सकता तथा वह रचना भी प्रथम शताब्दी से प्राचीन नहीं हो सकती। द्वार पर बना कमल का चित्र व द्वारपाल का चित्र यह सिद्ध करते हैं कि ये द्वार सांची के तोरण काल के ही हैं। अग्नि स्थापन स्थान तथा द्वारों का ऊपरी हिस्सा कार्ली के समय से कुछ प्राचीन प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि भाजा तथा कार्ली की गुफायें प्रथम शताब्दी ई० पू० की हैं। पित्तलखोरा में दरवाजों के ऊपर लक्ष्मी का चित्र बड़ा आकर्षक है। एक वराण्डे (Verandah) में एक रथ खड़ा है जिसमें चार घोड़े जुते हैं तथा एक पुरुष और दो स्त्रियाँ बैठी

हुई हैं। कोचवान बगल में खड़े हैं तथा पहियों के नीचे राक्षसों का चित्र है। इसकी व्याख्या यह की जाती है कि बीच में सूर्य है उसकी उषा और सन्ध्या नाम की दो पत्नियां यहां अङ्कित हैं, किन्तु यह व्याख्या असंगत प्रतीत होती है।

उड़ीसा की उदयगिरि और खण्डगिरि नाम की गुफाएँ पूर्वकालीन गुफाओं जैसी हैं। ये गुफाएँ बौद्धों ने बनवाईं तथा फिर जैनियों को किराये पर या वैसे ही दे दीं क्योंकि जैन-मूर्त्तियां (Statues) भी इनमें उपलब्ध होती हैं। जैन सम्प्रदाय में चैत्य हॉलों (Halls) का होना ही इसमें प्रमाण है जो पहले न होते थे। इस प्रकार की कुल ३५ गुफाएँ हैं जिनमें खण्डगरि की अनन्त गुफा (गुम्फा), रानी गुफा, गणेश गुफा और उदयगिरि की जय-विजय गुफाएँ विशेष दर्शनीय हैं। उदयगरि की हाथी गुफा और मंचपुरी गुफा जिसमें अनेक लेख उत्कीर्ण हैं, विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करती हैं। मंचपुरी को ही वैकुण्ठपुरी या पातालपुरी के नाम से पुकारते हैं। यह दुमंजिल है। नीचे की मंजिल में खम्भे वाला बरामदा है। इसके हॉल को पत्थरों से खोदकर बनाया गया है। ऊपर की मंजिल में वेला की रानी का लेख खुदा है। नीचे की मंजिल (Storey) में भी क्षारवेला के उत्तराधिकारी चन्द्रदेव का लेख उत्कीर्ण है। ऊपर की शिला नीचे से पुरानी है तथा निस्संदेह यह कारीगरी भरहुत की कला से अधिक प्राचीन है। अनन्त गुफा और मंचपुरी दोनों गुफाएँ एक मंजिल की हैं। रानी गुफा दो मंजिल की है तथा नीचे की गुफा ४३ फीट लम्बी है। दोनों मंजिलों में पार्श्व कक्षों (Cells) के मुख्यद्वार (Facades) आयताकार खम्भों (Pilasters) तथा कार्निस की कारीगरी (Friezes) से सुभूषित हैं। इनके शीर्ष (Head) और मध्य भाग (Torso) दर्शनीय हैं जो कि दर्शक की दृष्टि को आकर्षित करते हैं। खुदाई अति प्राचीन प्रतीत होती है। मंचपुरी की ऊपरी मंजिल के दरवाजे पर एक यवन (Yavana) सैनिक का चित्र है। पास ही एक शेर खड़ा है, मालिक भी पास ही खड़ा है। यह चित्र पश्चिम एशिया की कला का प्रतिनिधित्व करता है। गणेश गुफा में कुल दो कक्ष हैं—

एक अगला और दूसरा पिछला। जय-विजय गुफा में खुदाई का सारा वैशिष्ट्य नष्टप्रायः हो गया है। अलकापुरी गुंफा में चित्र बहुत ही भद्दे और अनाकर्षक हैं। जिसका कारण यह है कि उड़ीसा की कला स्वतन्त्र सत्ता रखती थी तथा कला-विषयक रुचि के नष्ट होते ही नष्ट हो गई।

आलेख्य-कला (Art of Painting)

अब आलेख्य-कला और उसकी प्राचीनता पर विचार करना अवशिष्ट रह गया है। प्रत्येक भवन, चाहे वह शिलोत्कीर्ण हो या वैसे बना हो परन्तु Frescoes से अलंकृत अवश्य है। सरगुजा स्टेट में स्थित रामगढ़ पहाड़ी की योगिमारा गुफा के Frescoes अति सुन्दर हैं। इनके चित्रों में रंग भी भरे गये हैं। आलेख्य-कला की अन्तिम-काल कला में उत्कीर्ण खण्ड (Pigments) केवल लाल-काले व गुलाबी रंग ही के न थे किन्तु अनेकों भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र भी थे, जिनमें मछली, मगर आदि जलचर चित्रित थे। चैत्यों की छतें नुकीली होती थीं। इन पर कहीं ब्राह्मी लिपि में कुछ लिखा हुआ भी है। उक्त सब गुफाएँ व खम्भे आदि प्रथम शताब्दी के निर्मित प्रतीत होते हैं। डॉ० ब्लाक (Dr. Bloch) ने उन्हें तृतीय शताब्दी ई० पू० का बतलाया है जो कि ब्राह्मी लिपि के कारण अनुमान किया गया है। पर वह ब्राह्मी लिपि है या नहीं यह अभी तक अनिर्णीत है। इस काल के Terracottas भी उल्लेख्य हैं जिनकी संख्या अपरिमित है। इन पर मनुष्यों तथा पशुओं के figurines बने हुए हैं। यह Terracotta का काम प्रथम व द्वितीय शताब्दी ई०पू० में बढ़ा। इस समय साँचे (Dies) भी मिट्टी की चीजें बनाने के काम में आने लगे थे। भीता (Bhita) का Terracotta एक अद्भुत रचना ही है। साँची के द्वार की कला का यह संक्षिप्त रूप है। विदिशा की हाथी-दाँत की कला दर्शनीय है जो कि Madallion के बने साँचों से पल्लवित हुई। एक ताँबे का लोटा कश्मीर के कुल्लू जिले के गुण्डला (Gundla) नामक स्थान से मिला है जिस पर एक हाथी, एक रथ व सवार का चित्र अंकित है, जिसे लोग गौतम बुद्ध का चित्र कहते हैं। पर

यह सब भारतीय कलाकार की प्रकृति के विरुद्ध ही मालूम पड़ता है।

संक्षेप में इस कला पर असीरिया (Assyria) का प्रभाव पड़ा जबकि सजाने की कला (Grotesque) की अत्यधिकता पसन्द की जाने लगी तथा पश्चिम एशिया की Hellenistic सभ्यता भी खूब फैली।

भारतीय कलाकार प्रतिभाशाली थे जिससे कि वे उस कला का ऊहन कर लेते थे जो कि ग्रीक या पर्शियन कलाकार उन्हें निर्दिष्ट करते थे। इटली का 'सैन्टपाल चर्च' इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है जिसमें भारतीयों ने भी सहयोग दिया है। इस कला का उद्देश्य धर्म को गौरव प्रदान करना था। अतएव बौद्ध तथा जैन कथानकों को कलाकारों ने पाषाणों पर उद्धृत किया जो कि हमारे मानस को अत्यधिक प्रभावित करता है।

भारतीय कला का सिंहावलोकन करते समय हमें Hellenistic और पश्चिमी एशियाई सभ्यता पर दृष्टिपात करना होगा जो कि द्वितीय शताब्दी ई० पू० में फैली तथा अन्ततोगत्वा बौद्ध कला पर जिसका प्रभाव पड़ा। बैक्ट्रिया के राजा डेमेट्रियस (Demetrios) की मृत्यु के ४० वर्ष बाद यह सभ्यता पंजाब की ओर बढ़ी और ग्रीक शासन की नींव इसने जमाई। अफगानिस्तान की पहाड़ियों में भी इसने स्थान प्राप्त किया। इस कला के उपदेश तत्कालीन सिक्के हैं जिन पर ग्रीक व पौराणिक कथाओं के सूचक चित्र बने हैं। इन सिक्कों को बनाने वाले भी मौलिक उद्भावक थे। हिन्दुकुश पर्वत की तराई में इस सभ्यता के फैलने के बाद Attic Standard ने पर्शिया के सिक्कों को जन्म दिया, जिनमें ग्रीक गाथाओं से युक्त द्व्यर्थक चित्र अंकित थे और इस पर्शियन कला के रूप में ग्रीक कला ही रूपान्तर में दिखाई पड़ती है। इन सिक्कों पर Indo-Parthian प्रभाव भी पड़ा। यूरेशियन (Eurasian) ग्रीक सभ्यता अभी तक प्रकाश में नहीं आयी थी किन्तु तक्षशिला और उसके आस-पास के खुदाई के प्रमाणों से सिद्ध है कि Scytho-Parthian के गौरव ने इन्हें भी प्रभावित किया। इस प्रकार इन दिनों के स्तूपों की सजावट Corinthian ढंग की थी, जिसमें भारतीय Motifs भी मिले

थे। पेशावर (पुष्पपुर) के आस-पास पत्थरों की खुदाई में Amorini खेलती हुई दिखाई गई हैं। कहीं पर अंगूरों के एक गुच्छे के लिए बालक अपनी माँ से लेने के लिए प्रयत्न कर रहा है, ऐसा चित्र दिखाया गया है। कहीं पर हीमन (Haemon) अपने पिता क्रिश्रोन (Creon) से अपनी पत्नी के लिए दीर्घायुष्य की प्रार्थना कर रहा है।

Hellenistic सभ्यता का प्रभाव बुद्ध कालीन कला पर पड़ा। इसमें बीमरान (Bimaran) में मिली सोने की डिबिया ही प्रमाणभूत है, जिस पर बुद्ध की प्रतिमा अंकित है। इसी प्रकार खुदे हुए अनेकों रत्न उत्तर-पश्चिम भारत में मिलते हैं जिन पर ब्राह्मी लिपि या खरोष्ठी लिपि या ग्रीक भाषा में कुछ लिखा हुआ है। किसी पर गैंडे की तसवीर है तो किसी पर नग्न पुरुष की, कहीं हाथी की तो कहीं धनुर्धारी ग्रीक योद्धा की। बन्नू जिले के अक्रा (Akra) नाम के स्थान पर पूर्णतया Hellenistic प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। Pale sard (पीली लकड़ी) के ऊपर तक शेर का चित्र है जो कि कला की दृष्टि से बहुत ही उत्तम है। हजारा जिले में कार्नेलियन (Cornelian) नाम की मूर्त्ति है जो कि Aphrodite की चित्रावली है और ग्रीक कहानी से सम्बन्ध रखती है। बुद्धकाल की कला 'गांधार कला' कहलाती है क्योंकि इसका उद्भव कुषाणकाल से प्राचीन काल का है। 'शाह जी की ढेरी' नामक स्तूप से जो डिबिया मिली है उससे इस काल का निर्णय किया जा सकता है जो कि Rococo के अक्षरों से अंकित है और कनिष्क के समय स्तूप में रखी गई थी, इस प्रकार यह गांधार कला उत्तर-पश्चिम में खूब विकसित हुई और इसी के कारण Hellenistic कला का अधिकार भारत पर न हो सका। भारतीय और हेलेनिस्टिक दृष्टिकोणों में बड़ा अन्तर रहा है। ग्रीक कला नीति-प्रधान रही तथा भारतीय कला या गान्धार कला आध्यात्मिकता प्रधान थी। ग्रीक कला बुद्धि-प्रधान थी तो भारतीय कला भाव-प्रधान। जिस समय की यह बात की जा रही है उस समय भारतवासी Chimerical विचारों को न रखते थे। उन पर न इन विचारों का अधिकार था और न वे देवताओं की मूर्त्तियाँ बनाने की ओर प्रवृत्त

ही हुए थे । उनके लिए इन्द्रियों के अन्य सब विषयों से बढ़ कर कला के सौन्दर्य का मूर्त्त प्रकाशन ही एकमात्र विषय था जिसमें चित्रादि को अलंकृत करने का भाव निहित था। भारतीय के लिए कला भाषा विकास का एक माध्यम था जिसके द्वारा वह सीधे सादे शब्दों में अपनी मान्यता के अनुसार कथा या प्राचीन इतिहास को अंकित करता रहा है । भारत ने Hellenistic Art का भी आदर किया क्योंकि भारत सदा से ही कला-प्रेमी रहा है किन्तु इस कला को उसने अपने उपयोग के लिए अपनाया तो अवश्य, तथापि इस कला के हाथ वह बिका नहीं ।

●

पंचम अध्याय

प्राचीन बौद्ध कला[1]

(The Earliest Buddhist Art)

मौर्य और शुङ्ग कला (Maurya and Sunga Art)—३२६ई० पू० सिकन्दर महान् ने पर्शिया पर पूर्ण अधिकार कर लिया और भारत के पश्चिमी भाग पञ्जाब को जीतकर अपने अधीन बनाया। यह विजय चिर स्थायी नहीं रही। सिकन्दर के साथ भारत का, विशेषतया मौर्य-वंश का राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। मौर्य साम्राज्य १८५ ई०-पू० तक रहा। इसकी राजधानी मगध देश में थी, जहाँ पर शाक्य मुनि (बुद्ध) की अनेक जीवन घटनायें घटी हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य और बिन्दुसार मौर्य बौद्ध मत के अनुयायी नहीं थे, किन्तु अशोक प्रियदर्शी मौर्य ने जब बौद्ध धर्म ग्रहण किया और वे राजभिक्षु (Royal Saint) बने तब भारत में एक नई सभ्यता का जन्म हुआ। क्योंकि अशोक का राज्य पश्चिम में काबुल, उत्तर में नेपाल एवं दक्षिण में मैसूर तक था। अशोक ने स्थान-स्थान पर अनेक स्तूप आदि का निर्माण कराया तथा शिलाओं को खुदाकर गुफाएँ बनवाईं। अशोक ने अपनी प्रजा को सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन की विशेषतायें सिखाईं और साधुओं के लिये भिक्षा प्रदान का जनता को महत्व समझाया। मानव और पशु-जगत् के लिये चिकित्सालय खुलवाये। एक शिलालेख में अशोक कहते हैं कि—

"Every man is my child, just as I desire for my children that they may enjoy every kind of prosperity

---

१. Rene Grousset की Ancient India के आधार पर, (देखिए Book II)।

in this world and in the next. Even so do I desire the same thing for all men. I have planted banyan-trees, along the roads so that they may give shade to both men and beasts. I have planted gardens full of mango-trees. I have had reservoir for water".

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य मेरा बच्चा है। जैसे मैं यह चाहता हूँ कि मेरे बच्चे लोक तथा परलोक में सब प्रकार की समृद्धि पावें वैसे ही मैं प्रजा के लिए भी चाहता हूँ। मैंने सड़कों के किनारे बड़ के वृक्ष लगवाए हैं जिससे कि मनुष्यों व पशुओं आदि सब प्राणियों को छाया मिल सके। मैंने आम के पेड़ों से भरे हुए बाग लगवाये हैं तथा पानी के भरे तालाब बनवाये हैं।"

मौर्य कला से प्राग्वर्ती शिल्पी भवन-निर्माण तथा पत्थर की नक्काशी में बड़े निपुण थे। मौर्य काल में पत्थरों का विशेष उपयोग होने लगा। जैसा कि ग्रीक इतिहास-लेखकों ने सिद्ध किया है और अशोक के शिलालेखों से भी सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त, और बिन्दुसार का सिकन्दर और अकीमेनिडस (Achaemenids) के बाद हुए ईरान के बादशाहों के साथ राजनीतिक, व्यापारिक और बौद्धिक सम्बन्ध था। मिस्टर स्पूनर (Spooner) ने अशोक की राजधानी बांकीपुर (पाटलिपुत्र) का पता लगाया। वहां का ८ खम्भों वाला विशाल भवन (hall) डेरियस (Darius) के hall के समान बनाया गया तथा हेलेनिस्टिक प्रभाव इससे दृढ़मूल होता गया। केवल पर्शिया की ही कला का प्रभाव भारत पर नहीं पड़ा अपितु असीरो-बैबिलोनियन (Assyro-Babylonian Art) कला का भी भारत पर प्रभाव पड़ा और बाद में मिश्र की कला (Egyptian Art) का भी प्रभाव पड़ा। अशोक की कला लाट (Column) पर खुदे लेखों से विदित होती है। बनारस के सारनाथ मृगदाव (Deer Park) में मिलने वाले सुन्दर खम्भों से भी इस कला का पता चलता है। सारनाथ, जहाँ पर कि बुद्ध ने सबसे प्रथम उपदेश दिया था, के खम्भे के सिरे पर सोपान के समान चढ़ाव-उतार के साथ एक

सिरा बनाया गया है, जिस पर घंटे के आकार के कमल हैं तथा एक ऐसा चौत्थ (Entabalature) बना है जिस पर एक हाथी, एक दुल्की चलता हुआ घोड़ा, एक कुब्बड़वाला बैल (zebu), एक शेर और एक चक्र खुदा है। इस मन्दिर के सिरे पर तीन शेर बने हैं जो आपस में पीठ मिलाये खड़े हैं।

इसी प्रकार राम पुरवा का शिखर बहुत ही सुन्दर है। उसके खम्भे गोलाकृति कमलों में स्थापित हैं। आकर्षक रूप में उत्कीर्ण Palmette Motives के चारों ओर साँड (zebu) के चित्र खुदे हुए हैं। इसके पास सरोवर पर सिंह बना है। यही सिंह बसाढ (Besarh), बखीरा (Bakhira) और लौरिया नन्दनगढ़ (जिला साँची) के खम्भों पर अंकित है। अन्तिम खम्भे पर हाथी का चित्र अंकित है जैसा कि संकिशा (सांकाश्य) का चित्र फरुखाबाद में है। लुम्बिनी के उपवन में भी हाथी का चित्र है। सहारा देने वाले पत्थर (Abacus) तथा कार्निस के नीचे के पत्थर (Frieze) प्रत्येक खम्भे पर पृथक-पृथक् चित्रित हैं।

श्री रामप्रसाद चन्दा प्रभृति अनेकों विद्वानों का मत है कि अशोक का पिता बिन्दुसार ब्राह्मण धर्म का मानने वाला था। जिसने शिव, विष्णु, दुर्गा और इन्द्र के वाहन वृषभ, गरुड़, सिंह और ऐरावत के चिह्नों को प्रधानता दी है। सारनाथ के सिंह की मांसपेशियाँ, नाक, मुँह आदि (Muscles) और पंजे (Paws) उसी प्रकार के बने हैं जैसे कि खोर्साबाद (Khorsabad) और पर्सिपोलिस की कला में बनाए जाते हैं। जातकों की कवितामय कथाएँ एवं बुद्ध का प्राणी-प्रेम दोनों ने मिलकर इस कला में कुछ कोमलता उत्पन्न कर दी है। जिससे असीरिया का कठोरपन और एकेमेनिडियम कला का रूखापन कम हो गया है। केवल सारनाथ के शिखर पर बनी हाथी की प्रतिमूर्त्ति देखने से उसकी गंभीर चाल, बड़ा डील-डौल, स्पन्दन करती हुई सजीवता और लहराती हुई सूँड़ एलोरा और मालवीपुरम् के सारे कला-विज्ञान को एकत्रित किये हुए है। मौर्य-काल में मनुष्य-चित्रण पशु-चित्रण से बाजी ले गया है।

मथुरा-स्थित परखम से मिला यक्ष का चित्र, कलकत्ते के संग्रहालय में स्थित बेस नगर में मिला यक्षिणी का चित्र, तथा पटना स्थित दीदारगंज से मिला चौरी (Fly-fan) अर्थात् चाँवर वाली स्त्री का चित्र कला में आये एक विशेष परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं। यक्ष की धोती, चाँवरवाली स्त्री का धड़ (Torso), उदर तथा वक्षःस्थल की परिपूर्णता भरहुत और साँची में मिलने वाले स्त्री-सौंदर्य से बढ़कर हैं।

१८५ ई० पू० में मौर्य-साम्राज्य को हटाकर शुङ्ग वंशियों ने मगध का राज्य प्राप्त किया। किन्तु शुङ्ग वंशी गंगा के मैदान में ही राज्य करते रहे तथा पंजाब ग्रीस के हाथ में चला गया। आंध्र देश का शक्तिशाली साम्राज्य दक्षिण में स्थापित हुआ तथा आन्ध्र और शुङ्ग साम्राज्य में अशोक द्वारा प्रवर्तित कला का प्रेम बढ़ता गया तथा बुद्धकालीन कला भाजा (बम्बई के पास मोरघाट में), विदिशा, भरहुत, कार्लो, साँची और अमरावती में खूब पल्लवित हुई। यह कला स्तूप, विहार और चैत्यों के रूप में मिलती है। स्तूप ईंट या पत्थर के बने हैं तथा अर्ध गोलाकृति वाले (Hemispherical) हैं। यह अर्ध गोलाकृति शिखर वेदी (Terrace) पर बनाये गए हैं तथा वे खुले छोटे ऊँचे चबूतरे (Kiosk) हर्मिका (Harmika) के शिखर पर अंकित हैं। थोड़ी-थोड़ी दूर पर वेदिका (Balustrade) या बाड़ (Railing) बनी हुई हैं और तोरण (Porticoes) भी स्थान-स्थान पर बने हैं। स्तूप प्राचीन Tumuli से बनाने की प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं।

विहार साधुओं के निवास-स्थान थे। जिस एक कुटी में साधु रहते थे उसे विहार कहते थे तथा भू-गर्भ गृहों को चैत्य कहने लगे जो कि पहले संघाराम कहलाते थे। सर जॉन मार्शल, भारतीय भूगर्भ अन्वेषण समिति के निर्देशक (Director of the Archaeological Survey of India) और श्री रामप्रसाद चन्दा, कलकत्ता संग्रहालय के निरीक्षक (Superintendent of Calcutta Museum) के मतानुसार ये स्तूपादि द्वितीय शताब्दी ई० पू० में बने। इन स्तूपों पर शुङ्ग वंशी राजाओं के राज्यकाल अङ्कित हैं। प्राचीन स्तूपों के द्वार जो लकड़ी

के बने होते थे, बाद में पत्थर के बना दिये गए। बुद्ध की कला के चित्रों में आकर्षक सरलता (Naivete) और सही बनावट (Fidelity) दोनों ही दर्शनीय हैं। भरहुत में चित्र जातकों के आधार पर हैं और बन्दरों की आकृतियाँ व हाथियों के मस्तक सारनाथ के राजाओं के बुद्धि-वैभव के अनुरूप हैं। शुङ्गवंशी राजाओं की सर्वोच्च कला साँची के पहले नम्बर के स्तूप में दिखाई पड़ती है जो मालवा में भूपाल के पास स्थित है।

साँची का स्तूप शुङ्ग काल का है, यह कहा जाता है। आनन्द और शातकर्णि नाम के आंध्र के राजा ने इसे बनवा कर बौद्ध विहार को प्रदान किया था। यहाँ पर अकेमीनिया (Achacmenid Persia) के आर्ट का प्रभाव पड़ा। यह स्मरण रहे कि साँची के समीप विदिशा में गरुड़-ध्वज को विष्णु की स्मृति में तक्षशिला के निवासी हेलोडोरेस ने (Heliodorus) जो कि एण्टिआलकिडस (Antialkidas) का राजदूत था, बनवाया था। यह सब इसलिए कहा गया है कि जिससे साँची की कला का महत्त्व उतना ही समझा जाय जितना कि असीरिया आदि की कला का। साँची और भरहुत में बुद्ध का निर्देश विशेष संकेतों (Symbols) द्वारा किया गया है। कमल का चित्र जिस पर कि माया बैठी हो या न बैठी हो; उसके चारों ओर हाथी सूँड़ से पानी डालते हों या न डालते हों; बुद्ध के जन्म के सूचक हैं। कभी-कभी केवल कमल ही उक्त भाव का प्रतिनिधि बनाया गया है। अनारूढ़ अश्व बुद्ध की परिव्रज्या का प्रतीक है। राक्षस या वेश्याएँ किसी पेड़ के नीचे खड़ी हुई हों तो वे काम के द्वारा या अन्य लोभादिकों के द्वारा किये गए बुद्ध पर प्रहार के सूचक हैं। पेड़ के नीचे बनी हुई खाली चौकी बुद्ध के सम्बुद्ध होने की परिचायिका है तथा आकाश मार्ग से गमन कपिलवस्तु से प्रस्थान का, स्तूप महानिर्वाण का तथा त्रिशूल (१) बुद्ध, (२) धर्म व (३) सङ्घ नामक तीन रत्नों का निर्देश करते हैं।

अनेक स्तूप अनेक बुद्धों का निर्देश करते हैं। विशेषतया बुद्ध

गया के पवित्र वृक्ष का चिह्न बौद्धों के लिये अमूल्य वस्तु है और बुद्ध की ज्ञान-प्राप्ति को बतलाता है। इसी प्रकार साँची के भिन्न-भिन्न ६ दरवाजों पर भिन्न-भिन्न चरित्र की घटनाओं के निर्देश करने वाले चित्र अङ्कित हैं। मावलीपुरम् में तपस्या करती हुई एक बिल्ली का भी चित्र अङ्कित है। किसी भक्त स्त्री-पुरुष का, जो कि बिल्कुल नंगे हैं, कार्ली के दरवाजे पर चित्र अङ्कित है और वे ही उस दरवाजे के द्वारपाल हैं। बुद्ध गया में Hellenistic कला का प्रभाव मिलता है। वह कला गांधार कला के द्वारा भारतीयता के रूप को धारण कर चुकी है। अजन्ता और मथुरा के निकट के कार्ली के कॉर्निस के नीचे के पत्थरों (Freiges) में भी यही कला अङ्कित प्रतीत होती है।

बौद्ध-यूनानी कला
(Greeco-Buddhist Art)

बुद्ध के बाद कापालिक धर्म चला, जिसे वाम मार्ग कहते हैं। उसे ही अघोर-पंथ भी कहते थे तथा उसी के प्रभाव के कारण मन्दिरों में अश्लील दृश्य अङ्कित किये गए। गांधार-कला पेशावर, नग्राहार (वर्तमान Ningrahar), लम्पाक (वर्तमान Lamghan), कपिशा (कोहस्तान) में फैली। यूनान (Greece) का राजा मिलिन्द अपने शिष्यों को गङ्गा के किनारे तक पहुँचा गया। उसका 'मिलिन्द-पन्हो' (मिलिन्द-प्रश्न) नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध है। १३५ ई० पू० में ग्रीक लोगों को बैक्ट्रिया से भगाया गया। उन्होंने पंजाब में आकर अपना डेरा जमाया। राजा कनिष्क के चरित्रों से बौद्धों के ग्रन्थ भरे पड़े हैं। इसका चित्र 'शाहजी की ढेरी' नामक पेशावर के निकट स्थान पर मिला है। एक अग्निशाला भी वहाँ मिली है। इस प्रकार (Greco-Buddhist School) गांधार-कला में प्रविष्ट हो गया है।

बुद्ध की स्त्री गोपा (Gopa) को रोमन वेश पहनाया गया है तथा Asiatic माधुर्य और गम्भीरताएँ भी मिश्रित की गई हैं। बुद्ध का प्रिय घोड़ा कण्ठक भी इसी प्रकार अङ्कित किया गया है। बुद्ध और Appolo

में बहुत कुछ सादृश्य है। वह एक भारतीय Appolo ही है। शाक्यमुनि के ६ पूर्वज भी बुद्ध के अनुयायी हुए। बाद के व्यक्ति बुद्ध मैत्रेय कहलाये। बुद्ध के अनुयायी कुषाण राजाओं ने पंजाबी-अवधी के वेश को अपनाया। वे उठी हुई पगड़ी बाँधते थे तथा धोती से दाहिना हाथ नहीं ढकते थे। राजपुत्र सिद्धार्थ के चित्रों में गले में रत्नहार, पैरों में कड़े और कोहनी से ऊपर तक चूड़ियाँ पहना दी गईं है। ग्रीक-पिशाचों के समान यक्षों या राक्षसों के दाढ़ियाँ भी दिखाई गई हैं। वज्रपाणि का चित्र जिसमें वह हाथ में वज्र लिये हुए है Zeus के अनुसार बनाया गया है। साँपिनी को पंजे में या मुख में पकड़े हुए गरुड़ का चित्र सिकन्दर के काल में शिल्पियों के भावानुसार Ganymede का चित्र है जो कि Zeus के बाज के समान है। 'ललित विस्तर' में वर्णित भावानुसार भी बुद्ध के अनेकों चित्र मिलते हैं। साँची के चित्रों में गुप्त और पॉल-काल का प्रभाव है। अफगानिस्तान के हाड़ा नाम के स्थान से प्राप्त हुई मूर्त्तियाँ १९२४ में म्यूसीगुमिट (Musee Guimet) नामक स्थान पर रख दी गई। इनमें श्रावस्ती की अद्‌भुत घटनायें भी अङ्कित हैं। इस प्रकार यह विदित होता है कि गान्धार-कला बुद्ध-यूनानी-कला और रोम-यूनानी-कला के साथ-साथ बढ़ी तथा आँगस्टस (Augustus) के काल से टेट्रार्की (Tetrarchy) तक चली आई। Stucco (दिवाल का एक प्लास्टर) के चित्रों ने अपना एक नया ही विचार दिया जिसे हाड़ा जिले के जलालाबाद नामक स्थान से मोन्सीयोर जीडार्ड (Monsieur Godard) और मोंसीयोर बर्थिक्स (Monsieur Barthoux) ने खोज करके निकाला। काबुल में Hellenic कला तीसरी से पाँचवी शताब्दी तक फैली यह मोन्सीयोर हैकिन (Monsieur Hackin) का मत है जो कि हाड़ा के Stucco चित्रों पर आधारित है। हम अफगानिस्ताम की खुदाई की मूर्त्तियों से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि बौद्धकला मध्य-एशिया के किनारे तक पहुँची हुई थी। बैक्ट्रिया के एक देश सेसोइयन (Sasanian) को राजा अर्डेशर (Ardashir) के द्वारा २३० ई० पू० में जीत लिया गया था। Ephthalite हूणों ने भी इस

देश पर आक्रमण किया, पर उनको खुसरो (Khosrau) नाम के राजा ने हरा दिया। अमरावती की कला बहुत काल तक स्थिर रही। गोदावरी और कृष्णा नदी के किनारे इसका विस्तार हुआ। इसे हम भारतीय कला के नाम से पुकार सकते हैं। मद्रास संग्रहालय (Museum) में ऐसे अनेकों चित्र हैं जो भरहुत, साँची और म्यूसीगुमिट (Musee-Guimet) से सादृश्य रखते हैं। इस कला को उत्तरीय भारत की कला ने प्रभावित किया। कामदेव के द्वारा सिद्धार्थ के प्रलोभन के चित्र जिसमें अनेक नग्न स्त्रियों के द्वारा बुद्ध को अनेक प्रकार से प्रलोभित किया जा रहा है, की तुलना साँची के यक्षिणी के चित्र से की जा सकती है। एक स्थान पर सोती हुई स्त्रियों के चित्र हैं और वे चित्र छेनी (Chisel) के द्वारा बनाये गए हैं। अमरावती की कला पत्थरों के ऊपर खोदकर दिखाई गई कला है। मद्रास म्यूजियम में एक ऐसा चित्र है, जिसमें धोखा देकर देवदत्त ने एक जंगली हाथी को बुद्ध पर छोड़ दिया है जो कि उनके सामने जाकर शान्त भाव से खड़ा हो गया है। एहोल (Aihole) और मावलीपुरम् तथा साँची और अमरावती में जो चित्र मिलते हैं उनमें अधिकतया जातक कथाएँ उत्कीर्ण हैं।

गुप्त काल की कला गंगा-यमुना के बीच विस्तृत हुई। इस कला में अमरावती का प्लास्टिक ट्रेडीशन (परम्परा) और उसका सौन्दर्य और मथुरा की Lush Sensuality दोनों मिलकर के काम करती थीं। आध्यात्मिकता अमरावती के आर्ट में नहीं दिखाई पड़ती। गुप्तकालिक कलाकारों ने भारतीय कला को सौन्दर्य प्रदान किया है। गुप्त काल में एक नई कला Plastic Convention का जन्म हुआ। भारतीय वेशभूषा में ही नहीं किन्तु Subtropical जीवन में भी यह प्रतीत होने लगी। शरीर पर मलमल के पारदर्शी कपड़े और उनकी पोशाकें पसन्द की गईं। शरीर पर वे ऐसे चिपके रहे जैसा गीला कपड़ा। यह undulations धीरे-धीरे उड़ने लगा और किनारीदार धोतियों तथा अन्य कपड़ों ने उनका स्थान ले लिया। पत्थर की नक्काशी में कोमलता और चिकनाहट दिखाई

पड़ी। पशुओं के खुर और चमड़े सजावट के काम में लाए जाने लगे। यह प्रथा बंगाल की Paul कला तक विस्तार पा गई।

पान खाने का रिवाज भी इन्हीं दिनों चला। आँखों की भौंहें धनुष या नीम की पत्ती के समान तिरछी अच्छी मानी जाने लगीं। स्त्रियों की आँखें खञ्जन पक्षी के तथा दृष्टि हरिण के समान होने पर ही अच्छी मानी जाती थी तथा आँखों के दिव्यत्व को कमल से उपमा दी जाने लगी। नाक तिलकुसम (Sesame- Flower) के समान, ओंठ कोमल और लाल बिम्ब-फल के समान, गर्दन शंख के समान और शरीर की कोमलता गाय के Mussle के समान तथा हाथों की लम्बाई बरगद वृक्ष की Bol के समान, अँगुलियाँ Bean-pod के समान, हाथ और पैरों के पंजे कमल के फूल के समान सुन्दर माने जाने लगे। चित्रणावस्था में बायें पैर पर दायाँ पैर चढ़ा रहता था। अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने भारतीय चित्रकला को गुप्त काल में पुष्प सौन्दर्य, वृक्ष या पशु सौन्दर्य-अनुकरण प्रधान कहा है। दश वर्ष तक यह प्रवृत्ति बढ़ती रही। इस प्रकार शरीर-चित्र के निर्माण में एक लय-पूर्ण भावना काम करती रही। इस समय मिश्रित, लचीली, सरल एवं सामान्य कला ने जन्म पाया। कला का वह नग्न स्वरूप प्रकट हुआ जो साँची के Naively pagan Art और दक्षिणापथ की भावनात्मक कला का प्रसार-काल था, अब भारतीय कला उच्च शिखर तक पहुँच चुकी थी। सारनाथ में बुद्ध की मूर्त्ति जो धर्म-चर्क-प्रवर्तन मुद्रा में है, जिसकी ऊँचाई ५४ इञ्च की है तथा जमनापुर से मिली हुई बुद्ध की खड़ी मूर्त्ति कला से भिन्न होने पर भी ऊँचाई में समान हैं। सारनाथ की मूर्त्ति जो आजकल Birmingham Museum में है, वह भी मलमल के कपड़े पहने हुए है। आकृति पर शान्ति है, भावों में गम्भीरता है। पाँचवीं शताब्दी में असंग और वसु-बन्धु के चित्र आदर्शभूत हैं। लंका, सुदूर भारत तथा मलय द्वीप समूह में भी अमरावती तथा गुप्त काल के सदृश ही चित्र हैं। अभी हाल में यह पता लगा है कि बुद्ध का जो चित्र मद्रास के अजायबघर में है वैसा ही एक चित्र इस स्थान में भी है जिसमें वे चोगा पहने हुए हैं और

उनके घुंघराले बाल हैं जैसा कि गुप्तकाल में होता आया है। चम्पा में भी इसी प्रकार की नक्काशी है, जो डोंग-डुग (Dong-Du'o'ng) में भी पायी जाती है। Monsieur Hocart का कहना है कि लंका में पत्थर की शिल्पकला अमरावती की शिल्पकला के अनुकरण से बनाई गई। अनुराधापुरम् की त्रिकोयाली सड़क पर जो चित्र मिला है वह बुद्ध भगवान् का है और चम्पा से मिलता-जुलता है। लंका में भी गुप्त-साम्राज्य का असर पहुँचा। कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है कि १९वीं सदी के अन्त में सिंघल देश के कलाकारों ने बड़ी करामात दिखाई है।

अनुराधापुरम् में प्राप्त ध्यान-मुद्रा चित्र की तथा संगमरमर के और साधारण बने हुए चित्रों की श्री ए० कुमार स्वामी ने बड़ी प्रशंसा की है। सिंहली कला में पत्थर के अद्भुतत चित्र बनाये गए जिनमें Potgul-Vihare, जिसे प्रथम पराक्रम बाहु की प्रस्तर मूर्त्ति भी कहा जाता है, बड़ी आश्चर्यजनक कला को उपस्थित करती है।

गुप्त कला के बाद पॉल (Paul)-कला ने विस्तार पाया, जिसमें पद्मासन लगाये हुए (Lotus throne) बुद्ध का चित्र है। इसी प्रकार वीरासन और योगासन के भी चित्र हैं तथा ललितासन या सुखासन जिस में टाँगें झुकी हुईं तथा दाहिना घुटना उठा हुआ और दूसरी टाँग लटकती हुई रहती है, तथा एक महाराज बुद्ध का लीलासन चित्र जिसमें बाईं टाँग झुकी हुई तथा दाहिना घुटना उठा हुआ और उस पर दाहिनी भुजा रखी हुई है, व दाहिना हाथ घुटने से लटकता हुआ दिखलाया गया है—ये सब उत्कृष्ट कला के नमूने हैं।

मथुरा के चित्रों में बुद्ध खड़े हुए हैं जैसे कि सुल्तान गंज के Birmingham में रखे हुए चित्र में हैं, इसमें नितम्ब का मध्य भाग कुछ तिरछा है जिसे हम समभंग कह सकते हैं। कहीं पर त्रिभंग और अभंग की भी मूर्त्ति मिलती है। हस्त मुद्राओं वाली मूर्त्तियाँ जिनमें दान देने के लिए वरदा मुद्रा, अभयदान देने के लिए अभय मुद्रा, जिसमें हथेली बाहर को निकली रहती है, अँगुलियाँ उठी रहती हैं, बहुत ही कोमल कलापूर्ण एवं आध्यात्मिक भावान्वित संघ-नियमानुकूल बुद्ध को चित्रित करती हैं। वितर्क मुद्रा जिसमें अँगूठा और तर्जनी का अग्र भाग मिला

होता है, तथा धर्म-चक्र-प्रवर्तक मुद्रा जिसमें दोनों हाथ पीछे को छाती के पास होते हैं, दाहिने हाथ की हथेली आगे को होती है और उसका अँगूठा व तर्जनी के अग्रभाग मिले रहते हैं, बायें हाथ की हथेली छाती की ओर होती है तथा कनिष्ठिका और मध्यमा दाहिने हाथ की जड़ में रखी होती हैं तथा इसी बायें हाथ का अँगूठा और तर्जनी मिली होती हैं, एवं भूमि-स्पर्श मुद्रा तथा नमस्कार के लिए अञ्जलि मुद्रा, जिसमें दोनों हाथ उठे हुए तथा हथेलियाँ मिली हुई होती हैं—पॉल कला के उत्तम नमूने हैं।

ऐसे चित्र अजन्ता में अधिक मिलते हैं जो कि ईसा की प्रथम शताब्दी में बने, जब कि आंध्र वंश के राजा राज्य करते थे। नवीं और दसवीं गुफाओं के चित्र बहुत पुराने काल के नहीं हैं।

इसके बाद दो शताब्दी बीतने के उपरान्त हम गुप्त कला को देखते हैं जो कि मयूरभंज उड़ीसा की विशेषता है द्रविड़ कला में लिंगोद्भव का चित्र बहुत अद्भुत है। १६वीं और १७वीं गुफा के चित्र गुप्त वंश से सम्बन्धित वाकाटक वंश के राजाओं के समय के बने प्रतीत होते हैं। १५वीं शती में कर्नाटक कला प्रचलित हुई। अमरावती से प्राप्त मद्रास अजायबघर में रक्खा हुआ वैश्वानर जातक का चित्र इस कला का प्रदर्शन करता है। अजन्ता में अनेक प्रेम-वासना को प्रकट करने वाले चित्र भी हैं। उन्नीसवीं गुफा में बुद्ध का कपिलवस्तु के लिए लौटना दिखाया गया है। पहली व दूसरी गुफाओं के चित्र चालुक्य वंश के राजाओं के समय में ६४० ई० पू० से ६५७ ई० पू० तक बने थे।

मञ्जुश्री या अवलोकितेश्वर का चित्र, व जावा में शिवि जातक के अनुसार बनाया गया अपना माँस काटकर तोलने का बुद्ध का चित्र भी इसी सदी के हैं। अजन्ता की पहली गुफा में देव पंजिका अंकित है जिसमें एक भोज (Banquet) दिखाया गया है। Percy Brown के अनुसार हुएनत्साँग के कुछ अनुयायी चीनी यात्री अजन्ता की गुफाओं की ओर से घूमते हुए निकले और उन्होंने इस कला का पता लगाया। कर्नाटक कलाओं में सप्त मातृकाओं का चित्र बड़ा ही उत्कृष्ट है। अम-

रावती के चित्रों में मुर्गों की लड़ाई भी दिखाई गई है, कहीं पर मेष-युद्ध भी चित्रित हैं। नाग-कन्याओं के चित्र भी कहीं देखने में आते हैं, जिनमें ग्रीक-कला का अत्युत्कृष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कामदेव का चित्र पुष्पहार (Exotic Flora) के साथ अंकित है।

भारतीय कला में प्राकृतिकता अधिक पाई जाती है, जिसके कारण पशु-पक्षियों के चित्र निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ी। अजन्ता की स्त्रियों के नग्न चित्र जो अजन्ता की पहले नं० की गुफा में अंकित हैं, वे हिन्दू-स्त्रीत्व का काव्यमय भाषा में प्रदर्शन करते हैं। यहीं पर बुद्ध देव पर कामदेव की चढ़ाई भी दिखाई गई है, जहाँ पर अनेक रहस्यपूर्ण दृश्य भी दिखाई देते हैं, जिनमें अण्डे के आकार के गोल-गोल चेहरे, लम्बी आँखें, प्रेमोन्मत्तता, विरह-दुःखिता आदि भाव दिखाये गए हैं जिन्हें देखने से सॅण्ड्रो बॅटियाली (Sandro Botticelli) नामक देवता की याद आ जाती है।

जहाँ पर कामोत्पत्ति दिखाई गई है वह चित्र इटैलियन कला के Raphael से पूर्व के बने मालूम होते हैं। अजन्ता के चित्रकारों ने Franciscon की कोमलता को मात कर दिया है। इस प्रकार यह चित्र अपूर्व भक्ति भाव वाले और उच्चतम आदर्श प्रकट करने वाले हैं। इसी तरह भारतीय जीवन के Idyllic दृश्य बहुत ही सुखद हैं।

अवलोकितेश्वर में चमकदार काटे हुए सोने का काम कमल और चमेली के फूलों में दिखाई पड़ता है। संक्षेप में अजन्ता की कला साँची की भारतीय प्राकृतिकता से या यथार्थवाद से परिपूर्ण है। जिसमें नवीनता, कोमलता और बुद्धकालीन रहस्यवाद पारस्परिक सामंजस्य के साथ भरा हुआ है जिसके द्वारा भारतीय आत्मा का पूर्ण प्रदर्शन किया गया है। लंका के श्रीगिरि पर्वत-स्थित सिंह-शिला पर लंका के राजा काश्यप का निवास-स्थान बनाया गया है जिसमें शिलाओं पर रंगीन चित्रों का बनाना बड़ी सजधज के साथ हुआ है। ये चित्र अजन्ता की १६वीं गुफा के समकालिक हैं। श्री गिरि में फूल उछालती हुई स्त्रियों के चित्र हैं जोकि कला के नियमों का पूर्णतया उद्भावन करते हैं। ये

स्त्रियाँ लंका के राजा काश्यप की स्त्रियाँ थीं ऐसा Percy Brown का मत है किन्तु कुमार स्वामी इन्हें अप्सरायें कहते हैं।

बुद्धकालिक चित्रकारी का अंतिम स्थान "बाघ गुफा" है जो कि ग्वालियर राज्य में बनी है तथा अजन्ता से ८३५ मील दूर है। इसका निर्माण ७वीं शती के बाद हुआ है, तथा जो अजन्ता की पहले और दूसरे नम्बर की गुफाओं से सादृश्य रखती हैं। यहां पर घुड़ सवारों की और राज्य के हाथियों की शोभायात्रायें दिखाई गई हैं जो कि अजन्ता में नहीं मिलती हैं। इन चित्रों में संगीतमय नाटकों और नृत्यों जिनका कि नाम "हल्लीमक" है प्रदर्शन किया गया है। यह पूर्णतया साँची कला के प्रभाव को व्यक्त करते हैं तथा "बाघ गुफा" में अंकित Frescoes में ये नृत्य अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इस समय बुद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था, और हिन्दू धर्म विकास के मार्ग पर अग्रसर था।

कौन मन्दिर कहाँ है ?

मध्य प्रदेश— भोजपुर में महादेव का मन्दिर, बिजामण्डल (विदिशा आधुनिक भेलसा) में परमार-कालीन मन्दिर, ग्यारसपुर में मालादेवी का मन्दिर, उदयपुर में नीलकंठेश्वर का मन्दिर, और ग्वालियर के किले में स्थित सास-बहू (सहस्रबाहु) का मन्दिर तथा तेली का मन्दिर ६वीं से १२वीं शताब्दी तक बने हैं। इनके अतिरिक्त भी बड़ोह, पथारी, सुखया, कड़वाह तथा अहरोल में भी प्रसिद्ध मन्दिर हैं।

मध्य भारत—साँची, उदयगिरि, एरन और टिगोवा में गुप्तकालीन मन्दिर हैं। *बिहार* में नालन्दा, छत्तीसगढ़ में सिरपुर, और राजीम में भी गुप्तकालीन मन्दिर हैं। खजुराहो के मन्दिर *बुन्देलखण्ड* में लिखे गये।

गुफा मन्दिर

नल्लोर, गुण्टूर, कृष्णा और त्रिचनापल्ली जिलों में ३० गुफा-मन्दिर हैं। भैरवकोंडा (जिला नुल्लोर) विजयवाड़ा और उण्डुपल्ली के मन्दिर पल्लवों के समय के नहीं हैं।

उड़ीसा के विभिन्न समयों के मन्दिर पर्वतों के मध्य में बने हैं। इनमें

भुवनेश्वर-स्थित रामेश्वर (७५० ई०), मुक्तेश्वर (६५० ई०), लिङ्ग-राज (१००० ई०), मेघेश्वर (१२०० ई०); पुरी का राजरानी और जगन्नाथ (११५० ई०) का मन्दिर तथा कोणार्क-स्थित सूर्यदेवल (१३०० ई०) नामक मन्दिर मुख्य हैं। इनमें से परशुरामेश्वर का शिखर कुछ नाटा और शुण्डाकार है। मन्दिर के आगे का चबूतरा (जगमोहन) दुतल्ला है और ठोस छतों के बीच में रोशनदान हैं। जगन्नाथ (पुरी) का मन्दिर कुछ-कुछ रूप और वास्तु-विन्यास में निम्न श्रेणी का है। यह मन्दिर मूर्त्तिकारी से विशेषतया अलंकृत है।

जोधपुर के पास ओसिया में भी इस काल का एक महत्त्वपूर्ण मन्दिर-समूह है। *पंजाब* के हिमाचल प्रदेश में नागर शिखर वाले मन्दिरों की संख्या पर्याप्त है। *गुजरात* में सबसे प्राचीन रुद्रमाला का मन्दिर था। *काश्मीर* के मन्दिर बालू पत्थर के बने हुए हैं। इनमें लदुव (५-६ शताब्दी), मार्तण्ड और पंजताण (जम्बू) के मन्दिर प्रसिद्ध हैं तथा बांगथ और बुनिथार में तेलिया पत्थर के बने मन्दिर हैं।

भरहुत

शुङ्गकालीन मूर्त्ति-कला में साँची के बाद भरहुत का स्थान है। यह जगह इलाहाबाद और जबलपुर के बीच में नागोद राज्य में है। १८७३ ई० में जनरल कनिंघम ने यहाँ पर एक बड़े बौद्ध-स्तूप का अव-शेष पाया, जिसके तले का व्यास ६८ फुट था। इसके चारों ओर भी पत्थर की बाड़ थी जो अद्‌भुत मूर्त्ति-शिल्प से अलंकृत थी। इसका पत्थर लाल रंग का तथा चुनार-जैसा रवादार है। यहाँ के स्तूप की बाड़ के प्रत्येक अंश पर बौद्ध कलाओं के चित्र, अलंकरण, गोमूत्रिका (बलें), फुल्ले और यक्षिणी तथा देवयोनि के चित्र बने हैं। भरहुत की मूर्त्तियों में लगभग चालीस जातकों के चित्र हैं तथा लगभग आधा दर्जन बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित हैं। यहाँ जानवरों तथा पेड़ों की भी मूर्त्तियाँ हैं। ये मूर्त्तियाँ न होकर पत्थर काटे गये चित्र हैं इसलिये ये चपटी हैं। इन चित्रों में बुद्ध का सर्वत्र अभाव है। बुद्ध के स्थान पर

उनके चरण-चिह्न, पादुका, छत्र व धर्मचक्र आदि बने हैं।

(भारतीय मूर्त्ति-कला—श्री रायकृष्णदास)

भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ

श्री रायकृष्णदास जी ने भारतीय चित्रकला की प्रारम्भिक शैलियों को तीन मुख्य भागों में विभाजित किया है—(१) पाल शैली, (२) अपभ्रंश शैली तथा (३) कश्मीर शैली। १०वीं शताब्दी से आज तक की भारतीय चित्रकला इन्हीं तीन शैलियों का विकसित रूप है।

१—पाल शैली—इस शैली के चित्र ताल-पत्र वाली पोथियों में मिलते हैं। ये चित्र विशेषतया बुद्ध-जीवन-सम्बन्धी अथवा महायान देवी-देवताओं के हैं। ऐसे सभी चित्रों में पाल संवत् या पाल राजाओं का उल्लेख मिलता है इसलिये इसे पाल शैली कहने लगे। इस शैली में अजन्ता की परम्परा विशेषतया पाई जाती है।

२—अपभ्रंश शैली—यह शैली मुख्यतः जैनियों द्वारा अपनाई गई शैली है। इसमें चेहरे का एक ओर का भाग पूरा दीखता है तथा दूसरी ओर की आँख तथा थोड़ा-सा चेहरे का अन्य भाग। चेहरे के दूसरी ओर का अन्य भाग न दिखते हुए आँख के दिखने से ऐसा लगता है मानो आँख अलग से जोड़ दी गई हो। ठुड्डी आम की गुठली के आकार की होती है। अँगुलियाँ अकड़ी हुई व पतली नुकीली हैं। वक्ष उभरा हुआ और पेट पिचका-सा तथा पशु-पक्षी कपड़ों के गुड्डों जैसे। इस शैली में लाल व पीले रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है अन्यथा प्रयुक्त रंगों की संख्या बहुत कम है।

३—कश्मीर शैली—इस शैली का स्वतन्त्र रूप तो समझ में नहीं आता कि कैसा होगा, किन्तु इसका विकसित रूप हम मुग़ल शैली में देखते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि कश्मीरी राजा अपने यहाँ मध्यप्रदेश के शिल्पियों को ले गये थे किन्तु वास्तविकता यही मालूम होती है कि इसका उद्भव काश्मीर में ही हुआ।

उपर्युक्त शैलियों के विकसित रूप

१५वीं शताब्दी के बाद की चित्र-कला-शैली को हम विशेष नाम दे सकते हैं। इसका मुख्य कारण राजनीतिक परिवर्तन ही कहा जा सकता है। १०वीं शती के बाद भारत पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए तथा भारतीयों का अनेक जातियों से सम्बन्ध आया और इस कारण कला में भी मिश्रण हुआ।

पहाड़ी शैली पाल शैली का ही विकसित रूप है। इस शैली का प्रभाव नेपाल व तिब्बत में अधिक है जहाँ से यह चीन तथा जापान पहुँची। अपभ्रंश शैली का विकसित रूप हम राजस्थान शैली में देखते हैं। अपभ्रंश शैली में मुख का आधे से अधिक भाग दिखाया जाता था यहाँ तक कि दूसरी आँख पूरी बनाई जाती थी जबकि राजस्थानी शैली में केवल आधा भाग दिखाई देता है। अपभ्रंश शैली में मुख्यतः लाल व पीले रंग प्रयुक्त किये जाते थे जबकि राजस्थानी में अनेक चटकीले रंग दिये जाते हैं। इस राजस्थानी शैली पर कश्मीर शैली का भी प्रभाव मिलता है। कश्मीर शैली का यथार्थ रूप हम मुगल शैली में पाते हैं। अबुलफ़ज़्ल के वर्णन से पता चलता है कि अकबर ने ख्वाजा से कश्मीर-शैली ग्रहण कराई थी। जहाँगीर स्वयं ही अपनी बेगम को लेकर कश्मीर गया था और वहाँ बाग आदि बनवाये थे। मुगल शैली में प्रयुक्त रंगों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इसमें चेहरे का लगभग पौन हिस्सा दिखाया जाता है।

इसके बाद हम आधुनिक काल पर आते हैं। युग की प्रगति के अनुसार हम कला में भी आश्चर्यजनक प्रगति व परिवर्तन पाते हैं। आज का कलाकार तो "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया" वाली कहावत चरितार्थ कर रहा है। आधुनिक चित्रकारों में सुप्रसिद्ध श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर हैं जिनके प्रभाव से आधुनिक चित्रों की शैली को ठाकुर शैली की संज्ञा दी जा सकती है।

(भारत की चित्रकला—श्री रायकृष्णदास)

●

षष्ठ अध्याय

सातवाहन-युग की कला

महाराष्ट्र और उड़ीसा की लेणें—पहाड़ की चट्टान काट कर चैत्य और विहार बनाने की जो कला मौर्य-युग में चली थी उसका शुङ्ग-सातवाहन युग में बड़ा उत्कर्ष हुआ। उन गुहाओं को उनमें खुदे लेखों में लेण (लयन) या सेलघर (शैलगृह) कहा है। वे महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़ तथा उड़ीसा के पहाड़ों में हैं। मराठी में उन्हें अब भी लेणी तथा उड़ीसा में गुम्फा कहते हैं।

महाराष्ट्र में भाजा, कोंडारा, पितलखोरा, अजिठा (अजंता), बेडसा, नासिक, कार्ली और जुन्नर में वैसी लेणें हैं। ये सब बौद्ध-विहार हैं। इनमें कार्ली वाली प्रायः सबसे पीछे की, लगभग ६५ ई० पू० की हैं। अजंता की केवल २ लेणें—सं० १० और ६—इस युग की हैं, बाकी बाद की। बौद्धों में सामूहिक पूजा की प्रथा थी जोकि जैनों में न थी। इसलिए इन लेणों में उपस्थान (हॉल) बने हैं। कार्ली विहार के दाता श्रेष्ठी भूतपाल का कहना है कि उसका सेलघर जम्बुदिपम्हि उत्तमं—भारत में श्रेष्ठ—था। यह कथन ठीक भी है। आकार में वह किसी बड़े भवन के बराबर है और उसके मुकाबले में अशोक और दशरथ मौर्य की खुदवाई गुफाएँ नमूना मात्र लगती हैं। पर इन बड़ी लेणों की शैली में फूस के छाजनों की अनुकृति है। प्रत्येक लेण एक ही चट्टान में से काटी गई है। कुछ लेणों में मूर्त्तियां भी कटी हैं। भाजा लेण की भीत पर चिपटे उभार में सूर्य और इन्द्र की मूर्त्तियां खुदी हैं। वैसी उभारदार मूर्त्तियां इस युग की विशिष्ट वस्तु हैं।

---

* १ "भारतीय कृष्टि का क ख" के आधार पर।

उड़ीसा के उदयगिरि और खंडगिरि की गुफाएँ जैन मठ हैं। इनमें से खारवेल की बनवाई हुई हाती गुम्फा और उसकी रानी की बनवाई हुई रानी गुम्फा प्रसिद्ध हैं। रानी गुम्फा दो मंजिला है और उसके द्वार पर मूर्त्तियों की एक लम्बी पट्टी है जो पत्थर की होती हुई भी ऐसी लगती हैं जैसे काठ पर बनाई गई हों। छत्तीसगढ़ में सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाएँ पास-पास हैं। सीताबेंगा गुफा एक प्रेक्षागार (नाट्यशाला) थी और जोगीमारा वरुण मन्दिर। जोगीमारा की भीतों पर बने चित्र भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम उपलब्ध नमूने हैं। किसी अनाड़ी चित्रकार ने बाद में उनकी सुन्दर रेखाओं पर भद्दे ढंग से रंग पोत दिया है। अजंता लेण ९-१० में भी चित्र हैं। वेष-भूषा—भारी-भारी आभूषण तथा पुरुषों के मुंडासों के गेंद जैसे फुँदनों—से वे भी इस युग के निश्चित होते हैं।

भरहुत और साँची की वेदिकाएँ और तोरण—भरहुत की वेदिका (बाड़) और तोरण के अवशेष अब कलकत्ता संग्रहालय में हैं। साँची के स्तूप की वेदिका में प्रत्येक दिशा में एक तोरण है। दो और स्तूपों की भी वेदिकाएँ हैं जिनमें से एक में एक तोरण है। भरहुत के तोरण घर "शुङ्गों के राज्य में" बने होने का उल्लेख है। साँची के बड़े स्तूप का दक्षिणी तोरण "राजा श्री सातकर्णि के कारीगर वासिष्ठी पुत्र आनन्द का दान" है—५७ ई० पू० वाले गौतमीपुत्र सातकर्णि के। साँची के प्रत्येक तोरण के बीच तीन आड़ी पाटियाँ हैं जो बीच में कुछ कमानीदार हैं और प्रत्येक खंभे एवं आड़ी पाटियों के सिरे पर सजीव मूर्त्त दृश्य कटे हैं। वेदिकाओं के थम्भों और सूचियों पर भी सुन्दर मूर्तियाँ काटी गई हैं। खम्भों पर चौमुखे हाथी और पाटियों पर यक्षिणियाँ अंकित हैं। मूर्त्त चित्रों में अधिकांश जातक कहानियाँ तथा कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ एवं व्यंग-चित्र अंकित हैं। भरहुत के अनेक दृश्यों के शीर्षक उनके नीचे खुदे हैं। इन मूर्त्तियों की नक्काशी चंदन या हाथीदाँत के नमूने पर हुई है। उन्हें पत्थर पर उभरे या काटे हुए चित्र कहना चाहिए।

मथुरा और अमरावती के कला सम्प्रदाय—आजकल जो दिल्ली का क्षेत्र है वह पहले मथुरा का ही क्षेत्र था जो कनिष्क वंश की राजधानी भी था। उस वंश की छत्रच्छाया में मथुरा में मूर्त्तिकला का एक सम्प्रदाय पनप उठा जिसकी सैकड़ों कृतियाँ आज भी मिलती हैं। इस पर गांधारी शैली का ज़रा भी प्रभाव नहीं। कनिष्क की खंडित मूर्त्ति (ई० पू० १३०) इसी कला की कृति है। इसकी और प्रसिद्ध मूर्त्तियों में एक प्रसाधिका (रानी की शृङ्गार सहायिका) की बड़ी भव्य मूर्त्ति है और एक महाभारत की कहानी के अनुसार ऋष्यशृङ्ग की। एक कुबेर का व्यंग चित्र है, इसकी नकल सीता कांठे द्वारा चीन पहुँची जहाँ आज भी यू-थाई नाम से यह बनती है। भारत के अँग्रेजी पढ़े-लिखे इसे हँसता बुड्ढा कहते हैं।

आंध्र देश के गुंटूर ज़िले में कृष्णा-तट पर अमरावती में पुराना स्तूप था। तीसरी शताब्दी में इसे संगमरमर की चीपों से ढँका गया और इसके चारों ओर संगमरमर की बाड़ बनाई गई जिसे मूर्त्तियों और अलंकरणों से सजाया गया। इसकी कला में कहीं-कहीं रोमी प्रभाव की झलक है।

वाकाटक गुप्त कला

भारतीय कला में ओज और सौन्दर्य का तथा भाव और वास्तविकता का जैसा पूरा मिलन गुप्त-युग में होता है वैसा और कभी नहीं।

भारशिव युग में मन्दिर वास्तु की एक सुन्दर शैली चली जिसमें मन्दिर की छेंकन चौकोर होती, शिखर भी चौकोर तथा ऊपर सँकरा होता जाता। खम्भों में प्रायः खजूर या ताड़ पेड़ का अभिप्राय और द्वारों पर गंगा-यमुना की मूर्त्तियाँ रहतीं। पूर्वी बुन्देलखण्ड के नागौद प्रदेश में भूभरा गाँव के पास इसके नमूने मिले हैं। इन्हीं के पास नचने की तलाई के वाकाटक युग के मन्दिरों में इस शैली के शिखरों का विकसित रूप है जिससे गुप्त युग की शैली का विकास हुआ।

अजन्ता की अधिकतर गुफाएँ वाकाटक युग में काटी गईं। सह्याद्रि

ने अपने उत्तरी छोर से ताप्ती और गोदावरी के बीच एक बाँही बढ़ा दी है जिसके उत्तरी छोर पर जलगांव के दक्खिन अजन्ता का टीला है। उसमें २६ गुफाएँ काटी गई हैं जिनमें कुछ चैत्य हैं तथा कुछ विहार। गुफाएँ और उनमें का सारा मूर्त्ति-शिल्प एक ही शैल में कटा है। बामियां (अफ़ग़ानिस्तान) की गुफाएँ भी जिनमें से एक में ५८ गज ऊँची खण्डित बुद्ध-मूर्त्ति है (ई० पू० १८७) तभी की है और वैसी ही अद्‌भुत।

गुप्त युग की वास्तु का नमूना एरण में समुद्रगुप्त की सम्राज्ञी के बनवाये विष्णु मन्दिर के खण्डहर (ई० पू० १५६) उदयगिरि (भेलसा के समीप) की चन्द्रगुप्त गुहा (ई० पू० १६३), अजन्ता की १६वीं गुफा का द्वार, बनारस के पास सैदपुर-पितरी में स्कन्दगुप्त की हूण-विजय स्मारक लाट (ई० पू० १७०), दशपुर (मन्दसौर) में यशोधर्मा के स्तम्भ (ई० पू० १७८) तथा सबसे बढ़कर महरौली वाली लोहे की कीली (ई० पू० १६५) है जिस पर साढ़े पन्द्रह सौ वर्षों में मोर्चे का नाम नहीं लगा। मथुरा से पाई गई माँ की सुन्दर मूर्त्ति (ई० पू० १८४) दूसरी शताब्दी के मथुरा सम्प्रदाय और गुप्त युग की कृतियों के बीच कड़ी है।

इस युग की मूर्त्तियों और चित्रों में अनूठी सरलता के साथ सभी रसों की पूरी अभिव्यक्ति है। उन्हें देखने से लगता है मानो कारीगर की छेनी या लेखनी से उन्हें अनायास ही रच दिया गया हो। अलंकरण उनमें कम-से-कम हैं। गुप्त-मूर्त्तिकला के नमूनों में सारनाथ और मथुरा (ई० पू० ६६) वाली पत्थर की, सुल्तानगंज (भागलपुर) वाली तांबे की और मीरपुर खास (सिन्ध) के कहू जो दड़ो स्तूप से मिलीं मिट्टी की बौद्ध-मूर्त्तियाँ जो "मनहुँ शांत रस धरे शरीरा" हैं, उदयगिरि की गुहा के बाहर पृथ्वी का उद्धार करती वराह-मूर्त्ति (ई० पू० १६२) से ध्रुव-स्वामिनी का उद्धार करते चन्द्रगुप्त की झलक मिलती है; भेलसा की खुदाई से पाई गई गंगा-मूर्त्ति (ई० पू० १८६) जो स्पष्ट देवी है, ललितपुर के पास देवगढ़ के मन्दिर में नर-नारायण की तपस्या (ई० पू० १८८),

अहल्योद्धार (ई० पू० ३५) आदि के दृश्य तथा राजगृह के मनियार मठ में चूने-मसाले से बनी नागिनी मूर्त्तियां हैं। गुप्त सम्राटों के स्वर्ण सिक्कों पर बनी मूर्त्तियां भी वैसी ही जोरदार हैं।

गुप्त-युग की चित्रकला के नमूने अजंता तथा सिंहल की गुफाओं में हैं। अजन्ता की चार गुफाओं (१, २, १६, १७,) में ही वे अधिक बचे हैं। उनके मुख्य विषय बुद्ध-जीवनी और जातक कथाएँ हैं। इनमें कालिदास के काव्यों की तरह लोक-जीवन के सब पहलू अंकित हैं, सब तरह के पात्र हैं और सब रसों की अभिव्यक्ति है। इनकी रंग-योजना भी बहुत जानदार और विषय के अनुकूल है। पहली गुफा में सूर्य का प्रकाश केवल सन्ध्या वेला में ही थोड़ा सा आता है। १०वीं गुफा में सबसे चतुर चितेरों की कला देखने को मिलती है। बुद्ध के कपिलवस्तु आने पर यशोधरा का उनके सामने राहुल को लाकर भेंट करना एक चित्र में अंकित है। आकाशचारी किन्नरों की गायक मण्डली का प्रसिद्ध चित्र (ई० पू० १८६) भी इसी लेण में है। इसका एक चित्र और विशेष महत्त्व का है जिसमें बुद्ध प्रवचन कर रहे हैं तथा उनके एक ओर नुकीली टोपी वाले शक और दूसरी ओर सलवार वाले पठान बैठे हैं।

तारीय काँठे में मीरान के मन्दिरों के भित्ति-चित्र भी इसी युग के हैं। सीता-तारीय काँठे से भारतीय चित्र-शैली चीन गई। वहाँ से कोरिया और जापान गई तथा दूसरी ओर भारतीय चित्रकला का प्रभाव ईरान और अरब देशों में भी पहुँचा।

मध्यकाल की कला-कृतियाँ

अनेक मर्मज्ञों के मत से भारतीय मूर्त्ति-कला का श्रेष्ठ काल ६१६ ई० तक का है। इस काल की कृतियों में यद्यपि गुप्त-काल वाली कृतियों-जैसा चमत्कार नहीं है तथापि विशालता में वे अद्भुत हैं।

गुप्त-युग तक के गुहा-मन्दिर पहाड़ों में काटी हुई गुफाएँ ही थे। इस काल में टीले-के-टीलों को काटकर मन्दिर का रूप दिया गया। काँची के समुद्र-तट पर पल्लव राजा महेन्द्र वर्मा और नरसिंह वर्मा के

बनवाये हुए मामल्लपुरम् में सात मन्दिर हैं जो रथ कहलाते हैं। इनकी गिनती विश्व की अद्भुत वस्तुओं में है। गुप्त-काल के गुहा-चैत्यों और इन रथों के बीच की विकास प्रक्रिया चेजर्ला (जि० गुंटूर) के कपोतेश्वर मन्दिर से प्रकट होती है। इन रथों की मूर्त्ति-कला भी वैसी ही अद्भुत है। पौराणिक कथानकों के मूर्त दृश्य पत्थर में काट दिये गए हैं। उन दृश्यों के प्रत्येक पात्र की मुद्रा और भाव अनुरूप हैं। मामल्लपुरम् की सबसे अद्भुत कृति भगीरथ की तपस्या का दृश्य है जो ६८′×४३′ चट्टान पर काटा गया है।

पुद्दकोट्टै के पास सिद्दनवासल (सिद्धों का वास) में महेन्द्र वर्मा और नरसिंह वर्मा की कटवाई हुई गुफाओं में सुन्दर भित्ति-चित्र है जिनमें महेन्द्र वर्मा और उसकी रानी का भी चित्र है (ई० पू० १०२)। इस शताब्दी की चित्रकला में अन्य नमूने अजन्ता में, मालवा की बाघ नामक गुफा में, ऐहोल (बीजापुर जिला) में तथा सिंहल में हैं। तारीय-काँठे में दन्दानदलिक-से पाये गए भी इस शताब्दी की भारतीय शैली के हैं।

वास्तु और मूर्त्ति-कला की इस शैली की अगली अनोखी रचना 'एलोरा' के गुहा-मन्दिर हैं। एलोरा (वेरूल) अजन्ता से ५० मील दक्षिण-पश्चिम है। यहाँ भी एक पूरी पहाड़ी काट-तराशकर मन्दिरों और मूर्त दृश्यों में बदल दी गई है। ३४ मन्दिर हैं जिनमें दुमंजिले-तिमंजिले भी हैं। सबसे अद्भुत कैलाश मन्दिर है जिसे राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७६०-७५ ई०) ने बनवाया था। यह १४२′×६२′×१००′ की लम्बाई, चौड़ाई व ऊँचाई का है। इनसे मिले हुए ओसारों में तीन प्रतिमा-मंडप हैं जिनमें ४२ पौराणिक दृश्य खुदे हैं, उनमें सबसे कमाल की शिव की रावणानुग्रह मूर्त्ति है। बम्बई के पास धारपुरी (एलिफेंटा) की गुफा और उसमें की त्रिमूर्त्ति आदि भी ८वीं शताब्दी की इस शैली की रचना हैं। वेरूल के मन्दिरों में भित्ति-चित्र भी हैं, पर उनमें कला का ह्रास दिखाई देता है।

दसवीं शताब्दी से इस कला का पूर्ण ह्रास प्रारम्भ हुआ। इस समय

हमारे कलाकारों की कल्पना प्रौढ़ावस्था को पार कर बुढ़ापे में प्रविष्ट हो चुकी थी। मूर्त्तियों व मन्दिरों के निर्माता कलाकार न रहकर शिल्पी-मात्र रह गये थे। उनका हृदय नहीं मस्तिष्क काम कर रहा था। गुप्त-काल की कुछ विशेषताओं का रूढ़ियों के रूप में पालन करते हुए अलंकृत शैली ही उनकी मुख्य नवीनता थी। फलतः यह मूर्त्ति एवं वास्तु-कला के सौन्दर्य का नहीं चमत्कार का युग था। डेरा इस्माईल खाँ जिले में काफिरकोट, काँगड़ा में मसरूर और बैजनाथ, तंजौर में बृहदी-श्वर, बुन्देलखण्ड में खजुराहो, उड़ीसा में भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क, मालवा में उदयपुर आदि के मन्दिर, गुजरात का बड़नगर का तोरण, अजमेर का 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' आदि इस शैली के नमूने हैं। अलंकृति की पराकाष्ठा में आबू के पास देलवाड़े की विमलवसही कमाल की कृति है। वह जैन-मन्दिर समूचा संगमरमर का है और गुजरात के उत्तरी छोर पर तभी बन रहा था जब दक्षिणी छोर पर सोमनाथ का मन्दिर ढह रहा था। संगमरमर ऐसी बारीकी से तराशा गया है मानो किसी कुशल सुनार ने रेती से रेत-रेतकर आभूषण बनाये हों। उड़ीसा-खजुराहो आदि के इस युग-मन्दिरों की एक विशिष्टता उनमें की अश्लील मूर्त्तियाँ हैं। यह वाम-मार्ग का प्रभाव था। पर अच्छी मूर्त्तियाँ भी बनती रहीं, जिनमें दक्षिण भारत की नटराज की मूर्त्ति और जावा की १३वीं शताब्दी की प्रज्ञापारमिता-मूर्त्ति विशेष उल्लेखनीय हैं।

●

रोम का भारतीय कलाकारों पर पर्याप्त प्रभाव था, वह काल पाषाण-कला का आरम्भ काल समझा जाता है।

स्तूप

जितने भी स्तूप प्राप्त होते हैं वे सब बुद्ध के भस्मावशेष के किसी अंश को रखते हैं। उनके अन्दर की ईंटें बिना पकी और बाहर की पकी हैं। स्तूपों की प्रदक्षिणा के लिए भी स्थान बनाया गया है। साँची, मध्यभारत, भोपाल, अमरावती और भरहुत में इन स्तूपों की भरमार है। साँची का स्तूप ईसा से दो शताब्दी पूर्व दो बार बढ़ाया जा चुका था। इसके बाद के सारनाथ और नालन्दा के दो स्तूप मिलते हैं जिनमें सारनाथ का स्तूप पक्की ईंटों का बना है तथा बहुत ऊँचा है जबकि नालन्दा का स्तूप सात बार बढ़ाते-बढ़ाते बढ़ा और अब रोम के पिरा-मिडों के समान ऊँचा और चौड़ा बन गया। स्तूपों के चारों ओर छोटे-छोटे स्तूपाकार मकान होते थे जिनमें साधकों के रहने का प्रबन्ध था। स्तूपों की छतरियाँ प्रायः सुनहली चोटीदार होती थीं। अनुरुद्ध-पुर (सीलोन) में बना रुवण्वाली डागोबा बुद्ध धर्म की धार्मिक महत्ता का प्रतीक है।

उत्कीर्ण-गुहाकृति मन्दिर

गया के निकट बड़ाबड़ की पहाड़ी पर दो गुफाएँ हैं जिन्हें आजी-वक श्रमणों के लिए अशोक ने बनवाया था। इनके आगे छप्पर से छाया हुआ एक आँगन भी है जहाँ धार्मिक सभाएँ की जाती थीं। नागार्जुनी गुफा कलात्मकता की दृष्टि से कुछ श्रेष्ठ है पर पहली गुफा खुर्दरी है। गुप्त-काल के बाद की गुफाएँ भारत में अनेक स्थानों पर उप-लब्ध होती हैं। इन्हें सातवाहन या शालिवाहन के राज्य के समय तथा उसके उत्तराधिकारियों ने बनवाया था। दक्षिण की भाजा गुफा, जो पूना के निकट है इनमें सबसे पुरानी है। यह एक ही चट्टान को काटकर बनाई गई है। इसके सामने एक बड़े हॉल वाली गुफा है जिसके आस-पास पाँच छोटी-छोटी कोठरियाँ बनी हुई हैं। कला

का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कार्ली का हॉल है जो कि क्राइस 'सन्' के आरम्भ होने से पूर्व बनाया गया है।

चैत्यों के साथ-ही-साथ साधुओं के रहने योग्य गुफाएँ भी आकार में बड़ी और अधिक कलापूर्ण बनने लगीं। जहाँ गुफाएँ छोटी थीं वहाँ उनके समीप अन्य गुफाएँ बनाई गईं जैसा कि अजन्ता की गुफाओं से ज्ञात होता है। गुफाओं की अपेक्षा गुफा-मन्दिरों में अधिक कलात्मकता मिलती है। एलोरा के गुफा-मन्दिर विशेष रूप से प्रभावशाली हैं। इनमें से कुछ हिन्दू, कुछ बौद्ध और कुछ जैन मन्दिर हैं। इनमें से राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण (प्रथम) का बनवाया हुआ कैलाशनाथ का मन्दिर कला की दृष्टि से प्रमुख स्थान रखता है। किन्तु चट्टानों को काटकर बनाये हुए मन्दिरों में से मामल्लपुरम् में बने मन्दिर अधिक प्राचीन हैं। वहाँ पर द्रविड़ कला के आधार पर बने सात रथ (Seven Pagodas) प्राचीन काष्ठ-कला की ओर संकेत करते हैं। बाद के गुफा-मन्दिरों में एलीफ़ेन्टा के मन्दिर प्रमुख हैं। यद्यपि ये मन्दिर एलोरा की कला का ही अनुकरण करते हैं किन्तु शिव की त्रिमूर्त्ति-जैसी मूर्त्तियों की कल्पना इन मन्दिरों की कला की विशेषता है।

मन्दिर

जयपुर राज्य के बैराट नगर के पास ईसा से तीन शताब्दी पूर्व का एक मन्दिर है। दूसरा मन्दिर जड़ियाल (तक्षशिला राज्य) में है जिसका निर्माण यूनानी सभ्यता के आधार पर हुआ है। इसके मध्य-भाग में एक आँगन है। जड़ियाल वाला मन्दिर सम्भवतः ज़रदुश्त (Zorastrian) मत के आरम्भ काल से बना किन्तु उसका बाद में कोई रक्षक न रहा। कश्मीर में हेलेनिक सभ्यता वाले मन्दिर मिलते हैं जिनमें मार्तण्ड में बना सूर्य का मन्दिर अति प्राचीन है। इस समय के मन्दिर लकड़ी, मिट्टी और ईंटों के द्वारा बनते थे और यह कला गुप्त-काल से पूर्व की है। खम्भों के सिरे बड़े घण्टे की आकृति के हैं। उन दिनों राज का कार्य बिना चूने के पत्थरों से बनता था। गुप्तकाल

के मन्दिर छोटे और चौड़ी छतों वाले हैं जिससे स्पष्ट है कि तब के राजों को मन्दिर बनाने की कला में निपुणता प्राप्त न थी। गुप्तकाल का कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ मन्दिर झाँसी जिले के देवगढ़ में स्थित है जोकि छठी शताब्दी का है। इन मन्दिरों में गर्भगृह होते थे जिसमें प्रधान देवता की मूर्त्ति भी रखी जाती थी तथा मन्दिरों के आगे एक मण्डप बनाया जाता था जिसमें भक्तगण बैठकर देवता का ध्यान करते थे। लकड़ी के मन्दिरों के स्थान पर पत्थर के मन्दिरों का बनना मध्यकाल में आरम्भ हुआ और उनका निर्माण शुल्व-शास्त्र के अनुसार होता था। कश्मीर के मन्दिरों की घुमावदार मेहराबें तथा उभरी हुई ईंटों के या पत्थरों के बने शिखर बहुत ही कलापूर्ण और सुन्दर बनते थे।

छठी से ८वीं शताब्दी के पल्लव और चालुक्य राजाओं से मन्दिर-कला को प्रोत्साहन मिला। कांची जिले के मामल्लपुरम् ग्राम में बना मन्दिर तत्कालीन कला का द्योतक है। हैदराबाद जिले के ऐहोल नगर में और चालुक्यों की राजधानी बादामी में राजगिरी, बढ़ईगिरी, शिल्प एवं भवन-निर्माण-कला का उत्तम प्रदर्शन है। कांची का कैलाशनाथ मन्दिर भी पिरामिड-जैसा शिखर वाला है और उसके चारों ओर बौद्ध स्तूपों-जैसे कंगूरे हैं। पल्लवों की कला का चोल राजाओं ने विस्तार किया। तञ्जोर में बना शिवजी का मंदिर जिसको राजराज महान् (६८५ ई०) ने बनवाया था तथा उसके उत्तराधिकारी राजेन्द्र (प्रथम) ने पूर्ण किया था, कुम्बकोसम् जिले के गागंकोण्डच्चोडपुरम् में स्थित मन्दिर कला का सर्वोत्तम प्रदर्शन है। इसकी ऊँचाई २०० फीट है तथा द्रविड़ कला के शिखर से युक्त है।

पाण्ड्य कला का जाज्वल्यमान प्रतीक श्रीरंग जिले में मदुरै गाँव का मंदिर है। चालुक्य और राष्ट्रकूटों (राठौर) के वंशजों के मंदिर मध्य-दक्षिण में पाये जाते हैं, जिनके खम्भे घुड़सवारों, हाथियों नर्त्तकों और मकराकृति मुखों से अंकित हैं। होयसल वंशियों की राजधानी दुरषमुद्रा और वेलूर में खंभों के शिखर नहीं हैं। सोमनाथपुर (मैसूर) में गुम्बज-जैसे शिखर हैं। विजयनगर राजाओं के काल में पल्लवित कला पर पांड्य

और होपसल कला का प्रभाव पड़ा। इस कला में खम्भों पर पत्थर के खम्भों की नक्काशी का काम विशेष प्रगति पर रहा। उत्तर भारत के प्रधान नगरों में भवन-निर्माण कला के आदर्श मन्दिर नष्ट हो चुके हैं। बनारस में भी प्राचीन मन्दिर नहीं रहे, केवल बौद्धकाल का गया में एक मन्दिर शेष है। गया के मन्दिर का शिखर दाक्षिणात्य कला के अनुकरण पर है। उत्कल कला १० से १३वीं शती तक बढ़ी जिसके अनुसार भुवनेश्वर में लिङ्गराज का मंदिर बना। इस मन्दिर में पूजा का भवन, नृत्य भवन, सभा भवन और ध्यान भवन नामक चार हॉल बने हैं। जगन्नाथपुरी का मन्दिर भी उड़ीसा कला का मन्दिर है। कोणार्क मन्दिर में दो हॉल हैं जो कि मुख्य मन्दिर से पृथक् हैं। कोणार्क और भुवनेश्वर में कुछ मैथुन चित्र भी हैं जो वाममार्ग के प्रभाव को प्रकाशित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कोणार्क मन्दिर तान्त्रिक धर्म के प्रभाव का केन्द्र था। चन्देल राजाओं के समय में बुन्देलखंड प्रान्त में १०वीं और ११वीं शताब्दी में अनेक मन्दिर खजुराहो में बने जो झाँसी से १०० मील दूर हैं। कन्दरिया महादेव दसवीं शताब्दी में बना। खजुराहो में भी पाँच हॉल हैं किन्तु चौथा हॉल ध्यान भवन नहीं किन्तु प्रवेश भवन (Portico) है।

उत्तर भारत के मन्दिर दक्षिण और उड़ीसा के मन्दिरों से भिन्न प्रकार के हैं। खजुराहो के मन्दिरों के शिखर भी कंगूरे वाले हैं। खजुराहो में पत्थर का अधिक काम हुआ। राजस्थान और गुजरात में भी मन्दिर पाये जाते हैं जिनमें चौलुक्य या सोलंकी राजाओं के समय में मन्दिर-निर्माण कला विकसित हुई। जैन तथा हिन्दू दोनों प्रकार के मन्दिर बनाये गए। राजस्थान का अर्बुद पहाड़ का मन्दिर जैन कला का सजीव प्रतीक है। यह मन्दिर सफेद संगमरमर का बना हुआ है। भुवनेश्वर, कोणार्क और खजुराहो के मन्दिरों से इस मन्दिर में कम सजीवता है। यवन-काल से पूर्व के मंदिरों के अवशेष कम मिलते हैं।

पाषाणोत्किरण-कला

भवन-निर्माण कला का हड़प्पा तथा हिन्दू-मन्दिरों के निर्माण से

कोई भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। पाषाण-मूर्त्ति-कला का विकास मौर्य-काल के पश्चात् हुआ है। यह कला उत्तर भारत में कहीं सिसकती थी, जिसे मौर्य चन्द्रगुप्त के काल में प्रश्रय मिला। अशोक की राजधानी हिन्दघाटी के असर से नहीं बची, सारनाथ के स्तूपों के सिंह तथा रामपुरवा (बिहार) का नादिया इसका सजीव प्रमाण हैं। यह बैल अब नई दिल्ली के 'विचित्रालय' में है। उस चित्र से ईरानियन और हैलेनिस्टिक प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दीदारगंज (बिहार) की यक्षी का चित्र जो अब पटना म्यूज़ियम में है मौर्यकाल की उत्कृष्ट-तम पौलिश का परिचय दे रहा है—पर उसकी बनावट मौर्य-काल से प्राचीन प्रथम B. C. की ही झलकती है। यक्षी के हाथ में चामर (Yak's tail fly whisk) है—जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह चित्र किसी राजा के सेवक-भाव को द्योतित करने के लिए बना था—तथा उस राजा का चित्र अब सर्वथा नष्ट हो चुका है। यक्षी के पेट की बनावट हड़प्पा के चित्रों के पेटों की बनावट से मिलती-जुलती है। पाषाण-कला का चमत्कार भरहुत, गया और साँची के तोरणों में ही दिखाई देता है। भरहुत-कला में वह रमणीयता नहीं जो शेष अन्यों में है। ये चित्र १५०० B. C. के बने प्रतीत होते हैं। जिनके कारीगर हाथीदाँत के कार्य में निपुण थे यह भी प्रतीत होता है। ये कथाएँ जातकों से ली गई हैं। गया की बाड़ पर बने चित्र जातकों से लिये गए हैं तथा तमगों (Medallion) की आकृति के हैं। शेर, जंगल, मोर, चढ़ाइयाँ, हाथी आदि का उत्कीर्ण करना एक अद्‌भुत जगमगाहट (Shining) उत्पन्न कर देता है। बुद्ध की मूर्त्तियाँ प्रतीकों द्वारा दिखाने का कारण यह प्रतीत होता है कि बुद्ध सांसारिक स्तर से बहुत ऊँचे उठ चुके थे उन्हें नीचे लाना अनुचित समझा जाता था। कुषाण-काल में यह भावना प्रधान रूप से काम करती रही। माट (मथुरा) के पास के चित्र उत्कृष्ट कुषाण राजाओं के कला-प्रेम के सूचक हैं। बुद्ध या बोधिसत्त्व के मथुरा कला के चित्र माँसल और भौतिकवाद को लिये हुए हैं—उनमें आध्यात्मिकता कम है। इस पर रोम और ग्रीस का भी

प्रभाव है ।

गांधार-कला पर रोमन-कला का प्रभाव पड़ा । यद्यपि इस कला को ग्रीक-बुद्ध-कला कहा जाता है किन्तु ग्रीक की राजधानी बैक्ट्रिया और उत्तर एवं पश्चिमीय भारत का विभाग इस कला के प्रादुर्भाव के पूर्व नष्ट हो चुका था इसलिए इसका विकास रोम के राजाओं के कला-प्रेम ने किया । ग्रीक-कला ने चाँदी की सुन्दर कुछ वस्तुएं तथा सिक्के छोड़े जिनको कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों ने पल्लवित किया । मथुरा के कलाकारों ने यक्षों की मूर्त्तियों और ध्यानावस्थित तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं द्वारा स्फूर्ति प्राप्त की । गन्धार देश के बुद्धानुयायी पाषाण-कलाकार अपने चित्र-निर्माण में आध्यात्मिकता के भावों का प्रदर्शन पूर्ण रीति से न कर पाये । इस प्रकार जब गांधार-कला, मथुरा-कला तथा ग्रीक-बुद्ध-कला विकसित हो रही थी तब मध्यभारत में एक और ही कला जन्म ले रही थी जो भाजा की गुफाओं और उड़ीसा की उदयगिरि की मूर्त्तियों में दृष्टिगोचर होती है । इस समय मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा करने में आधिभौतिक और आध्यात्मिक कल्याण-प्राप्ति की धारणा कलाकारों में काम करती थी । इन मूर्त्तियों में प्रायः युग्म-मूर्त्तियाँ अधिक पाई जाती हैं तथा यही युग्म-मूर्त्तियाँ मध्य युग के मन्दिरों की काम-कला-प्रधान मूर्त्तियों की जन्मदात्री कही जा सकती है किन्तु इन मूर्त्तियों से पवित्र दाम्पत्य भाव की प्रेरणा नहीं मिलती अर्थात् इन दम्पती-चित्रों की दृष्टियाँ अन्योन्यावलोकन युक्त नहीं है किन्तु यदि स्त्री की दृष्टि हॉल के देखने में लगी है तो पुरुष की निगाह भूतल पर पड़ी है । इसमें सन्देह नहीं कि ये मूर्त्तियां दाम्पत्य जीवन का आदर्श उपस्थित करती हैं ।

ईसा की द्वितीय शताब्दी में सातवाहन-युग आरम्भ हुआ । अमरावती के मन्दिरों का पुनरुज्जीवन किया गया तथा उन मूर्त्तियों के चारों ओर बुद्ध के जीवन की घटनाएँ अंकित की गईं जो चूने और पत्थर के मेल से बनीं । अमरावती कला की मूर्त्तियाँ लंका ले जाई गईं तथा इसका प्रभाव दक्षिण भारत की कला पर पड़ा । यही कला भरहुत,

साँची और मथुरा की कलाओं में दृष्टिगोचर होती है जिसमें भौतिकता विशेषतया प्रकट की गई है। अमरावती कला में शक्ति, स्फूर्ति और भावों का चित्रण अधिक है तथा गुप्तकालीन कला में गम्भीरता, संयम और दृढ़ता परिलक्षित होती है। सारनाथ में बना बुद्ध का धर्म-प्रवर्तन-चक्र चित्र बहुत ही कलापूर्ण है। मुखमुद्रा युवक व्यक्ति की है। ओष्ठ-निर्माण से कोमलता अभिव्यक्त होती है। उसके अर्धोन्मिषित चक्षु एवं स्मित अपने उपदेश के प्रभाव को और बढ़ा देते हैं तथा बुराइयों के परित्याग के लिए प्रेरणा प्रदान करते हैं।

ग्वालियर और झाँसी के कलाकार गुप्तकालीन हिन्दू मनोवृत्ति का विश्लेषण करने में निपुण हैं। देवगढ़ में मिली मूर्त्ति मध्ययुगीन शैली को प्रकट करती है; इसी प्रकार सूर्य देवता की ग्वालियर की मूर्त्ति भी उक्त दृष्टि को पुष्ट करती है। उदयगिरि में उदयगिरि स्थान पर—जो भेलसा के निकट है—मिली विशाल शूकर-प्रतिमा बड़ी आकर्षक है। यह विष्णु का ही रूप है जो पृथ्वी की रक्षा करने के लिए चित्रित किया गया है, एवं विनाशक शक्तियों की अपेक्षा रक्षिका शक्तियों की प्रबलता बताता है। इस शूकरावतार के उभरे दाँतों पर एक स्त्री की मूर्त्ति अंकित है। वह स्त्री पृथ्वी माता है जिसकी विष्णु ने रक्षा की है। मध्ययुगीन कला की विशेषताएँ अत्यधिक होने से सविस्तार गिनाई नहीं जा सकती हैं। पालवंशीय और सेनवंशीय बिहार और बंगाल के राजाओं के आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के समय में मूर्त्तियां काले पत्थर और धातुओं की बनीं लेकिन उड़ीसा की कला कलात्मक दृष्टि से बढ़कर रही। खजुराहो के मन्दिर में देवताओं की और प्रेमी युगलों की मूर्त्तियाँ अंकित हैं। दक्षिण में एहोल और बादामी नामक स्थानों में गुप्तकालीन कला मिलती है। मामल्लपुरम् में गंगावतरण का अस्सी फीट लम्बा चित्रण अद्भुत है। वह शिलाओं को काट-काटकर बनाया गया है। वहाँ किनारों पर बनी मुनियों की मूर्त्तियाँ और पास ही में चूहे पर प्रहार के उद्देश्य से बिल्ली की तपस्या करती हुई मूर्त्ति कलाकार की परिहास-पेशलता को प्रकट कर रही है।

मिट्टी की मूर्त्तियाँ
(Terracottas)

धनवान कलाकार पत्थर, धातु और हाथीदाँत की मूर्त्तियाँ बनाकर प्रसन्न होते थे। किन्तु निर्धन कलाकार मिट्टी की मूर्त्तियाँ बनाकर कला-प्रेम को प्रदर्शित करते थे। हड़प्पा से लेकर आगे तक यह कला विकसित होती रही। मिट्टी की मूर्त्तियों में बालक को लिये हुए माँ, स्त्री और पुरुषों की खड़ी सौम्य मूर्त्तियाँ तथा विवाहित युगल मूर्त्तियाँ अधिक पाई जाती है। यह कला मौर्य-काल से लेकर गुप्तकाल तक पल्लवित हुई।

धातु कला और उत्कीर्ण कला

यह कला Soviet Central Asia और उत्तरी अफ़गानिस्तान में पल्लवित हुई। साथ-ही-साथ भारत में भी गुप्त-काल में तांबे की मूर्त्तियाँ बनीं जो कश्मीर की कुल्लू घाटी में मिलती हैं। ताँबे की बुद्ध की मूर्त्ति बिहार के सुल्तानगंज नामक स्थान में मिली। पाल राजाओं ने इस कला को प्रश्रय दिया। नेपाल व तिब्बत में भी ताँबे की मूर्त्तियों का प्रचार हुआ। तमिल प्रदेश में पाषाण मूर्त्तियों की अपेक्षा धातु-मूर्त्तियाँ अधिक रुचिकर होती हैं। चोल राजाओं ने भी इस कला के विस्तार में सहयोग प्रदान किया। तिरूमलाई में बने मन्दिर में कृष्णदेव राय और उसकी दो प्रधान रानियों की मूर्त्तियाँ धातुओं से बनी हैं और अपनी विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध हैं। नटराज शिव की मूर्त्ति भी अत्यन्त आकर्षक है जिससे धर्मवृत्ति का जागरण मिलता है। लंका में भी धातु मूर्त्तिकार अपनी इस कला को जीवित रखते रहे। वहाँ की बौद्ध तारा की मूर्त्ति धातु की बनी हुई है। पर वस्तुतः वह तारा की मूर्त्ति नहीं किन्तु पार्वती की मूर्त्ति है। धातु-मूर्त्तियाँ पहले मोम की बनाई जाती थीं। उनके ऊपर गीली मिट्टी की एक तह चढ़ाई जाती थी। मिट्टी को गरम करने पर मोम पिघलाकर भर दिया जाता था। यहाँ उन दिनों धातु-मूर्त्तियों के बनाने का प्रकार था।

रंगीन चित्रकला

धनी पुरुषों के घरों में रंगीन चित्र अधिक पाए जाते हैं। वे केवल भवनों की सजावट के लिए लगाए जाते है। इन चित्रों का एक भेद मुरल भी है जो गुफा-मन्दिरों में मिलता है। इन गुफाओ के चित्र अजन्ता में विशेषतया मिलते है। अजन्ता की ६, १०, १ और १६ नम्बर की गुफाओं में रंगीन चित्रों की प्रधानता है। उनमें धार्मिक वृत्तियों की अपेक्षा सांसारिक वृत्तियों का प्रदर्शन है। महल में बैठी रानी की मूर्त्ति, कुली पर लदा कन्धे से लटकता बोझ का भार, भिक्षुक, कृषक और यतियों के रंगीन चित्र इनमें अधिक पाये जाते हैं। कृष्ण की त्रिभङ्ग मूर्त्ति और उनके चारों ओर नाचती हुई अप्सराएं बोधिसत्व अवलोकितेश्वर पद्मपाणि की दयापूर्ण मूर्त्ति इस प्रकार के चित्रों में अग्रगण्य है। अजन्ता के अतिरिक्त बाघ की गुफा में भी कुछ रंगीन चित्र मिलते हैं। अनेक इस कला के उत्कृष्ट नमूने लङ्का में भी सुरक्षित हैं। यहाँ पर सीगिर्या (Lion Mountain) की मूर्त्ति धरातल से ६०० फीट ऊँची है और अद्भुत कला के लिए प्रसिद्ध है। तंजोर और विजयनगर में भी इस कला के अवशेष पाये जाते हैं। यवन-राज्य की प्रौढ़ावस्था में यह कला पुस्तकों को चित्रित करने में काम में लाई गई। मध्य एशिया में भी इस भारतीय कला का प्रभाव कहीं-कहीं पड़ा तथा अफ़गानिस्तान के बामियाँ नामक स्थान में जो विशाल बुद्ध की मूर्त्ति पाई जाती है वह चट्टानों को काटकर बनाई गई है जिस पर इस कला का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

तक्षशिला, उत्तर भारत और पश्चिम भारत की खुदाई में जो आभूषण, कीमती रत्न, पत्थर और सोने-चाँदी की नक्काशी तथा नीले, लाल और हरे पानी की चित्रकारी व मीने के काम (Enamel) वाले तार व पट्टियाँ मिली हैं, उनसे तात्कालिक आभूषणों की उत्तमता का संकेत मिलता है। बिमारां (अफ़गानिस्तान) में मिली डिबिया की नक्काशी इस कला का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। हाथीदांत पर बना सुनहला काम, यद्यपि बहुत कम मिलता है; किन्तु अद्भुत है। काबुल

से ५० मी० की दूरी पर बेगराम स्थान पर और कुषाण नाम की जगह पर जो सन्दूक मिले है वे भी विस्मयजनक हैं। उन दिनों के सिक्के भी बता रहे हैं कि उनकी बनावट यद्यपि उत्तम नहीं थी; किन्तु वे कलात्मकता के प्रतीक थे । उनमें मौलिकता और आकर्षण भी था। इन सिक्कों में कहीं पर चन्द्रगुप्त प्रथम अपनी रानी (कुमारदेवी) की ओर देखता हुआ दिखाया गया है और कहीं समुद्रगुप्त के राज्याभिषेक का चित्र है। ग्रीक राजाओं ने बैक्ट्रिया की राजधानी से जिन चाँदी के सिक्कों को प्रचलित किया वे संक्षिप्त नामाक्षरों से अंकित थे। इनमें किसी-किसी पर दो भाषाओं में सिक्के का मूल्य भी लिखा हुआ है।

अनेक युगीय भारतीय कला[1]

कला की भारतीय परम्परा—प्राचीन भारतीय शास्त्रों ने कला को जीवन का अंग माना है और शान्ति तथा प्रसन्नता उसका चरम लक्ष्य है। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में एक राजा ने ऋषि से कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। ऋषि ने कहा कि तुम्हें सर्वप्रथम नृत्यकला सीखनी चाहिए, क्योंकि रंगीन चित्रकला नृत्यकला पर आश्रित है अतः मोक्ष-प्राप्ति ही कलाओं का लक्ष्य है। अतएव, चतुर्वर्ग में कलाओं का परिगणन तीसरे वर्ग में किया गया है। कलाओं द्वारा अभौतिक पदार्थों को भौतिक बना दिया जाता है अतएव भक्ति-क्षेत्र में कलाओं का विशेष आदर हुआ। कला भौतिक (Physical), मानसिक (Psychological) और आध्यात्मिक (Metaphysical) तीनों क्षेत्रों में आवश्यक समझी गई है। कलाकार, उसके आश्रयदाता और कलाविद् समाज तीनों ही कला के विस्तार में तृणादिकादण्ड न्याय से परस्पर मुखापेक्षी है। 'मत्स्य पुराण' में कलाओं का सविस्तार वर्णन है। एलोरा के कैलाशनाथ के मन्दिर में कलाकार का नाम ताँबे की पट्टी पर खुदा हुआ है और वहीं लिखा है "O ! how did I made

(१) 'The Art of India through the Ages' के आधार पर।

it" ये शब्द कलाकार को स्वयं आश्चर्य में डालने वाले हैं और सिद्ध करते हैं कि कला अहंकारजन्य नहीं, किन्तु बुद्धि और विचार का परिणाम है जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' में माना है। शुल्वसूत्रों में तलच्छन्द और ऊर्ध्वच्छन्द शब्दों का प्रयोग किया गया है जो कि मन्दिरों के समतल भूमिभाग और धरातल से ऊँचे बनाये Platform के लिए प्रयुक्त है। यज्ञशालाओं का भी निर्माण कलाओं पर हुआ जिन्हे ब्राह्मण याज्ञिकों ने बनाया। कला, वास्तु-शास्त्र (Architecture) में स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकार के निर्माण आ जाते हैं अतः रथ और भवन दोनों ही कलाओं के विषय हैं। भारतीय कला ईसा से तीन शताब्दी पूर्व पल्लवित हुई तथा ग्रीक-कला के सम्बन्ध से अपना मौलिक रूप खो बैठी। इसका क्रमिक विकास धार्मिक मन्दिरों, राजभवनों और वैयक्तिक प्रासादों में हुआ। १७वीं शताब्दी में मण्डी (हिमाचल प्रदेश, जिला कांगड़ा), मालवा, राजस्थान, दक्षिण, बासौहिली (पश्चिम हिमाचल प्रदेश) में हुआ तथा १८वीं शताब्दी में राजस्थान के बूँदी नगर में और कांगड़ा में यह कला अपनी चरम सीमा को प्राप्त हुई। किन्तु यवन-साम्राज्य-काल में इस कला को विशेष प्रोत्साहन न मिला।

कला एवं इतिहास के शब्दों पर टिप्पणी

१. Boghaskoi (*बोगाज कोई*)—एशिया-माइनर के एक स्थान पर एक व्यक्ति ने कुछ मृत्तिका फलक खोजकर निकाले हैं जिनमें कि हिट्टाइट (Hittite) और मितानी (Mitani) के राजा के बीच १४वीं शताब्दी B. C. में हुई सन्धि के पत्रों का उल्लेख है। सन्धि-पत्रों में सन्धिरक्षक देवताओं के भी नाम हैं। इसी देवताओं की सूची में अनेक बेबीलोनियन, हिट्टाइट और भारतीय मित्र, वरुण, इन्द्र और भिन्न मितानी देवताओं के नाम आते हैं। इस स्थान को व इससे समान सम्बद्ध खोज के उन मृत्तिका-फलकों को उक्त नाम से पुकारा जाता है।

२. *कुरु-पांचाल*—पुरु, क्रिवि, तुर्वसु, यदु और द्रुह्यु। इनमें परस्पर

संघर्ष व सन्धियाँ भी होती थीं। ये लोग भारत की ओर आए। इनके यहाँ सम्बन्ध आदि हुए।

भारतवर्ष के लोग विश्वामित्र के साथ विपाशा और शुतुद्रि नदियों के किनारे आए, और तृत्सु लोगों के राजा सुदास को हराया किन्तु बाद में राजपुरोहित और वसिष्ठ के तपोबल से सुदास की ही विजय हुई। कुरुवंशी सरस्वती के दोनों किनारों पर बसे। कुछ लोग पीछे पश्चिम में छूट भी गये क्योंकि सिकन्दर के आक्रमण के समय परुष्णी नदी के किनारे कुछ कुरु जाति के लोगों से उसकी मुठभेड़ हुई थी।

द्रुह्यु, पुरु, अनु, क्रिवि, तुर्वसु, यदु आदि पांच जातियां पांचाल कहलाती हैं। तुर्वसु और यदु जातियों में मित्रता है, या यादवों के साथ ही कण्व ऋषि का परिवार रहता था। क्रिवि जाति का 'ऋग्वेद' में केवल उल्लेख मात्र है। कुरु और पांचाल जातियां इतनी सशक्त बन गईं कि वे महाभारत-काल तक बनी रहीं। कुरु-नरेश धृतराष्ट्र और पांचाल राजा द्रुपद देश में हुए।

३. सायण—इनका समय १४वीं शताब्दी का माना गया है। यह विजयनगर के महाराजा बुक्क का महामंत्री था। सायण के भाई का नाम माधव था जो कि राजकुमारों के गुरु थे। सायण ने ऋग्वेद पर 'वेदार्थ-प्रकाश' नाम की टीका लिखी है।

सायण भाष्य के या सायण दृष्टि के दोषः—

(क) सायण ने ऋग्वेद को एक दैवी कृति माना है। इस कारण वह वेद की उच्च कोटि की आलोचना न कर सका।

(ख) सम्पूर्ण भाष्य में कर्मकाण्ड के प्रति उसका मोह झलकता है। उसकी दृष्टि अधिकतर पुरोडाश, पुरोहित, यजमान, धन-स्तुति, बलि आदि की ओर ही रहती है। वेद के अन्य सम्भव अर्थों पर पर्दा डालकर, कर्मकाण्डपरक व्याख्या करके उन पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी जो कि शताब्दियों तक न दूर हो सकी।

(ग) उसके समय में अप्रचलित शब्दों के उसने कई-कई अर्थ

किए हैं, किन्तु यह नहीं बताया कि वह किस अर्थ को अधिक अच्छा मानता है।

(घ) उसकी दृष्टि व्यापक नहीं। अर्थ करते समय केवल एक ही मंत्र विशेष पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा गया है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थलों पर एक ही अर्थ के भिन्न-भिन्न अर्थ हो गये हैं। जैसे शारद का अर्थ कई स्थानों पर भिन्न दैत्य, वर्ष, ऋतु आदि किया गया है।

शब्द-व्युत्पत्ति के चक्कर में पड़कर वह यास्क की भांति यह भूल गया कि शब्दों का इस प्रकार अर्थ करने पर पूरे वाक्य का भी कुछ अर्थ निकलता है या नहीं। शब्दों का अर्थ करने में वह इतना डरता है कि सदा निरुक्तकार यास्क का आश्रय ग्रहण करता है। जगह-जगह "अत्र निरुक्तम्" कहकर निरुक्त की दुहाई दी जाती है।

(ङ) जहाँ पर Mythological संकेत आते हैं वहां उसने झट पुराणों का आंचल पकड़ लिया है।

(च) सायण को वेद में कुछ पौराणिक गाथाएँ जैसे देवताओं की कहानियां, ऐतिहासिक राजाओं और ऋषियों की कहानियां भी मिली हैं। सायण इन्हें प्रामाणिक मानने या न मानने में हिचकते हे, तथापि उन्हें यथावत् स्वीकार करते हैं किन्तु कहीं-कहीं विकल्प-रूप में उनका दूसरा अर्थ भी निकाला है।

अरविन्द घोष का मत

(छ) कई स्थलों पर तो सायण ही एक ऐसा टीकाकार है जिसने किसी शब्द या पद का सबसे उचित अर्थ किया है जैसे ग्रिफिथ साहब बतलाते हैं कि सायण ने 'पुरीष' का अर्थ 'जल' किया है जबकि इसका वास्तविक अर्थ 'परिधि' होना चाहिए। किन्तु वे भूल जाते हैं कि इसके भी पहले सायण इसका अर्थ Circle कर चुका है।

(ज) सन्दिग्ध शब्दों का अर्थ करते समय उसने तद्विषयक अन्य विद्वानों के मत भी उद्धृत किए हैं। उनमें से किसका मत उन्हें अभिमत

है यह सायण ने नहीं बताया। पर हमारे प्रवेश के लिए द्वार तो खोल ही दिया है।

(ऋ) व्याख्या करते समय सायण के सामने वेद की प्राचीन व्याख्याएँ भी थीं जो आध्यात्मिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक थीं। सायण ने कुछ को तो रूढ़ि मानकर स्वीकार कर लिया है किन्तु अन्य स्थलों पर कुछ सुधार भी किये हैं। जैसे 'वृत्र' की प्राचीन व्याख्या 'आच्छादक है जो मनुष्य के पास पहुँचने से पहले उसकी कामना की वस्तु को रोके रखता है।' सायण ने इसका यही अर्थ किया है 'मेघ वृत्र-रूपी असुर है जो जलों को रोके रखता है इत्यादि।' "फिर भी सायण का ग्रन्थ एक ऐसी चाबी है, जिससे वेद के आन्तरिक आशय पर प्रकाश पड़ता है, वैदिक शिक्षा की प्रारम्भिक कोठरियों के खोलने के लिए यह चाबी अत्यन्त उपयुक्त है।"—अरविन्द।

४. *राथ*—इनकी वेद-विषयक स्वतंत्र व्याख्या है। ऋग्वेद की टीका के लिए भारतीय भाष्यों का आश्रयण अनावश्यक बतलाया है। वेद की उत्पत्ति से २०० वर्ष बाद, एक भारतीय भाष्यकार जितना जान सकता है उतना एक European भी भाषा वैज्ञानिक समालोचन-पद्धति पर वेद को जान सकता है यह मत है।

(क) उसने वैदिक अध्ययन में रूढ़ि-परम्परा का परित्याग कर ऐतिहासिक और तुलनात्मक विधि को अपनाया है। उसने अनुमान का भी सहारा लिया है। भावुक देशभक्ति-भावना उसे अन्धा न बना सकी। उसने निष्पक्ष भाव से अध्ययन किया है।

(ख) राथ ने वेदमंत्रों के उस अर्थ को निर्धारित करने का प्रयास किया जो वेद के कर्ता ऋषियों को अभीष्ट था। वह सदैव विज्ञान की भित्ति के सहारे ही चलता है इसलिए वेद का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्यार्थी उसी का पल्ला पकड़ते हैं।

(ग) उसने भारतीयों की टीकाओं को सर्वथा उपेक्षा की भावना से देखा है। यही कारण है कि वह उनकी अच्छाइयों का लाभ न उठा सका।

५. *ब्राह्मीलिपि*—अशोक के सभी inscriptions प्रायः इसी लिपि में है। यह बाये से दाये (Left to Right) लिखी जाती है। यही Earliest form of Indian Writing है। इसी से वर्तमान तमिल, तेलुगू, कन्नड आदि भाषाओं की लिपियाँ निकली है। इसी लिपि से अन्य भारतीय भाषाओं के Alphabets लिये गए हैं।

कुछ Scholars का मत है कि ब्राह्मी लिपि ही विदेश से ली गई है, किन्तु मोहनजोदड़ो की खुदाई ने उक्त मत को धराशायी कर दिया। मोहनजोदड़ो में ५०० से भी अधिक seals सील मुहरें मिली है जिनमे pictorial writing है। इसी से ब्राह्मी लिपि का जन्म माना जाता है।

६. **Wiros**—Dr. Hall ने सर्वप्रथम Indo-Europeans के लिए इस शब्द का प्रयोग किया। भारत में आकर आर्यों को द्रविड़ मिले। ग्रीकों को Mineans मिले। दोनों स्थानों पर विजेता और विजितों की सभ्यताएँ मिल गई। भाषा विजेता की ही प्रचलित हुई। विजित जातियाँ भी वहाँ बनी रही।

प्रो० P. Giles ने Dr. Hall से भी पूर्व Indo-European शब्द को अनुपयुक्त बतलाकर उनके लिए wiros शब्द का प्रयोग चलाया।

धीरे-धीरे विजेता जाति की भाषा ने स्वभावतः ही विजित जाति की भाषा के कुछ शब्दों को अपना लिया। इस प्रकार उक्त शब्द का व्यवहार आरम्भ हुआ।

Original Home of the Aryans :—

(क) **Indigenous Origin Theory**—आर्यों को विदेशी सिद्ध करने का कोई भी ठोस प्रमाण नही है। प्रत्येक जाति को अपने Original Home की कभी-न-कभी सुध आती ही है किन्तु आर्यों के साहित्य में यह बात अनुपलब्ध है। के० एम० मुन्शी ने कहा है कि—"हो सकता है कि आर्य कहीं बाहर से आकर भारत में बसे हों किन्तु यह अधिवसन वैदिक काल से बहुत पहले होना चाहिए।

(ख वैदिक संस्कृत के कुछ शब्द यूरोप और एशिया की कुछ भाषाओं में पाये जाते हैं। कुछ लोग अनुमान कर बैठते हैं कि कभी ये सभी जातियाँ एक ही स्थान पर रहती होंगी और फिर वहाँ से भिन्न-भिन्न स्थानों पर बसीं; किन्तु यह मानना ठीक नहीं है। इसके ये प्रमाण है कि आर्य भाषाओं के अधिकांश शब्द वैदिक संस्कृत में उपलब्ध हैं जबकि विदेशी भाषाओं में केवल दो-चार ही। ऐसा क्यों ? हो सकता है कि जब आर्य समय-समय पर भारत से बाहर गये तब उनके सम्पर्क से उन भाषाओं ने कुछ शब्द अपना लिये हों।

(ग) यदि आर्य कहीं बाहर से आये होते तो मार्ग के देशों में कुछ-न-कुछ Record तो छोड़े ही होते। किन्तु उनका सबसे पहला Record तो सप्त-सिन्धु प्रदेश का है। फिर कैसे मान लें कि वे बाहर से आये ?

(घ) **Sacrificial rituals**—हिंसा यागों का प्रचलन तो संहिता में होगा ही, तभी तो संहिताओं में उनका वर्णन है। सोम का निवास मूजवन्त पर्वत बतलाया जाता है। यह उत्तरीय पंजाब में है। अतः स्पष्ट है कि *सोम याग* का प्रचलन पंजाब से ही शुरू हुआ। संहिता-निर्माण से पूर्व भी आर्य यहाँ ही रहते थे।

प्राचीन भारतीय साहित्य और परवर्ती साहित्य व पुराणों के अनुसार आर्यों का मूल स्थान भारत ही था। डॉ० गंगानाथ झा, L D. कल्ला, D. S. Trivedi इस मत का समर्थन करते है।

लोकमान्य तिलक—आर्यों का आदि स्थान ध्रुव प्रदेश है, क्योंकि 'ऐतरेय ब्राह्मण' में never setting polar sun का उल्लेख है। वस्तुतः यह एक महान् Astronomical discovery थी कि सूर्य न तो कभी निकलता है और न डूबता है।

Edvard Meyer—इस नाम का पामीर का पठार है। जहाँ से पूर्व में पंजाब की ओर और पश्चिम में 'मैसोपोटामियां' की ओर बढ़े। यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

कुछ लोग इनका निवास-स्थान तिब्बत को मानते हैं।

कुछ लोग मध्य यूरोप को मानते हैं। जहाँ वर्तमान आस्ट्रिया और हंगरी आदि प्रदेश हैं।

(ङ) Dr. Hirt लिथुआनिया को मूल स्थान मानते हैं। यहाँ की भाषा वर्तमान काल की सबसे Archaic भाषा है अतः यह वैदिक संस्कृत की प्रकृति के अनुकूल ही है। लिथुआनिया ही मूल स्थान है।

अधिकांश लोग मध्य एशिया को मानते हैं।

इनमें प्रथम मत ही मान्य है।

७. *यास्क*—पाणिनि के पूर्व हुए।

'निरुक्त'—निघंटु के आधार पर वैदिक मंत्रों की एक बड़ी संख्या की व्याख्या की।

"एतच्च निरुक्तं निघंटु संज्ञकस्य पंचाध्यायात्मकस्य ग्रंथस्थ भगवता यास्केन कृतं सोदाहरण व्याख्या रूपं सन्दर्भरत्नं निरुक्तमभिधीयते।" निघंटु का भाष्य होने पर भी निघंटुओं के सभी शब्दों की व्याख्या नहीं की गई।

१२ अध्यायों में से पहले अध्याय में व्याकरण और टीका करने के अनेक सिद्धान्त बतलाए हैं। दूसरे और तीसरे में पर्यायवाची शब्दों वाले तीन निघंटुओं का ही विषय है। चौथे से छठे तक निघंटु की टीका है। सातवें से १२वें तक भी निघंटु की ही टीका है।

इसमें वैदिक शब्दों के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार भागों में विभाजित किया है।

अपने पूर्ववर्ती उपमन्यु, उदुम्बरायण गार्ग्य आदि सत्रह विद्वानों के नाम आते हैं जिनके मत परस्पर-विरोधी हैं। उनमें से कौत्स का कथन—वेदों का समस्त विवरण बेकार का है। क्योंकि उनकी ऋचायें अप्रचलित, भावशून्य, दुर्ज्ञेय और एक-दूसरे की विरोधिनी हैं। यास्क ने उनका मखौल किया है कि सूर्य की किरण का क्या दोष यदि एक अंधा उसे न देख सके। यास्क ने व्युत्पत्ति के सहारे कठिन शब्दों का

अर्थ लगाया है। यास्क के अर्थ कल्पनामूलक भी होते हैं।

८. *कार्ली कला*—कार्ली गुफ़ा बम्बई और पूना के बीच में है। बनावट में प्राचीन चर्चों जैसी अर्थात् सीधी लम्बी खोह, जैसे किनारे के मार्ग अर्धवृत्ताकार झरोखों से युक्त है। प्रत्येक खम्भा नीचे चौड़ा और अष्टकोण युक्त है। अगले भाग में घुटने टेके हुए दो हाथियों के चित्र हैं। साथ ही प्रत्येक खम्भे पर एक स्त्री और एक पुरुष का चित्र है। पिछले भाग में घोड़े या शेर का चित्र अंकित है।

९. *सांची के तोरण द्वार*—(क) सांची के विशाल स्तूप के तोरण द्वारों में से काल-क्रमानुसार सर्वप्रथम दक्षिण द्वार निर्मित हुआ, तत्पश्चात् से उत्तर-पूर्व और पश्चिम द्वार। इन सभी की रचना-विधि लगभग एक सी है। इनकी मज़बूती इसी बात से स्पष्ट है कि २००० वर्ष बाद आज भी ये अपना अस्तित्व रखते है।

(ख) प्रत्येक द्वार दो चौकोर खम्भों से बना है। प्रत्येक पर दो शीर्ष प्रतिमएँ हैं। शीर्ष प्रतिमाएं या तो खड़े बौनों की है या पीठ-से-पीठ मिलाकर खड़े हाथी या शेरों की।

(ग) उत्तर स्तम्भों को क्षौतिज–Railings द्वारा मिला दिया गया है। उन पर स्त्री-पुरुष, घुड़सवार, शेरों आदि की आकृतियाँ बनी हैं। इनमें से अशोकचक्र दर्शनीय है। इसके अलावा इन स्तम्भों तथा Railings पर जातक कथाये भी उत्कीर्ण है तथा विविध वृक्ष, पशु, पक्षी, शाक्य आदि मुनियों की आकृतियां भी है।

(घ) यत्र-तत्र उन लोगों के नाम भी लिखे हुए है जिन्होंने इन वस्तुओं के निर्माणार्थ अर्थ दान दिया। Prof. Foucher और Prof Grunwedel ने अथक प्रयास करके उनका समय निर्धारित किया है।

(ङ) पूर्व तोरण द्वार के दाहिने स्तम्भ पर देवलोक (Stages of Buddhist Paradise) बने हैं और विविध देवता बड़ी शान से आसीन हैं क्योंकि स्तम्भ पर सबसे नीचे बिम्बसार अपने दल-बल के साथ राज-गृ से निकलकर बुद्ध दर्शनार्थ प्रस्थान करते हुए दिखाये गए हैं। एक रिक्त

सिंहासन ही बुद्धि का प्रतीक है। इसके ऊपर 'नैरंजना' नदी की बाढ़ में एक नाव पर दो शिष्यों सहित बैठे हुए कश्यप मुनि बुद्ध को बचाने के लिए जा रहे हैं। इनके—और भी विशद और सुन्दर चित्र अंकित है।

(च) इन कला-कृतियों से स्पष्ट होता है कि इनके बनाने में अमित काल और कलाकार लगे होंगे। इसलिए इन चित्रों में एकरूपता नहीं है। किन्तु बुद्ध गया के स्तूप के समान इनमें कहीं भी कलाहीनता के दर्शन नहीं होते।

(छ) सर्वोत्तम कला दक्षिण द्वार पर और अधस्तम कला उत्तर द्वार पर दृष्टिगोचर होती है। पश्चिम द्वार भी दक्षिण द्वार के टक्कर का है। दक्षिण द्वार के युद्ध-चित्रों में सजीवता और स्वाभाविकता है अर्थात् Actualism है जबकि पश्चिम द्वार के चित्र प्रचलित प्रथाओं के अनुकरण मात्र हैं अर्थात् Conventionalism है।

१०. परखम की मूर्ति—यह शुंग-कालीन रचना है। रचना-काल ५० B C के लगभग है। ८'८' हाई यह मूर्त्ति Muthra जिले में सारनाथ आदि मूर्त्तियों में से है। फारस का प्रभाव स्पष्ट है किन्तु यह मूर्त्ति स्वदेश कला का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें उत्कीर्ण लेख भी है।

११. अहिच्छत्रा—बरेली के पास है। पांचाल देश की राजधानी है। नगर के बीचों-बीच एक विशाल मन्दिर है। जिसके चारों ओर जल की खाई है। फिर अन्दर की ओर चारदीवारी, उसकी प्रत्येक भुजा के मध्य में द्वार-द्वार तक खाई के ऊपर से पुल बना है। चारों द्वारों से चौड़ी सड़कें मध्य केन्द्र की ओर गई हैं। यहाँ life size मृत्तिका मूर्त्तियां मिली है।

१२. वाक्यपदीय—A metrical work dealing with the plight of grammar by भर्तृहरि '7th cen. पूर्वार्ध' चीनी यात्री Itsing का कहना है कि भर्तृहरि की मृत्यु 630 A. D. में हुई थी।

इसमें ३ काण्ड हैं—

१. आगम काण्ड, २. वाक्य काण्ड, ३. प्रकीर्ण काण्ड।

भर्तृहरि ने 'पातंजल भाष्य' पर एक टीका भी लिखी परन्तु वह अब अप्राप्य है।

१३. अभिनव गुप्त—(क) आजीजन ब्रह्मचारी, शैव। माता का नाम विमला और पिता नरसिंह गुप्त हैं।

एक महान् दार्शनिक, सूक्ष्म आलोचक और एक महान् कवि। उनकी टीका (लोचन) कभी-कभी तो मूल से भी अधिक क्लिष्ट और विद्वत्तापूर्ण हो गई है।

(ख) (i) आपने इन लेखकों और कृतियों का उल्लेख किया है जैसे इन्दुराज, उत्पल, काव्य कौतुक, कुमारिल भट्ट, तंत्रालोक, भर्तृहरि मनोरथ, स्वप्नवासवदत्ता और वामन।

अभिनव के 'भैरवस्तव' की रचना का काल ११२ ई० है, इस कारण वे 10th cen. के अन्तिम प्रहर में या 11th cen. के प्रथम प्रहर में माने जाते हैं।

(ग) **works**—ये तीन वर्गों में विभक्त हैं। तथाहि—प्रथम वर्ग—मालती विजय वार्तिक, परात्रिंशिका पर टीका और तंत्रालोक। द्वितीय वर्ग—स्तोत्र जैसे भैरवस्तव, क्रम स्तोत्र, और बोध पंचदशिका। तृतीय वर्ग—works or poetics और dramaturgy जैसे लोचन = सहृदयता लोक लोचन = ध्वन्यालोक लोचन = यह ध्वन्यायोक लोचन आनन्दवर्धन पर टीका है।

(घ) *अभिनव भारती*—चतुर्थ वर्ग—Works concerning the Philosophy of Monistic Shivism.

कहा जाता है कि अभिनव गुप्त ने अपने गुरु 'भट्टश्रौत' के 'काव्य कौतुक' पर 'विवरण' नाम की टीका भी लिखी थी।

(ङ) **Estimation**—विश्वनाथ ने अभिनव गुप्त को लोचनकार भी कहा है। आपकी टीका का अलंकार शास्त्र में वही स्थान है जो पतंजलि के महाभाष्य का व्याकरण में और शंकराचार्य का वेदान्त में।

इनकी टीका पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके गुरु ने ध्वन्यालोक की व्याख्या इनसे करवाई थी या तो मौखिक रूप से या किसी टीका के द्वारा।

१४. क्षेमेन्द्र—काश्मीरी ब्राह्मण। इनका समय 1050 A. D. दासगुप्त ने माना है। यह अभिनव गुप्त के प्रधान शिष्य थे।

Works—औचित्य विचार चर्चा, कविकण्ठाभरण। इनके अतिरिक्त भारत मंजरी, रत्नावली और ४० अन्य कृतियाँ भी लिखी हैं।

छन्द पर भी एक 'सुवृत्त तिलक' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें विभिन्न छन्दों में विभिन्न कवियों की उत्कृष्टता का वर्णन है जैसे, अभिनन्द का अनुष्टुप में, पाणिनि का उपजाति में, भारवि का वंशस्थ में, कालिदास का मन्दाक्रान्ता में, रत्नाकर का वसन्ततिलका में, भवभूति का शिखरिणी में और राजशेखर का शार्दूलविक्रीड़ित में वर्णन किया है।

इन्होंने औचित्य को काव्य का नाविक मानकर एक सम्प्रदाय चला दिया है।

१५. भरहुत का स्तूप—यह बौद्ध स्तूप है। मध्यभारत में है। निर्माण करीब 2nd Cen. B.C. में हुआ है। Sir A. Cunningham ने 1873 में इसकी खोज की।

इस स्तूप को पड़ौसी निवासियों ने नष्टप्राय कर दिया था किन्तु पूर्व तोरण और स्तूप को घेरने वाली Railings अब भी अवशिष्ट हैं।

इसका आकार बहुत कुछ सांची के महान् स्तूप से मिलता है। पूर्व तोरण करीब 22′ 6″ ऊँचा है। सम्भवतः ऐसे ही तोरण तीन अन्य दिशाओं में भी रहे होंगे।

तोरण और Railings दोनों ही सुन्दरता से उत्कीर्ण हैं। कुछ चित्र तो जातक कथा में—जैसे एक Relief नाग जातक को स्पष्ट करती है। दूसरी में माया का स्वप्न है, तीसरी में श्रावस्ती के जैत-वन की श्री-समृद्धि का प्रदर्शन है। चौथी में बुद्ध के दर्शनार्थ जाते हुए अजातशत्रु (प्रसेनजित) का जुलूस; पाँचवें में देवलोक में बुद्ध के शिरोवस्त्र का पूजन और दूरावत नामक नागराज द्वारा बोधि-वृक्ष का

पूजन है। इनके अतिरिक्त अनेक दक्षिणी देवताओं के चित्र हैं।

इन मूर्त्तियों में कहीं तो सिद्धहस्तत्व और कहीं नवसिखुवापन झलकता है। कुछ भी हो मूर्त्तियों का चित्रण स्वाभाविक है।

तोरण द्वार पर कुछ खरोष्ठी (Kharosthi) लिपि में लिखे आकार मिलते हैं और Railing में ब्राह्मी के। अतः स्पष्ट है कि कुछ कलाकार उत्तर-पश्चिम भारत से आये और कुछ मध्य भारत के ही थे।

१६. साँची का स्तूप—मौर्य-काल की रचना है।

स्तूप की बनावट—स्तूप अर्द्धवृत्ताकार होता है। शीर्ष कुछ चपटा। इस चपटे भाग में ही एक वर्गाकार बरामदा और उसके बीचों-बीच में एक 'छत्र'। इसके चारों ओर ७ फुट चौड़ा प्रदक्षिणा-लय। अशोक के समय में स्तूप पक्की ईंटों के बनते थे किन्तु करीब एक शताब्दी बाद ईंट की जगह पत्थर लगाये गए। पहले इसकी चहारदीवारी काष्ठनिर्मित थी, किन्तु अब पाषाणमय है। चहारदीवारी में ८·८ पहलू वाले पत्थर के खम्भे थोड़ी-थोड़ी दूरी पर थे। इन खम्भों में छेद हैं। प्रत्येक खम्भे की दूसरे खम्भे से ३ सूचियाँ (Cross-bars) मिलती हैं।

स्तूप के चारों ओर ४२ द्वार जैसे तोरण हैं। इनमें से प्रत्येक के कलात्मक सौन्दर्य के ऊपर एक-एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। प्रत्येक में बुद्ध का जीवन-वृत्त अंकित है। इनमें गृहस्थ जीवन, वन्य जीवन, जुलूस (शोभायात्रा), पशु आदि प्रचुर मात्रा में अंकित हैं। ये तोरण आधार और रचना में सभी समान हैं।

पत्थर के बने इस स्तूप में काष्ठ-कर्म की-सी सुन्दरता है। एक-एक जोड़ ऐसा मालूम होता है कि मानो पत्थर का नहीं लकड़ी का है। एक पत्थर दूसरे के अन्दर घुसकर मोड़ लेता हुआ हमें प्रशंसा करने को बाध्य करता है। 'त्रिचक्र' और 'धर्मचक्र' भी सुन्दरता से बनाये गए हैं। तोरण द्वारों की कारीगरी दर्शनीय है।

इस महान् स्तूप (सांची स्तूप) के उत्तर-पूर्व में एक छोटा-सा स्तूप और भी है। दोनों स्तूपों के बीच में पक्की सड़क है।

१७. **Caves of Orissa** (उड़ीसा की गुफाएँ)

उदयगिरि और खण्डगिरि पर अनेक विहार व गुफाएँ हैं। ये जैनियों द्वारा निर्मित हैं। इनमें कोई चैत्य या Hall नहीं है। ये अत्यन्त प्राचीन हैं। कुल ६६ गुफाएँ हैं। दो-एक को छोड़कर शेष में रहने की तकलीफ़ है। गुहा-द्वार इतने छोटे हैं कि प्रवेश करने में भी तकलीफ़ होती है। इनमें से अधिकांश ईसा से ३०० वर्ष पूर्व की हैं। आस-पास घना जंगल है।

उदयगिरि—रानी गुम्फा, गनेश गुम्फा, जय विजय गुम्फा, हाथी गुम्फा, मंचापुरी।

खण्डगिरि—अनन्त गुम्फा है।

सबसे प्रसिद्ध, सबसे बड़ी और सबसे प्राचीन रानी गुम्फा है। इसका अर्थ है रानी का नूर। दो मंज़िल है। खम्भों के सहारे बनी है। अनेक मूर्त्तियाँ स्वाभाविक मुद्रा में हैं। ऊपर वाले खंड में एक द्वारपाल जिसकी वेश-भूषा यवनों के समान किन्तु नीचे वाले खंड में द्वारपालों की पोशाक भारतीयों की-सी है।

१८. सीता बेंगा गुफाएँ—ये जोगी मारा गुफाएँ कहलाती हैं। सुर-गूजा रियासत में रामगढ़ की पहाड़ियों पर स्थित हैं। इनकी भित्तियों पर पीले और भूरे रंग के चित्र बने हैं। वे चित्र कुछ तो मनुष्यों के और कुछ मकर आदि पशुओं के हैं।

आजकल तो उक्त चित्रों की यत्र-तत्र कुछ लकीरें ही अवशिष्ट हैं। इनका रंग लुप्त हो चुका है। Spoilt by the colours roughly daubed upon them. The fresco has been repainted by untutored hand.

उक्त Frescos से पता चलता है कि इनमें विभिन्न आकृतियाँ चित्रित थीं जिन्हें कि मछली आदि की dividing lines द्वारा अलग किया गया था।

उक्त चित्रों की धोतियों और उत्तरीयों का सांची के स्तूप नं० २ की मूर्त्तियों के वस्त्रों से पूर्ण साम्य है। अतः अनुमानतः इन चित्रों का

काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का मध्य भाग माना जा सकता है। उपलब्ध चित्रों में ये ही सबसे पुराने चित्र हैं।

इन चित्रों के पीछे कुछ सांकेतिक अर्थ छिपा है, किन्तु उसे जानना आज के युग में बड़ा कठिन है।

१६. *द्यौष-पितर*—यह नाम बृहस्पति का है। जिसे देवपितर भी कहते हैं। इसी का नाम जुपिटर है।

द्यौषपितर का कार्य है मन को वश में करना, शत्रुओं के मन का वशीकरण करना, उनमें सौमनस्य लाना और हृदय के भावों को पवित्र करना आदि।

२०. **Terracottas** (पका कर मिट्टी की मूर्त्तियां बनाने की कला)

१. यह साधारण कोटि के कलाकारों की कला थी, जो कि पत्थर आदि को खरीद सकने में असमर्थ थे। इस कला का विकास अधिकतर उत्तर भारत के मैदानी भाग में हुआ, क्योंकि वहाँ पत्थर और लकड़ी आदि सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध नहीं थी।

२. *खोज*—विविध आकार और प्रकार की मृत्तिका-मूर्त्तियाँ विविध स्थानों की खुदाई से मिली हैं :—

(i) *काश्मीर*—पशु, मनुष्य और उत्कीर्ण ईंटें मिली हैं।

(ii) *पंजाब*—जमालगढ़ी में बुद्ध-मूर्त्तियाँ और कुछ चेहरे।

(iii) *सिन्ध*—मीरपुर आदि स्थानों में उत्कीर्ण ईंटें, चेहरे, बुद्ध और कुछ दान-कर्त्ताओं की प्रतिमाएँ मिली हैं।

(iv) *उत्तर भारत*—भितर गाँव में ब्राह्मण-काल की कथाएँ और मूर्त्तियाँ। भीटा में मोहरें।

(v) *अहिच्छत्र*—बड़ी-बड़ी शैव सम्प्रदाय की मूर्त्तियाँ।

(vi) *राजघाट*—मानव-शीर्ष और मूर्त्तियाँ, देवता, मकर, हस्ति, बाराह, सिंह आदि।

(vii) *पाटलिपुत्र*—रामायण की कथाएँ।

(viii) *बंगाल*—महास्थान और वानगढ़ में कुछ मूर्त्तियाँ, इनमें बच्चों के खिलौने, पूजा-मूर्त्तियाँ, राजमुद्रायें, निर्धनों के आभूषण, उपहार की चीजें, आदि सम्मिलित हैं।

Sculpture और Painting की दृष्टि से यह कला बढ़कर है और वह है इस विषय में बन्धन, मुक्ति और स्वतन्त्र कल्पना।

इतिहास—इस कला का इतिहास जानना बड़ा कठिन है क्योंकि प्रत्येक काल में प्रत्येक प्रकार की मूर्त्तियों की सम्भावना। इसीलिए Kramrisch ने इसे 'ageless' या 'timeless' कहा है।

इन मूर्त्तियों का कालनिर्धारण दो तरह से किया जा सकता है—हाथ से बनी मूर्त्तियाँ पहले की हैं और साँचे की बनी मूर्त्तियाँ बाद की। इन मूर्त्तियों के कपड़े और गहने आदि को देखकर पता लगाया जा सकता है कि इस प्रकार की पोशाक का प्रचलन अमुक काल में था। सिन्धु घाटी की सभी मूर्त्तियाँ हस्तनिर्मित और भद्दी हैं। मौर्यकाल के नमूने भी बहुत Crude और Primitive हैं।

शुंग—कण्व काल (200 B. C. to15 th Cen. A. D.) की मूर्त्तियों में स्त्रियों की संख्या अधिक है। उनकी धोतियों, वस्त्रों, आभूषणों को बड़ी सुन्दरता से बनाया गया है। चेहरे अपेक्षाकृत कुछ भारी हैं। इनके चेहरों और कभी-कभी वस्त्रों पर ग्रीक प्रभाव स्पष्ट दीखता है।

शक-कुशाण काल की मूर्त्तियों में एक नवीनता परिलक्षित होती है। स्त्री-मूर्त्तियों के चेहरों पर हास की छटा विराजती है। आँखें बड़ी-बड़ी दूर तक फटी हुई। लम्बी नाक वाले गायक वाद्य-यन्त्रों के साथ, घोड़ों पर सवार मूर्त्तियाँ आदि सर्वप्रथम इसी काल में बनाई गई हैं।

ईसा की इन प्रारंभिक शताब्दियों में Dies & stamping का प्रयोग प्रारम्भ हो चुका था। रंगों की चित्र-विचित्रता भीत में प्राप्त एक नमूने में दर्शनीय है।

गुप्तकाल में कुछ पूर्व की मूर्त्तियों के सिर तो साँचों में ढले और शेष शरीर हस्तनिर्मित होता था। गुप्तकाल की मूर्त्तियाँ पूर्वतः साँचे में ढली होती थीं।

अहिच्छत्र, राजघाट, पहाड़पुर और मयनामती की मूर्त्तियाँ विशेष महत्त्व की हैं। अहिच्छत्र की मूर्त्तियाँ करीब-करीब life size हैं। उन्हें पकाने के लिए 10′ × 12′ की भट्ठियाँ। राजघाट के चेहरे प्रसिद्ध हैं। पहाड़पुर और मयनामती की मूर्त्तियों में रचना-सौन्दर्य, भाव-प्रवणता और सुन्दर कल्पना है।

२१. *चैत्य*--मूर्त्ति-पूजा के प्रचलन के पूर्व बौद्ध मतानुयायी उन स्तूपों की ही पूजा करते थे जिनमें महात्मा बुद्ध की यादगारें रखी होती थीं। इन पूजित-स्तूपों को ही चैत्य कहते हैं।

अशोक-कालीन कुछ चैत्य तो ईंटों के बने हैं किन्तु अन्य बहुत से चैत्य पहाड़ों को काटकर बनाये गए हैं। ये ही सर्वाधिक स्थायी हैं।

भारतीय चैत्य कक्ष का विकसित रूप क्रिश्चियन चर्च से कुछ मिलता-जुलता है। लम्बा आयताकार कक्ष, पीछे का भाग गोलाई लिये हुए, अन्दर का भाग naive, apse, और aisle इन तीन भागों में विभक्त। apse में ही एक छोटा सा स्तूप, जिसकी पूजा की जाती है।

अशोक ने आजीवकों के लिए सुदामा नामक गुफ़ा बनवाई। इसके दो भाग। बाहरी भाग आयताकार और आन्तरिक भाग वृत्ताकार। दोनों के बीच में एक दीवार होती थी किन्तु एक संकरा दरवाजा है जिससे इधर-उधर आना-जाना हो सकता है। वृत्ताकार भाग के ऊपर एक अर्द्धवृत्ताकार गुम्बद बना है।

बराबर वर्ग में सर्वप्रथम लोमश ऋषि की गुफा है। यह अपूर्व है। मौर्यकालीन है। सुदामा गुफा से मिलती-जुलती है। आन्तरिक भाग की जगह अंडाकार।

विकास का दूसरा रूप भाजा, कुण्डा 'पिटाल खोरा' में मिला है। भाजा पूना के पास पश्चिमी घाट पर है। खम्भों की संख्या २७। ये खम्भे ११′ से कुछ ऊँचे और बिल्कुल सादे हैं। कारीगरी सुदामा और लोमश ऋषि की गुफाओं से बिल्कुल अलग और कहीं बढ़कर है।

विकास की अगली सीढ़ी वेदसा गुफ़ा है। आकृति और व्यवस्था

सर्वथा नवीन और इसके खम्भों पर सुन्दर खुदाई है। इसमें दो मंज़िलें। ...न्न खिड़कियों का होना इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। अपेक्षाकृत इस... ...ीगरी भी अधिक। इसका समय लगभग ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध है।

नासिक की गुफा में कुछ और भी नवीनता जोड़ी गई है जैसे जालीदार पर्दे, खम्भों का आकार भी भिन्न। पूजित-चैत्य की लम्बाई पहले से अधिक। इसका समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का अन्तिम प्रहर जैसे करीब १६० B. C.।

कार्लो का चैत्य सभी से बड़ा है। १२४'.३" लम्बा और ४५'६" चौड़ा है।

२२. *मौर्यकालीन कला*—इस युग से पूर्व के स्मारकों के चिह्न उपलब्ध नहीं होते। अशोक के पूर्व लकड़ी के प्रयोग के कारण स्मारकों का विनाश हुआ किन्तु अशोक ने पाषाण का प्रयोग किया अतः उसके अनेक स्मारक आज भी भारतीय भास्कर कला के अनुपम नमूनों का प्रदर्शन कर रहे हैं। उस काल की कला चार भिन्न-भिन्न स्मारकों में विभक्त थी :—

(क) राजप्रासाद और भव्य भवन।

(ख) गुफाएँ।

(ग) स्तूप।

(घ) लाट या स्तम्भ।

राजप्रासाद और भव्य भवन—चन्द्रगुप्त ने अनेक भवन और राजप्रासादों का निर्माण स्तम्भों पर तरह-तरह की मूर्त्तियों द्वारा किया। मेगस्थनीज़ ने इनकी बड़ी प्रशंसा की और कहा कि चन्द्रगुप्त के प्रासाद ईरान की राजधानी सूमा के राजप्रासादों से अधिक सजे हुए थे। अशोक ने भी अनेक भवन बनवाये। उस समय के यूनानी लेखकों ने इनके बड़े-बड़े सुन्दर अनुपम विवरण दिए हैं। १०० वर्ष बाद जब फ़ाहियान ने आकर इन्हें देखा तो विश्वास न हुआ कि ये महल मनुष्यों के बनाये हुए हैं।

गुफाएँ—गुफाएँ पत्थरों को काटकर निकाली जाती थीं। इसमें अन्दर की ओर एक चमकीला रोग़न लगता था। इनका प्रयोग भिक्षुओं के रहने के लिए होता था। उपासना करने के लिए और सभाभवन का काम देने के लिए भी ये गुफाएँ थीं। अशोक और दशरथ ने अनेक गुफाएँ बनवाईं। ये गुफाएँ मुख्यतः नागार्जुन और बड़ाबड़ की पहाड़ियों पर हैं। मौर्यकाल में गुफाएँ ४०० या ५०० थीं।

स्तूप—बुद्ध या किसी अन्य बौद्ध साधुओं की अस्थि आदि के ऊपर समाधि रूप में स्तूपों का निर्माण। गोल गुम्बद के आकार का पत्थर या ईंटों का बना होता था। इसके चारों ओर पत्थर का बना घेरा। कहते हैं कि अशोक ने ८४००० स्तूप भारत और अफ़गानिस्तान में बनवाये। ८०० वर्ष बाद ह्वेनसाँग ने इन्हें आकर देखा और उल्लेख किया। सर्वप्रसिद्ध सांची का स्तूप है। इसका व्यास १२१½ फीट और ऊँचाई ७७½ फीट है। इसके चारों ओर ११ फीट की ऊँचाई का एक घेरा। Sir John Marshall का मत है कि अशोक-कृत स्तूप इसका आधा था। बाद में इसका आकार बढ़ा दिया गया।

लाट या स्तम्भ—ठोस पत्थर के बने ये स्तम्भ जिनका भार ५० टन तक और ऊँचाई ४०′ से ५०′ तक है। भास्कर कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। V. A. Smith का कथन है कि इन स्तम्भों की स्थापना, निर्माण और स्थानान्तर इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय के शिल्पी और इंजीनियर किसी भी देश के कलाकारों से कम न थे। ये स्तम्भ चुनार के पत्थरों से बनाये गए। इन प्रतिमाओं का आकार और स्तम्भों की चिकनी पालिश शायद सभी फ़ारसियों के अनुकरण पर है। स्तम्भ के तीन भाग होते थे :—

(अ) *जमीन में गढ़ा हुआ*—इस पर मोर की आकृतियाँ बनी होती थीं। शायद चन्द्रगुप्त का पिता मोर रखता था।

(आ) *पृथ्वी के ऊपर का गोल तना*—ऊपर की ओर धीरे-धीरे मोटाई कम होती जाती थी।

(इ) *शीर्ष*—तने के ऊपर का भाग है। इस पर सिंह, अश्व, वृषभ

आदि की आकृतियाँ। इनके साथ-ही-साथ धर्म-चक्र अंकित किया गया है और उसके नीचे उल्टा कमल का पुष्प बनाया गया है।

तारीफ़ यह है कि तीनों भागों में एक ही पत्थर लगा है अर्थात् अलग से नहीं जुड़े हैं। इन पर चिकनी पालिश है।

(ई) *सारनाथ का स्तम्भ*—सर्वोत्तम है। ४ सिंहों की मूर्त्तियाँ—जिनके मुख बाहर की ओर। इनके नीचे की ओर अन्य आकृतियाँ चित्र-कला के अनुपम नमूने हैं। सिंहों के निर्माण में कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। Sir John Marshall का मत है कि यह सिंह-कला शैली और टेकनीक की दृष्टि से कला के सर्वोत्तम नमूने हैं। सारनाथ के 'शीर्ष' के विषय में Dr. V. A. Smith का मत है—"संसार के किसी भी देश में प्राचीन भास्कर कला के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण अथवा काव्य के ऐसे सुन्दर नमूने जिनमें सजीव कला-कृतियों का और आदर्शवाद का समन्वय हुआ है और जिनमें प्रत्येक बात का पृथक्-पृथक् सविस्तार प्रदर्शन हुआ हो, पाना दुष्कर है।"

२३. कुषाण कला—बौद्ध-धर्म के प्रसार में अशोक के बाद दूसरा नम्बर है। साहित्य और कला का प्रेमी। उसके शासन-काल में गान्धार-कला नामक नवीन शैली का आविर्भाव हुआ। इसने भास्कर कला को प्रभावित किया। इसके दरबार में नागार्जुन और अश्वघोष।

गान्धार शैली—उस समय गान्धार एक ऐसा प्रदेश था जहाँ कि कई संस्कृतियाँ आकर मिलीं। पूर्व से भारतीय—उत्तर-पश्चिम से यूरोपीय (मुख्यतः ग्रीक), संस्कृतियों को मिलाया। अतः इस कला को Indo-Greek Graeco-Roman, या Graeco Buddhist या Indo-Helenic art भी कहते हैं। गान्धार में यह कला उत्पन्न हुई इसका नाम गान्धार कला पड़ा। इस कला में निर्माण-शैली यूनानी है। किन्तु भाव-प्रकाशन भारतीय अर्थात् आकार यूनानी किन्तु आत्मा भारतीय। बुद्ध की प्रतिमाएँ सर्वप्रथम इसी काल में बनीं।

बुद्ध और बोधिसत्वों की सुन्दर प्रतिमाएँ, ध्यान मुद्रा, धर्म-चक्र मुद्रा, अभय मुद्रा आदि में। बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त और पिछले जीवन

की घटनाओं का पत्थर में अलौकिक ढंग से चित्रण। कहा जाता है इस कला के कलाकार का हाथ यूनानी किन्तु मस्तिष्क भारतीय था।

कनिष्क के समय में अनेक स्तूप, मठ और मूर्त्तियों का निर्माण हुआ। पेशावर और लाहौर के अजायबघरों में जो मूर्तियाँ सुरक्षित हैं वे पत्थर की बनीं। किन्तु तक्षशिला की खुदाइयों में जो मूर्त्तियाँ मिली हैं वे पकी हुई ईंटों और चूने से बनाई गई हैं।

इस कला की कुछ विशेषताएँ

(क) उच्च कोटि की नक्काशी और भावना तथा अलंकारों का उत्तम सम्मिश्रण। बुद्ध की Conventionalized आकृति। यूनानी देवता अपोलो की आकृति के समान।

(ख) मूर्त्ति निर्माण करते समय वास्तविकता पर अधिक ध्यान। माँसपेशियाँ, वस्त्रों की सलवटें तक साफ-साफ झलकती हैं।

२४. गुप्त कला—"Indian art has reached its climax during the Gupta-Age" Justify इस प्रश्न का समाधान:—

इस काल में स्थापत्य कला, मूर्त्ति कला, चित्रकला, मुद्रा कला आदि में चकाचौंध कर देने वाली प्रगति हुई। इस समय गान्धार शैली शनैः-शनैः क्षीण और लगभग विलुप्तप्राय हो गई। भारतीय कला ने इस काल में एक बार फिर से कला के उच्च कोटि के नमूने उत्पन्न किये। सौन्दर्य और भाव-प्रदर्शन में कमाल हासिल किया।

भास्कर कला—दो प्रकार की मूर्त्तियाँ।

हिन्दू धर्म की मूर्तियाँ—विष्णु, शिव, सूर्य आदि। बुद्ध मूर्त्तियों में कुछ नवीन बातें जो गान्धार कला में न थीं। कुषाण-काल की बुद्ध की मूर्तियों का सिर घुटा, इस काल में घुघराले बाल। वेश-भूषा में भी परिवर्तन। मुद्राओं में भी भारी परिवर्तन। अब इनके नेत्रों और मुख की आभा अधिक शान्त और ध्यानावस्थित, प्रभामण्डलों का भी आयोजन। ये मूर्त्तियां गान्धार शैलीवत् सौन्दर्य-प्रधान न होकर भाव-प्रधान रहीं।

गुप्त काल की कला में ३ शैलियाँ प्रचलित—मथुरा शैली, पाटलीपुत्र शैली और सारनाथ शैली। ये तीनों गान्धार शैली के प्रभाव से अलग हैं। इनमें पूर्णतः भारतीयता झलकती है। आदर्शवाद और सौन्दर्य की भावना का सुन्दर समन्वय। मूर्त्तियों में सजीवता है।

मथुरा की बुद्ध-मूर्त्तियों में शरीर व इन्द्रियों को संयत करके मस्तिष्क को एकाग्र करने का प्रयत्न झलकता है क्योंकि इस समय तक उन्हें ज्ञान-प्राप्ति न हो पाई थी।

सारनाथ की बुद्ध मूर्तियों में शान्ति, एकाग्रता, प्रशक्तता, मूर्त्तियों में हाथों की दशा से स्पष्ट है कि वे उपदेश कर रहे हैं। सारनाथ की मूर्त्तियां मथुरा की अपेक्षा अधिक कलात्मक और भावात्मक हैं।

दूसरे प्रकार की मूर्त्तियाँ पकी ईंटों से बनीं। ये तीन प्रकार की—१. देवी-देवताओं की। २. स्त्री-पुरुषों की। ३. पशु-पक्षियों की। ये सजीव और सौन्दर्यपूर्ण मूर्त्तियां उत्सवों में अधिक मात्रा में बिकती थीं।

वास्तु कला—मंदिरों, स्तूपों और विहारों का देश के एक छोर से दूसरे छोर तक निर्माण आज भी विद्यमान है। झाँसी में देवगढ़ का दशाश्वतार मन्दिर। कानपुर में 'भीतर' गोप का मन्दिर। जबलपुर में विष्णु मन्दिर, भूभरा का शिव मन्दिर, खोह का शिव मन्दिर, आसाम में ब्रह्मपुत्र के किनारे एक मन्दिर वर्गाकार क्षेत्र को घेरकर चहारदीवारी। उसके अन्दर देवताओं के मन्दिर के ऊपर ऊँचे कलशों का रिवाज अभी न हुआ था।

सारनाथ का स्तूप, एलोरा का चैत्य और नालन्दा का ३००′ ऊँचा बौद्ध मन्दिर।

अनेक गुफाओं का भी निर्माण—अजन्ता, एलोरा और आन्ध्र प्रदेश की गुफाएँ। दक्षिण में मोगुलराज पुरम्, डण्डा बिल्ली की गुफाएँ भी प्रसिद्ध हैं।

स्तम्भों का भी निर्माण—गाजीपुर में एक स्कन्दगुप्त का स्तम्भ और इसी शैली में भी एक स्तम्भ।

२५. *चित्रकला*—अजन्ता गुफाओं की दीवारों पर चित्रकारी, जिनकी विश्व में मुक्तकंठ से प्रशंसा है।

अलंकृत करने के लिए आकृतियाँ जैसे पुष्प-वृक्ष, पशु-पक्षी, देवी-देवता आदि। बौद्ध-ग्रन्थों से ली गई कथाओं के दृश्य।

बुद्ध और बोधिसत्त्वों के चित्र।

कल्पना और सौन्दर्य का सुन्दर समन्वय। भावों की भिन्नता आश्चर्य-जनक है।

अजन्ता के चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह, चिन्ता, आदि सभी भाव हैं, पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, प्रशान्त तपस्वी और देवोपम राज-परिवार से लेकर क्रूर व्याध, निर्दय वधिक, साधु-वेशधारी धूर्त, वारवनिता, शृंगार में लगी नारियों तक सकल मानव-व्यापार अंकित हैं। इन चित्रों में मानव की भिन्न-भिन्न भावनाओं, कल्पनाओं, सामाजिक और धार्मिक पहलुओं का चित्रण है। किन्तु आध्यात्मिकता सर्वत्र अक्षुण्ण है।

२६. *मुद्रा कला*—सोने और चांदी के सिक्के ढाले जाते थे। आकर्षक आकार। इन पर गुप्त सम्राटों की मूर्त्तियां, उनकी कीर्ति-गाथाएँ, लक्ष्मी, गरुड़ध्वज और सिंह की मूर्त्तियां आदि।

धातु-कार्य—कुतुबमीनार के पास में खड़ा लौह-स्तम्भ कुमार-गुप्त प्रथम, द्वारा बनवाया गया। यह ढाल का बनाया गया था। इसकी ऊँचाई २३½' और व्यास १६' और भार करीब ६ टन था। आज भी ज्यों-की-त्यों है। इसका निर्माण ४१५ ई० में हुआ। इसी प्रकार सुल्तान गंज में प्राप्त हुई ताँबे की ढली बुद्ध प्रतिमा, नालन्दा में ह्वेन-सांग ने भी देखी। आज अप्राप्त है।

संगीत तथा नृत्य कला—गुप्त सम्राट् स्वयं संगीत-प्रेमी थे। समुद्रगुप्त अपने सिक्कों में वीणा बजाता हुआ अंकित किया गया है।

भूमरा के शिव मन्दिर में शिव के गण भैरवी और झाँझों को बजाते हुए दिखाये गए हैं।

सारनाथ में उस समय की नृत्य करती नारी की प्रतिमा प्राप्त हुई है। इसके चारों ओर अन्य नारियाँ बाँसुरी, भेरी इत्यादि को बजाती हुई खड़ी हैं।

इस काल की कला की विशेषताएँ—

इस युग का कलाकार प्राचीन रूढ़िवाद को छोड़कर स्वयं स्वतंत्र शैली अपनाता है। सौन्दर्य और अलंकार को वह तिरस्कृत रूप नहीं देता कि स्वाभाविकता ही नष्ट हो जाय। संतुलन का विशेष ध्यान। अपनी कला में अध्यात्मवाद को विशेष स्थान दिया। इस कला में धार्मिक तत्व प्रधान हैं। धर्म-सम्बन्धी आकृतियाँ बनाकर धर्म का ही प्रचार किया गया। इस कला में आत्मा और आकार का पूर्ण संतुलन करके महान् विचार को सरलता और स्वाभाविकता के साथ दिखाया गया। इस कला ने विदेशों में भी पहुँचकर बड़ा प्रभाव डाला। इस प्रकार गुप्त-काल की कला उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी।

चित्रकला (Painting)

२७. *चित्रकला की प्राक्कालीनता*—'महाभारत' में राजकुमारी उषा के पास चित्रलेखा नाम की एक चित्रकर्म-कुशल सहेली का उल्लेख है। 'विनय-पिटक' के अनुसार 'आम्रपाली' में विभिन्न चित्रकारों को आमंत्रित करके उनसे विभिन्न राजाओं, रईसों और वणिकों के चित्र बनवाये थे। चित्रगत बिम्बसार को देखकर वह प्यार करने लग गई थी। 'विनय-पिटक' में ही राजा प्रसेनजित के Pleasure palace में चित्रकारों का होना वर्णित है।

अतः स्पष्ट है कि बहुत पहले से ही भारत में धार्मिक और अधार्मिक चित्रकला का प्रचलन था।

Scope and Nature—मूर्त्तिकला की अपेक्षा अधिक प्रचलित और लोकप्रिय रही।

कामसूत्र—वात्स्यायन के अनुसार यह भी ६४ कलाओं में से

एक है। यशोधरा ने कामसूत्र पर टीका लिखी है और चित्रकला के षडंग बतलाए हैं। १. रूपभेद, २. प्रमाण, ३. भाव, ४. लावण्यक योजना, ५. सादृश्य, ६. वर्णिक भंग।

"विष्णुधर्मोत्तरम्' नाम की गुप्तकाल-रचित एक सुन्दर पुस्तक है। जिसका एक पूरा अध्याय चित्रकला से सम्बन्धित है। इसमें वज्रलेप-भित्ति तैयार करने की विधि, रंगों को तैयार करने और भरने की विधि, रेखाओं द्वारा छाया देने की विधि, भावना, चेतना, आकार, अंगों के अनुपात आदि का विवेचन है। इसमें चित्रकला का वर्गीकरण भी किया गया है—सत्य (Realistic), वैणिक Lyrical, नागर Secular, मिश्र Mixed.

यह कला अधिकांशतः Secular है। यद्यपि धार्मिक कथा-चित्रण में कुछ-कुछ Religious भी किन्तु, उसकी तह में भी Secular ही है।

चित्रकला के रूप—१. भित्ति चित्र, २. यमपट उदाहरण (विशाखदत्त का मुद्राराक्षस), ३. चरणचित्र (मृत्यूपरान्त मनुष्य का भाग्याभाग्य प्रदर्शन), ४. पटचित्र—कपड़ों पर रंगाई छपाई, ५. धूलि-चित्र—उत्सवादि पर चावल, गोधूम (गेहूँ), धातुराग, हल्दी आदि के चूर्ण से की गई चित्रकारी।

Extant remains—कालक्रम से क्रमशः—

जोगीमारा की गुफाएँ (1st Cen. B. C.), वेदसा की चैत्य गुफ़ा (3rd Cen.), बाघ की गुफाएँ (५००), पिटाल खोरा की चैत्य गुफा नं० (५००), अजन्ता की गुफाएँ (6th Cen.), कांचीपुरम् शैव मन्दिर और शित्तन्नवाशल का जैन मन्दिर आदि। इनमें भारतीय चित्रकला के क्रमिक विकास के दर्शन होते हैं।

Technique—'विष्ण धर्मोत्तरम्' की वज्रलेप-विधि का प्रयोग होना संभव नहीं प्रतीत होता।

बालू, मिट्टी, गोबर, चोकर और गोंद मिलाकर एक Paste like पदार्थ बनाया जाता था। उसे भित्ति पर लिपा जाता था। फिर एक-

सा level करके Polish की जाती थी। गीली अवस्था में ही चूने से पोतना, ताकि पक्का पड़ जाय। सूख जाने पर रंग भरना।

पहले रूप-रेखा खींचना, धातुराग से फिर रंग भरना। गहरे हल्के रंगों से प्रदर्शन नहीं होता था।

मुख्य रंग—१. धातुराग (लाल), २. कुकुभ (गहरा लाल), ३. खदिराटी (सफेद), ४. गेरू माटी (कत्थई) और ५. जांगल (हरा)। बाणभट्ट ने मनःशिला से बनाए जाने वाले एक पीले रंग का भी उल्लेख किया है। नीले के छोड़कर सभी रंग आसपास ही मिल जाते थे। नीला रंग जयपुर से या विदेश से। कभी-कभी मिश्रित रंगों का भी प्रयोग होता था जैसे भूरा।

२८. *अजन्ता की गुफाएँ*—अजन्ता की घाटी में १६ गुफाएँ हैं। गुफाओं के आसपास पारिजात का वन है। यहाँ पर पहाड़ी अर्द्ध-चन्द्राकार है। गुफाओं के सामने बघेरा नदी बहती है।

अधिकांश चित्र मिट गए, फिर भी वनस्पति, देवता, अप्सरा, किन्नर और मनुष्यों के कई चित्र आज भी अवशिष्ट हैं।

ये चित्र सुन्दरता में विश्वभर में अपना सानी नहीं रखते। तात्कालिक मनुष्यों की जीवन-विधि का सुन्दर चित्रण है। इसमें स्वाभाविकता है।

सामान्य चित्रों का 'friezes' and 'Parcles' में वर्गीकरण किया गया है। जातक कथाचित्रों का वर्गीकरण Compartment में किया गया है।

उक्त चित्रों की आकृतियाँ विभिन्न अवस्थाओं में (Poses) में चित्रित हैं। विविध रंगों का भी प्रयोग किया गया है। रेखाओं और रंगों का सुन्दर समन्वय है।

गुफा नं० १६ में तीन बुद्ध की, एक सोती स्त्री की, और एक मरणासन्न राजा की मूर्त्ति है। पहाड़ को काटकर इसका मुख्य द्वार बनाया गया है जिसकी गहराई १५" और चौड़ाई ५२" है। अन्दर प्रवेश करने के

लिए अन्य चैत्यों में एक द्वार, किन्तु इसमें तीन द्वार हैं। एक Nave को जाता है शेष दो अगल-बगल के aisles को।

Nave (नाभि) और Aisles (मार्ग) के बीच में ३७ खम्भों की इकहरी पंक्ति दर्शनीय है। Apse के चारों ओर के स्तम्भ सादे और अष्टपाल वाले हैं। Nave के दोनों ओर के स्तम्भों पर घुटनों के बल बैठे हुए हाथियों, घोड़ों चीलों और सवारों आदि की शीर्ष-मूर्त्तियाँ हैं।

इसकी छत सपाट न होकर Vaulted है। छत की सर्वाधिक ऊँचाई ४५" है।

एक और प्रचलित प्रथानुसार एक पूजित-स्तूप भी है, जिसके ऊपर 'हर्मिका' भी है और लकड़ी का 'छत्र' भी। इसके कारण चैत्य की सुन्दरता में चार चाँद लग जाते हैं।

उक्त तीन दरवाजों के ऊपर एक घोड़े की नाल के आकार की खिड़की है। इसी में से होकर चैत्य कक्ष Nave और स्तूप में प्रकाश आता है। किन्तु अगल-बगल वाले Aisles में अंधेरा रहता है। इसका समय ८० B. C. है।

१९वीं गुफा—सबसे छोटी, चौकोर कक्ष, पीछे की ओर Apsided वाली है। इसके चारों ओर, और कक्ष की दोनों लम्बाइयों के सहारे उत्कीर्ण खम्भे हैं। द्वार पर एक portico भी है। horse shoe-windows भी हैं।

२०वीं गुफा—बनावट में सामान्यतः वैसी ही है, किन्तु कारीगरी और सजावट अधिक है। पूरे कक्ष की चौड़ाई के बराबर Partico और इसमें भी तीन द्वार हैं'

एलोरा की पहली गुफा—अर्थात् विश्वकर्मा गुफा—अजन्ता के चैत्यों से बड़ी आकार की है, अन्दर की बनावट वैसी ही है, किन्तु उतनी सजावट नहीं है। प्रलम्बपाद आसन में बैठे बुद्ध की विशाल मूर्त्ति दर्शनीय है। अश्वखुराकार खिड़कियाँ इसमें नहीं हैं।

२६. *बाघ गुफाएँ*—ग्वालियर राज्य में गुफा नं० ४— ठीक अजन्ता की और दूसरी गुफाओं के समान। दोनों में जातक कथाएँ। अन्तर केवल इतना कि अजन्ता में Religious outlook; बाघ में Secular और Contemporary life. अजन्ता की अपेक्षा बाघ में बुद्ध-प्रतिमाएँ अधिक सजीव और life like.

गुफा नं० ३—Female chauri bearer के चित्रण में शायद उस युग की सम्पूर्ण Technical knowledge समाविष्ट थी। ये Soft, delicate, but full bodied woman हैं। इनकी छातियाँ आकर्षक हैं। रंगों की सुन्दर योजना है।

३०. *स्तूप*—बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि मेरी मृत्यु के बाद दाहक्रिया से अवशिष्ट अस्थियों को किसी चतुष्पथ पर रखकर उस पर एक स्तूप बनवा देना। अतः स्पष्ट है कि स्तूप-निर्माण-पद्धति बौद्ध धर्म से भी पूर्व से चली आ रही है। वैसे तो जैनियों में भी स्तूप बनवाने की प्रथा थी किन्तु इस प्रथा का अधिकता से प्रचलन तो सर्वप्रथम बौद्ध-काल में ही हुआ।

इन स्तूपों का अर्द्धवृत्ताकार रूप सम्भवतः अन्त्येष्टि-क्रिया में प्रयुक्त उन मृत्तिका-पात्रों की अनुकृति पर हुआ जिनके नीचे वैदिक विधानानुसार मृतक की राख गाड़ी जाती थी।

आज के उपलब्ध स्तूपों में सबसे पुराना स्तूप नैपाल की सीमा पर स्थित Piprahwa नामक स्थान पर है। ईंटों का बना हुआ है। इस स्तूप का diametre at the base=११६′ है। यह २२′ ऊँचा है। इसमें बुद्ध-सम्बन्धी कुछ उत्कीर्ण लेख भी हैं।

कनिष्क द्वारा पुरुषपुर (पेशावर) में निर्मित पगोड़ा एशिया-भर में सर्वप्रसिद्ध है। यह बुद्ध का स्मारक है। चीनी यात्रियों ने इसका सुन्दर वर्णन किया है। पहले पाँच खंडों की ऊँचाई १५० फीट, इसके बाद १३ मंज़िल लकड़ी की बनीं, जिन पर कि टीन जड़ी है, उनकी ऊँचाई ४००′, इसके बाद ताम्रछत्र जिनकी ऊँचाई ८८′। इस प्रकार पगोड़ा की कुल ऊँचाई ६३८ फीट। फ़ाहियान ने इसे जम्बूद्वीप

ने लकड़ी का स्थान ले लिया। किन्तु दुःख है कि उनमें अधिकांश का आधार भाग ही आज उपलब्ध है।

आगे चलकर पहाड़ काटकर विहार बनाये गए। इनमें से अशोक-कालीन 'बराबुदर' के विहार सबसे पुराने हैं। इसके बाद नागार्जुनी वर्ग के विहार हैं जिन्हें अशोक की ही परम्परा के एक राजा दशरथ ने बनवाया था।

विहारों की सामान्य व्यवस्था इस प्रकार है। एक महल कक्ष—एक ओर तो अन्दर आने के लिए द्वार, शेष तीन ओर cells का क्रम।

३२. **Aurangabad Caves**—औरंगाबाद के पास १२ गुफाएँ हैं। एक चैत्य है, शेष सभी विहार हैं। समय 7th cen. A.D. के लगभग है।

तीसरी गुफ़ा—पीछे की ओर बुद्ध की विशाल मूर्त्ति, कुछ स्त्री-पुरुष सामने घुटने के बल बैठे हैं। यहाँ कलात्मकता के दर्शन होते हैं।

सातवीं गुफ़ा की अजीब बनावट है। Shrine पीछे की ओर न होकर बीचोंबीच है जिसके चारों ओर परिक्रमा का मार्ग है।

३३. **Brahmanical Caves**—

सबसे पुरानी तो भिलसा के पास उदयगिरि में है। यह अंशतः तो Rock cut और अंशतः पत्थर की बनी हुई है। निर्माण-काल 5th Cen. A. D. के लगभग है।

इसके बाद बीजापुर जिले के पास बादामी पहाड़ियों पर की गुफाएँ हैं। समय करीब 500 A. D. है।

द्रविड़ देश में ऐसी गुफाओं का अभाव था। 7th Cen. A. D. के प्रथम प्रहर में पल्लव राजा महेन्द्र वर्मन् ने सर्वप्रथम ऐसी गुफाएँ बनवाईं। ये गुफाएँ बिल्कुल Primitive type की हैं अतः नवसिखुआपन स्पष्ट है। महेन्द्र वर्मन के राज्यकाल के अन्तिम प्रहर में storeyed caves भी बनीं। खम्भों के आधार में भी परिवर्तन किन्तु design वैसी ही।

इसके बाद महेन्द्र बर्मन के लड़के नरसिंह वर्मन महाभट्टक ने भी

मामल्लपुर में ऐसी कुछ गुफाएँ बनवाईं। आधार तो पूर्व की गुफाओं जैसा ही था किन्तु सज्जा अधिक।

एलोरा की १६ गुफाएँ इसी प्रकार की हैं। समय इस (650 A. D.) गुफाओं के दो वर्ग—(i) दो मंज़िल वाली, (ii) पूजित चैत्य के चारों ओर प्रदक्षिणा वाली।

Jain Caves—इनकी संख्या और भी कम है। बादामी की एक गुफा और दूसरी एहोल की। इनका समय 7th Cen. A. D. है। Most notable गुफाएँ तो Ellora की हैं। समय 800 A. D. ५ गुफाएँ जिनमें ; ३ महत्वपूर्ण हैं—छोटा कैलास, इन्द्र सभा और जगन्नाथ सभा। इन गुफाओं की कारीगरी अत्यन्त सुन्दर है।

३४. मौर्य-काल की कला—वैशाली, रामपुरवा, लौरिया नन्दन-गढ़, देई, संकिशा, सारनाथ, सांची आदि के Animal capitals के भग्नावशेष अशोक-काल की शिल्प कला के प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए—

लौरिया नन्दनगढ़—यहाँ एक अशोक स्तम्भ है। V. Smith के अनुसार यह स्तम्भ सर्वोत्तम है। जिस पर एक सिंह की मूर्त्ति है। स्तम्भ गोल और बिना जोड़ का है अर्थात् एक ही पत्थर का है। स्तम्भ की ऊँचाई ३० फुट से भी अधिक और भार ५० टन के लगभग है। सुन्दर और कलापूर्ण ढंग से खुदाई। इससे ही उस काल की कला का अनुमान लग सकता है। स्तम्भों पर पशु-पक्षी आदि की खुदी हुई आकृतियाँ भी हैं। इस काल की कला में क्रमशः विकास हुआ है। इसके बाद दूसरी सीढ़ी में संकिशा है और रामपुरवा के सिंह आदि हैं। तीसरी सीढ़ी में सारनाथ का चतुर्मुखसिंह मूर्त्ति स्तम्भ है। ये सिंह पीठ मिलाये खड़े हैं। मध्य में एक धर्म-चक्र है जिसमें ३२ spokes हैं। सारनाथ का यह स्मारक अशोक के वैभव की याद दिलाता है। शान्ति का प्रतीक है। John Marshall ने इसे master piece कहा है। V. Smith ने भी इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

३५. शुङ्ग-कण्व काल की कला—भरहुत, बोधिगया और सांची में मंचों पर बनी मूर्त्तियाँ और खंडगिरि-उदयगिरि (भुवनेश्वर) की गुफाओं में दीवारों पर बनी मूर्त्तियां उस काल की प्रतीक हैं। ये मुख्यतः बौद्ध धर्म सम्बन्धी हैं। ये मौर्यकाल की अपेक्षा अधिक संख्यक लोगों के मस्तिष्क तथा उनकी प्रथाओं और विचारों का बिम्ब ग्रहण करती हैं।

भरहुत, बोधिगया, सांची, अमरावती और अन्य स्थानों की मंचों पर निर्मित मूर्त्तियाँ तात्कालिक भारतीय जीवन की झाँकी और विचार-परम्परा का प्रकटन करती हैं। इन मूर्त्तियों के नीचे प्रस्तर-शिलाओं पर बहुत सी बातें उत्कीर्ण हैं। नगर के द्वारों के पार्श्व-प्रस्तरों पर भी उत्कीर्ण चित्र हैं।

सांची स्तूप नं० दो की दीवारों पर भी उत्कीर्ण बेल-बूटे हैं। ये इस काल की कला के प्रथम प्रहर की कृति हैं। भरहुत के संग्रहालयों में कुछ तो प्रस्तर-शिलाओं पर ही उत्कीर्ण बेल-बूटे और कुछ पत्थरों पर ही खोदकर बनाई गई मूर्त्तियाँ द्वितीय प्रहर की कृति हैं। भरहुत की विशाल प्रस्तर-प्रतिमाएँ जैसे माया देवी का स्वप्न, त्रिमा देवता, सुदर्शन यक्षी और योद्धा आदि तृतीय प्रहर की कृति हैं। भरहुत में सीधे स्तम्भों के ऊपर बनी हुई विरूधक यक्ष, भोगेय यक्ष, चक्रवाक् नागराजा, त्रिमा देवता आदि की मूर्त्तियां भी हैं। इस काल के कलाकारों की अभिरुचि मानव-मूर्त्ति बनाने में अधिक थी। किन्तु यह कला साथ ही कलाकार के भावों का सुन्दर प्रकटन भी करती है। बहुत-सी बौद्ध कहानियों को केवल इन्हीं मूर्त्तियों द्वारा व्यक्त किया गया है।

बोध गया की मूर्त्तियाँ भरहुत के बाद की अगली सीढ़ी अर्थात् चतुर्थ प्रहर की कृति हैं। इन मूर्त्तियों में अनावश्यक चीजें बनाई गई हैं। मूर्त्ति को ही अधिक-से-अधिक अच्छी बनाने की कोशिश की गई है। इन मूर्त्तियों में अधिक सजीवता है।

३६. गान्धार काल की कला—यह कला भारत के उत्तर-पश्चिम के समीपवर्ती प्रदेशों में पल्लवित हुई। यह प्रदेश ऐसे स्थान पर बसा है कि यह आसानी से पारसी, ग्रीक, रोमन, शक और कुशाण सभ्यता के

सम्पर्क में आया। यहाँ पर यह कलात्मक प्रवृत्ति ५० B. C. से ५०० A. D. तक देखी जा सकती है।

गान्धार में यह कला एक व्यापार बन गई। विविध दूकानों में मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं।

इस काल की कला भारतीय है किन्तु उस पर ग्रीक और रोमन प्रभाव स्पष्ट है। नव सम्पर्क से प्राप्त ग्रीक कला को भारतीय आदर्श, विचार और विषय का जाना-पहचाना गया है। उनकी पोशाक स्पष्टतः ग्रीकों की-सी है। कुछ यक्ष, गरुड़, नाग और वज्रपाणि की मूर्त्तियों में दाढ़ी है। इसके अलावा भारतीय रीति-रिवाजों के अनुसार कुछ मूर्त्तियों में मूँछें, पगड़ी और गहने आदि भी हैं। इन मूर्त्तियों के विविध अंग ठीक अनुपात में हैं। बुद्ध और बोधिसत्त्व की कुछ मूर्त्तियाँ शुद्ध भारतीय कही जा सकती हैं।

Bimaran reliquary—इस काल की सर्वप्रथम रचना है। (५० B. C.) इसके बाद ईसा की पहली शताब्दी की मूर्त्तियाँ आती हैं। Jongai & Hastnagar की शीषविहीन दो बुद्ध-मूर्त्तियाँ, शाह जी की ढेरी की कनिष्क मूर्त्ति, संकह (Sakrah) ढेरी की हारीति मूर्ति आदि। इसके बाद ईसा की दूसरी शताब्दी की तक्षशिला की विभिन्न मूर्त्तियाँ कम मिलती हैं किन्तु मसाले की और पक्की मिट्टी की मूर्त्तियाँ अधिक। तक्षशिल के जौलिया और धर्मराजिका स्तूपों की तथा जलालाबाद के पास हड्ढा की इस प्रकार की मूर्तियाँ विशेष दर्शनीय हैं।

गान्धार कला के विषय में Kramriseh ने लिखा है—"Gandhar··· occupies a position apart. For, it is Indian and Colonial from a Hellenistic point of view, it is Hellenistic and Colonial when viewed from India."

गान्धार कला—Realistic प्रदर्शन ही इसकी विशेषता है। इस कला ने अन्य कलाओं को भी प्रभावित किया है जैसे मथुरा कला और अमरावती कला। भारत से बाह्य प्रदेशों में भी इस कला का बहुत सम्मान हुआ। यहाँ तक की पूर्वी द्वीप समूह, तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन,

कोरिया और जापान की बौद्ध कला की जननी यह गान्धार कला कही जाती है।

३७. मथुरा की कला—(i) इस प्रदेश की प्राचीनतम कृतियाँ तो भरहुत के काल की मानी जाती हैं। किन्तु इस काल की तीव्र प्रवृत्ति A. D. १५० से ३०० तक देखी जा सकती है। यहाँ की बनी मूर्त्तियाँ मध्य-एशिया, तक्षशिला, श्रावस्ती और सारनाथ आदि में भेजी जाती थीं। यहाँ की मूर्त्तियों की एक विशेषता यह है कि ये Sikri की चितकबरी लाल बालू से बनी हैं।

भूतेश्वर स्तम्भ में एक खड़ी यक्षिणी की मूर्त्ति, लोणशोभिका—आयाग—पर और कंकाली टोला आयाग आदि पर की मूर्त्तियाँ कनिष्क के पहले की हैं। ये आकार में बड़ी और कुछ भद्दी-सी हैं।

इसके बाद बैठे या खड़े बुद्ध या बोधिसत्त्वों की मुस्कराती मूर्त्तियाँ आती हैं। यथा मैत्रेय बोधिसत्त्व की मूर्त्ति। ये मूर्त्तियां प्रथम शताब्दी के अन्तिम प्रहर और द्वितीय शताब्दी की हैं।

द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध की कुछ मूर्तियाँ भी हैं जो कि गान्धार-कला के अनुसार ही बनाई गई हैं।

कुछ सीरिया की कला से प्रभावित हैं। शक-कुशाण राजाओं की मर्त्तियाँ भी हैं, यथा कनिष्क की मूर्त्ति। ये मूर्त्तियाँ प्रथम शताब्दी के अन्तिम प्रहर की हैं।

कुछ रोमन कला से प्रभावित मूर्त्तियाँ भी हैं जैसे Herakles, Nemean lion तथा Bacchánation scenes की मूर्त्तियाँ।

इनमें सबसे अधिक संख्या में स्वदेशी मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं जैसे बुद्ध, बोधिसत्त्व और यक्ष-मूर्त्तियाँ। यक्षिणी, वृक्ष का, अप्सरा, या शृंगार-प्रसाधन करती हुई स्त्रियों की मूर्त्तियाँ। ये सभी ईसा की द्वितीय शताब्दी की हैं।

मथुरा की कला सांची की कला से भी अधिक उपदेशात्मक है।

इस कला के तीन विविध स्वरूप हैं—(i) आदि। (ii) मध्य, (iii) उत्तरकालीन। प्रथम का साम्य भरहुत की Railings से है।

द्वितीय का साम्य सांची के तोरण द्वारों से। तृतीय में उस कला के दर्शन होते हैं जो सर्वथा Conventional and lifeless है।

अमरावती कला

३८. वेंगि प्रदेश की कला (कृष्णा-गोदावरी डेल्टा)—इसमें अमरावती की कलाकृतियाँ दर्शनीय हैं। मनुष्य, पशु और वनस्पति का जितना सुन्दर चित्रण यहाँ हुआ है उतना उत्तर भारत में भी नहीं हुआ। यहाँ की मूर्त्तियाँ संगमरमर की बनी हैं। N. R. Ray ने लिखा है—"Never so far was the delicate and Voluptuous beauty of the human form so richly and luxuriously conceived, and never were technical skill and efficiency more adequate for realisation of the conception.

उस प्रदेश की कला एक ओर तो भरहुत, बोध गया, और सांची की कला का छोर छूती है तो दूसरी मौर्य और पल्लव-कला के अर्थात् इसका समय 150 B. C. to 400 A. D. है।

कुछ मूर्तियों में जातक कथाओं का चित्रण हुआ है। किन्तु निर्वाण और स्त्रियों की उपेक्षा आदि की झलक कहीं नहीं मिलती। स्त्रियों के विविध अंगों को देखकर उनके कर्त्ताओं की भावुकता और रसप्रवणता स्पष्ट है।

इस काल की कला में प्रकृति के दृश्यों की न्यूनता है। कलाकारों का ध्यान अधिकतर मनुष्य पर केन्द्रित रहा। उनका विविध आधार अवस्था, रूप और दशा में चित्रण किया गया है।

जग्गाय्या पेटा, नागार्जुनी कोण्डा, और गोली आदि की कलाकृतियाँ अमरावती की अपेक्षा कुछ निम्न कोटि की हैं।

भवन-निर्माण कला में प्रयुक्त कतिपय अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी अर्थ

शब्द	अर्थ
	A
Abacus	फलक, स्तम्भ का उपशीर्ष भाग
Acanthus leaf design	बल खाती हुई पत्तियों या उल्टे पत्ते के समान की गई नक्काशी
Adytum	गर्भ-गृह
Agate	एक बहुमूल्य पत्थर
Alignment	लताकृति उत्किरण, क्रम भंग होने पर पुनः क्रम-प्राप्ति
Aligator-mouthed	नक्र मुखाकार
Alto-relievo	उभरी उकेरी
Ambulatory passage	प्रदक्षिणा पथ, जो स्तूपों के चारों ओर प्रायः होता है।
Amethyst	कुछ-कुछ नीला जामुन के रंग का पत्थर।
Amulet	तावीज, बजरबट्टू, रक्षाकरण्डक
Anklets	नूपुर, तोड़िया
Anthropomorphic	नराकृति
Applique	सम्पृक्त
Applying colours	रंगों का चित्रण
Architecture	स्थापत्य कला
Architrave	तोरण, धन्नी, धरण
Armlet	केयूर या छन्न

Astragal	चूड़ी या छल्ला
Allartes	कीचक या गुह्यक

B

Back-view	परावृत्त, पीछे का रुख
Balcony	झरोखा, छज्जा
Bamboo stick design	चम्पा छड़ी
Bangles	टड्ढे, तीन लड़ वाली सोने की चूड़ियां, जो कोहनी के पास पहनी जाती हैं।
Bavel roof (vaulted)	ढोलाकार छत
Basement	कुर्सी Site
Bas-relief	उत्कीर्ण शिलापट्ट
Basso-relievo	अर्द्धचित्र, निम्न उकेरी
Battlement	कँगूरा
Bay	चौकी, गुमटी
Beaded neckless	गुरियादार कण्ठा
Beads	मनके
Bead and real design	गुरिया ढोलने की सज
Belt clasp	बक्सुआ, पखा
Belly (of a pot)	पिटार (मध्य भाग)
Bodice	चोली
Bolts	हुड़के, कीलें, हुक
Brick-bats	ईंट के रोड़े या टुकड़े

C

Calyx	पद्म कर्णिका, बताशा, बॉर्डर के ऊपर की फुलकारी
Camber	गरदना, कुछ घुमावदार गलबहियां।

Carved in the round	कोर का काम जो मूर्त्ति के चारों ओर से देखा जा सके ।
Carving	उकेरना, फूल-पत्ती का काम
Cartouche	तावीज
Cast	ढार
Cats eye	लहसुनिया पत्थर
Cemetery	श्मशान
Cella	गर्भगृह
Cireperdue process	मधूच्छिष्ट विधि
Champher	पक्ख मारना
Chevron	सिघाड़ा (उकेर कर बनाया हुआ)
Chiarascura	धूप छाँह (Light and shades effects)
Circumambulation	परिक्रमा
Citadal	ऊँची जगह बना मकान
Clamps	बक्सुआ
Cloister	एकचित (एकाकार)
Coin-cabins	मुद्रा, सिक्का, गृह
Commemorative stupe	उद्देशिक स्तूप
Concave	नतोदर, कमानीदार गोलाई
Conventional	ढर्रेदार
Convex	उन्नतोदर
Coping	मुँडेरी, उष्णीष
Corner shrine	कोणस्थित मन्दिर, खूँटरादेवल मन्दिर
Correet out line	सच्ची टिपाई
Couchant lion	उत्पित्सु सिंह, भुँइ चप्पी सिंह
Counter part	जवाबी

Coverlet	कुथ, प्रवेणी, उत्तरच्छद
Crescent and globule	पुष्पवन्तौ, चन्द्र और सूर्य
Conduits	नाली (प्रणाली)
Crease	वस्त्र भंगि, चुन्नट
Cross-section	आमने सामने की एक सी नक्काशी
Cunif form writing	कीलाक्षर
Curvilinear tower temple	रेखा देवल (Orissan)
Cusp	प्याल
Cyma	गोला-गलता

D

Dabber	स्थपुट, थपकी
Dabris	मलबा
Decorator and pager	वसलीगर
Diamond	हीरा
Dusting	खाका झाड़ना
Doorjamb	द्वार शाखा, पार्श्व स्तम्भ
Doorsil	देहली
Doorway	पौरी, द्वार
Drapery	नेपथ्य
Dwarf-pillar	अंघ्रि स्तम्भ
Double door jamb	दो पार्श्व स्तम्भ
Door jamb (Triple)	तीन पार्श्व स्तम्भ

E

Elephant pair	गज संघात
Elevation	उत्सेध विन्यास
Emerald	पन्ना, मरकत मणि
Enclosure	कटहरा

Exfoliation	चिट उखड़ना, पपड़ियाना
Expanded metal	बर्फीदार जाली

F

Facade (फसाद)	गुफा के द्वार का ऊपरी भाग जो उभरा रहता है, मुहार।
Facing of stone slabs	संगबस्त
Ferrule	चूड़ी, छल्ला, कड़ा
Festoon	गुच्छा, जालक, उष्णीष की चित्रकारी।
Finial	शिखर
Fish-tailed elephant	जल हस्ती
Flaking	पपड़ियाना, पार्श्व में होना
Flower band	फूल छड़ी
Flower basket	पुष्प करण्डक
Fluted	खारेदार चोटीदार
Flutings	खम्भे की डण्डी पर उभराव सींके
Fold of dhoti	पटली
Fret	जाली
Friez	अंचल, पल्ला, धरनी का अग्र भाग
Front elevation	खड़ा नक्शा
Full vase	पूर्ण घट

G

Gallery	वीथी
Garnat	तामड़ा
Gem inlay	नगीने का काम
Girdle	मेखला
Granulated	खुरदरी
Gravel	बजरी

Great decease	परिनिर्वाण
Groove	नाली, कुञ्ज
Grooved rim	गरारीदार किनारा
Grotesque mask course	ग्रासमुख
Ground plan	पाद विन्यास
Gypsum	गच पत्थर

H

Half medallion	परिचक्र, टिकिया
Hellow	प्रभा मण्डल
Hatched design	ककोरे की तरह खोदा हुआ, करेली
Hexo-gonal	छः पहलू
High light	चिलिक
Horse moulding	अश्वथर
Horse pair	हय संघात
Hymaritic writing	अमरी लिपि
Hymaric writing	आर्मीनियन, सुमेरियन, ब्राह्मी या अशोककालीन लिपि

I

Incense-burner	धूपदानी
Inlay	पच्चीकारी
Inter space	अन्तरी
Insting phallic	कूष्माण्ड

K

Kiosk	छतरी

L

Laminated	परतदार
Lapidarist	वैकटिक, रत्नतराश
Lapis lazuli	लाजवर्दी, राजावर्त (पत्थर)

Lattic work	पिंजर
Leogryph	व्याली
Linlet	सिरवल, पाटा
Locks	लटें
Lozenge	शकरपारा

M

Meander	गोमूत्रिका
Medallion	टिकिया, परिचक्र
Mellowing of colours	रंग बसना
Merlous	कंगूरे, कपिशीर्षक
Modelling	पोल, उभार
Modelling to show	पोल दिखाना
Modeller	कुम्हार, लेपकार, पुस्तकर्मा
Monestery	संघाराम
Monumetal	महेशाख्य
Mortise and tenon	गुहागहन
Moulded work	लेप्य चित्र, पुस्तकर्म
Moulding	चूड़ी, छल्ले
Mouldings-to make	छल्ले निकालना
Mound	टीला

N

Neck-moulding	पद्मबन्ध
Niche (Nitche)	कुड्यालय, आला, ताक
Notched impression	खंदेल

O

Onyx	संग सुलेमानी, गोमेद
Orb	सफेद धारीदार काला पत्थर

Orhani	ओढ़नी
Ornamental mask	कीर्त्तिमुख
Out line	रेखा चित्र
Ovel	बैजावी, अण्डाकार

P

Painting pearls or lac dye	मोती महावर का काम
Palmette	पद्महस्तक, थापा
Panel	तख़्ती, दिलहा, चौखटे जैसा कटाव
Papier mache	कुट्टी का काम
Parallelogram design	कनकौवे की बेल
Parasol	राजच्छत्र या संन्यासियों का छाता
Pavilion	बारहदरी
Pearl Festoon	मुक्ताजाल, मोती गजरे
Pear shape	भाले जैसी नोकदार
Pedestal	बैठकी पिढ़िया
Pellet	गोली
Pellet-reel border	गुरिया, गरारी की छड़
Pendant bells	किङ्किणी, घण्टालियाँ
Perspective	पूरा दर्शन
Petals	पंखुड़ियाँ
Pilastar	पकवे का आधा थमला बगली सतून
Pillar-capital	स्तम्भ-शीर्षक
Pinnacle	बुर्जी, गुलदस्ता
Pitting	टकोरना
Plaque (प्लाके)	टिकरा, टिकड़ी, चपटी मूर्त्ति
Plaster of Paris	सेलखड़िया का गच
Portico	बरसाती

Pat sherds	ठीकरे, खपरे
Preaching	धर्मचक्र प्रवर्तन
Profile	एकचश्मी side view
Promende	चँक्रम, आवागमन मार्ग
Pulpit	व्याख्यान वेदी (बुद्ध की)
Pinched marks	रूप, अंकान, चिकुटवाँ
Pinched nose	चपटी नाक
Pulley	चर्खी, गिर्री
Pulley block	बाला कुप्पी, दराबी
Pillar	सतून, स्तम्भ

R

Railing	चारदीवारी, बाड़
Railed Parapet	जगती
Rampant	उछलता हुआ, कूदता हुआ, couchant का विरोधी
Rampart	प्राकार, प्राचीर
Recessad	कसकेदार, कड़ेदार
Rectangular	चौपहलू
Rede-sand stone	संगे सुर्ख
Relic	धातु या हड्डियाँ
Relief	उभरवाँ उकेरी
Reliefinage	उभारदार मूर्त्ति
Repousse	ठप्पे का काम
Reliquary	धातुमञ्जूषा
Rim	किनारा
Ring	कङ्कण
Ring stones	गण्ड कुसूल, चकिया
Riveting	जड़ना
Rosette	फुल्ला, चंदक, टप्पा (fixed to a door leaf)

S

Sacred bell	वीर घोष
Sanctum	गर्भ गृह
Scalloped	हस्तिनख, बंगड़ीदार
Scroll	पत्रभङ्ग रचना
Semi-circle	अद्धा
Sepalo	बछेड़ी
Shade-light	नतोन्नत, निम्नोन्नत
Shoulder	गला, कन्धा
Shaft	स्तम्भ का मध्य भाग, दुण्डी middle portion of the pillar.
Shady-minute	धुआँधार परदाज़
Silhouttes	छाया
Stippling	वरतना, परदाज़
Shading	परदाज़, वर्तना
Sketching	आकार मातृका लेखन, बुत बाँधना
Skirts	दामन, लहँगा
Spout	टोंटी
Spandril	मरगूल, कुनिया
Spiral	घुमावदार
Square	चौपहलू
Statuetta	छोटी मूरत
Speatophygous	पृथुश्रोणी, नितम्बिनी
Stele	बालों की पटिया (सिर पर)
Step-well	वापी, बावड़ी
Strut	घुड़िया
Stucco	गच

Subsidiary Shrine	कोने का मन्दिर
Sunlight	अँजोरा
Symmetrical	सुडौल

T

Tapering	गावदुम, ऊपर की तरफ नुकीला
Terracotta	मिट्टी का खिलौना, साँचा, मृण्मूर्त्ति,
Tarrace	मेधि, Base, चबूतरा
Theris morphic	पशुविग्रह
Three celled temple	त्रिकूटाचल
Tie and dye	बाँध नू की रंगाई
Tile	चौका (चतुष्कोण पत्थर आदि)
Topaz	पुखराज
Torus	गोला, semi circular
Tracery	जाली की नक्काशी
Torso	धड़
Trefoil	तीन काँटेदार
Trellis work	जाली
Trifoil arch	सबीगण्डी वसा
Tumulus	चैत्य, चितासम्बन्धी
Tunic	• कंचुक
Tracing paper	चर्बा
Tympanum	कछोटेदार

V

Variety	बाना
Vase	घट
Vault	गुम्बज
Vestibule	अन्तराल मण्डप

W

Waist band	कटिबन्ध
Weeping willow tree	छोंकर का पेड़
Wheel of life	भव चक्र
Winged harpy	सुपर्ण, पंखदार मनुष्य
Wrapper	उपरना, उत्तरीय
Wrislet	पहुँची
Worshipful column	आर्यकस्तम्भ

अन्य उपयोगी शब्द

Gneiss	एक प्रकार की चट्टान
Nave	खोह, छिद्र
Side aisles	क्षुद्र मार्ग
Soffit	महराब का निचला भाग
Tiers	पंक्तियाँ
Coiffeur	केश-विन्यास प्रसाधिका
Ribs	गोलाई
Figurine	छोटी मूर्त्ति
Law of frontality	उभरी मूर्त्ति बनाने का नियम
Wattle of damb	एक सिद्धान्त नक्काशी का
Palisades	बाड़ा
Votive Tablet	आयोग पीठ
Cella	गर्भगृह
Medallion frieze	फुल्ला गोलाकार चित्र में की गई कारीगरी।
Jambs	द्वारस्तम्भ, या वह आड़ा पत्थर जो वेदिका स्तम्भों के बीच में लगाया जाता है उसे सूची भी कहते हैं।

Celts	प्रागैतिहासिक अस्त्र
Myriads	अगणित
Alfa	आदि
Omega	अन्त
Exotic	वैदेशिक
Reliefs	उकेरे हुए चित्र
Refactory	विद्रोहात्मक
Metieculous	सर्वाङ्गपूर्ण कारीगरी
Contours	रेखा चित्र
Coping stone	उष्णीष, सरदल
Apsidal	गुम्बद (जैसे चर्च में होते हैं)
Cartage	नौकरों के रथ आदि, या उनका भाड़ा।
Pleque	टीकरा
Aisles	बरोठे
Pilasters	छोटे स्तम्भ
Frescoes	भित्ति-चित्र
Pigments	अनेक रंगों का मेल
Virile	पुरुषत्वपूर्ण
Numismatic	नाणक शास्त्र, मुद्रा शास्त्र
Ceramic	खिलौने
Coffirs	केशविन्यास
Medallion	फुल्ला, स्तम्भादि के बीच फुलों का चित्र।
Motifs	दृश्य
Tumuli	टीला
Shaft	स्तम्भ
Votive	पूजनीय

Apex	चोटी, शिखर, हर्मिका
Sand stone	बालू का बना एक प्रकार का पत्थर।
Vault	गुम्बज (द)
Pedestal	चरण चौकी
Cella	गर्भगृह, जहाँ मूर्ति रखी होती है।
Centours	किन्नर
Reliquaries	मञ्जूषाएँ
Hellenistic Prototype	यवन कला के समान रूप
Indite	लेख
Clague	किराये के प्रशंसक
Squat	पालती मारना
Balustrade	सोपान के किनारे लगाई गई चढ़ने में सहारा देने वाली Railing.
Balusters	सहारे के लिए बनी दीवालें
Protgoa	अमीवा, प्रातर्जीव
Porifera	स्पञ्ज जातीय
Coelenterata	सुषिरान्त्रीय
Entamblature	पाषाणकला
पुण्डरीक	सात मंजिल का भवन
अब्जकान्त	दस मंजिल मकान
Stucco	सुधा
Storey	अट्टालक
Gnomon	शङ्कु स्थापन विधान

कौन स्थान कहाँ पर है

हड़प्पा	जिला मिन्टगोमरी (पंजाब) में है।
रन्डसवेली	सक्खर (सिन्ध)
Benni Balla River	जिला धारवाड़
घटप्रभा नदी	वेलगाँव
किस्तना	मद्रास
सारनाथ	बनारस के पास
भिटा (भीता)	श्रावस्ती के पास (इलाहबाद से जबलपुर Ry. लाइन, इरादन गंज स्टेशन से १२ मील)
भाजा	नासिक के पास
अङ्कोर	कम्बोज
मेण्डुत	जावा
बाराबुडर	जावा
अवलोकितेश्वर	जावा
मुक्तेश्वर	भुवनेश्वर
दिलवार मन्दिर	आबू
लौरियानन्दन गढ़	ज़िला चम्पारन (मठिया के पास)
बड़ाबड़ पहाड़ी	ज़िला गया में
रामपुरवा	ज़िला चम्पारन में
अंकारा	टर्की में
खण्डगिरि	ज़िला पुरी
भरहुत	बघेलखण्ड के पास
सैदपुर भितरी	ज़िला गाज़ीपुर में
सरदास गढ़ी	जिला पेशावर में
गिरनार	जूनागढ़ के पास

राधिया	भागलपुर के पास
चौसठ योगिनियों का मन्दिर	बुन्देलखण्ड में
सास बहू का मन्दिर सहस्राबाहु का मन्दिर	ग्वालियर
तेली का मन्दिर	ग्वालियर
मामल्लपुरम्	समुद्र के किनारे स्थित है जिला चिंगलपट (मद्रास) यहाँ की महिषासुर तथा दुर्गा की युद्ध करती मूर्ति प्रसिद्ध है।
जागेश्वर	अल्मोड़ा से
धारापुरी	धार राज्य
विनसर (विन्श्वेश्वर)	पौड़ी (गढ़वाल) से ४२ मील दूर
संकिसा	स्टेशन परवना ज़ि० फर्रुखाबाद से ७ मील दूर, इसे जनक के भाई कुशध्वज ने बसाया था। यहाँ बिसहरी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर हैं। 'सांकाश्य' प्राचीन नाम। यहां अशोक स्तम्भ पर हाथी का सूंड है)
अतरंजी खेड़ा	एटा से १० मील, यहाँ शुग, कुषाण, गुप्त-काल की मृण्मय मूर्तियाँ मिली हैं।
बिनसड़	अलीगंज (एटा) का गाँव, कुमार-गुप्त के समय बसाया गया था।
दीदार गञ्ज	पटना ज़िला
विक्रमशिला	पत्थर घाट (भागलपुर) से २४

	मील दूर, यहाँ दीपंकर श्री ज्ञान आचार्य रहते थे। इसको दुर्ग समझकर १००३ ई० में मुहम्मद बिन लख्तियार खिलजी ने तोड़ डाला।
नालन्दा	पटना से दक्षिण-पश्चिम में। बड़-गाँव के नाम से विख्यात।
प्राची	वङ्ग, कलिङ्ग का पूर्व का देश।
अहिच्छत्रा	ज़िला बरेली
देलवाड़ा	आबू पर।
होयशलेश्वर	मैसूर का मन्दिर, होयशल नामक यादव-वंशी राजा ने अपने नाम से बनवाया
वलभी	बला (ज़ि० काठियावाड़) कभी शिक्षा-केन्द्र था।
देवगढ़	ज़ि० झाँसी
तिगोवा	जबलपुर ज़िला।
भूभरा	नागोद स्टेट (राजस्थान)
भीतर गाँव	कानपुर ज़िले की नरवल तहसील में है। यहाँ गुप्तकालीन ईंटों का सुन्दर मन्दिर है।
श्रावस्ती	उत्तर-पूर्वीय रेलवे के बलरामपुर स्टेशन से १० मील दूर सहेत महेत नाम से इसके खण्डहर दिखाई देते हैं। उत्तर कोशल भी इसका नाम है।

कुशी नगर	देवरिया से १६ मील दूर। वर्तमान कसिया नगर के पास। यहाँ लेटी हुई बुद्ध की विशाल प्रतिमा है।

नगरों के प्राचीन नाम और आधुनिक नाम

हिन्दी नाम	संस्कृत नाम या अर्थ
अरावली	अर्बुद
आड़ा = तिरछा, वला = पहाड़	Arawata
सतपुड़ा	ऋक्ष पर्वत
राजस्थान	पारियात्र
अवध	कोशल
बघेलखण्ड छत्तीसगढ़	दक्षिण कोशल
जबलपुर	महाकोशल
तापी या ताप्ती	
महानदी इनके किनारे के पर्वत	सह्य गिरि
कोंकड़	सह्य का उत्तरी भाग
केरल या मलाबार	सह्य का दक्षिणी भाग
कृष्णा नदी का दक्षिण भाग	मलय गिरि
सोन का ऊपरी भाग	बुन्देलखण्ड या बघेलखण्ड
सह्य का पूर्व भाग	कलिंग देश
सह्य का दक्षिण-पश्चिम भाग	चोल देश
तमिलनाड	चोल मण्डल
विजयनगर प्रदेश	कर्णाटक
सात कुलपर्वत	महेन्द्रो मलयः सह्यः, शुक्तिमान ऋक्ष पर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः। (वायुपुराण १-४५-८८)
बाल्हीक	बलख, अब अफ़गान तुर्किस्तान।
वंक्षुनदी	आमू दरिया
रसा (नदी)	सीर दरिया—इस देश का नाम 'सुम्ह' है।

स्वात	सुवास्तु नदी
बदक्शा	द्व्यक्ष देश, बलख के पूर्व
पामीर	कम्बोज
पूंछ, पुंच	पर्णोत्सा (काश्मीर में) या अभिसार देश।
राजौरी	राजपुरी
गुजरात, शाहपुर, झेलम	केकय
बिहारी भाषा	भोजपुरी, मगही, व मैथिली तीनों मिलकर।
गोंडी, ओरांव, ब्राहुई	काश्मीर के पास की भाषा। पश्तो देश के पास की भाषा
जौनसार बावर	
गढ़वाल	इलावृत देश
कनौर	
ययाति पुत्र अनु का देश	अंग देश, मुंगेर, भागलपुर।
कन्नौज, रुहेलखण्ड	पञ्चाल
फर्रुखाबाद, इटावा, कानपुर	दक्षिण पाञ्चाल
टापू	इस अर्थ का वाचक लंका शब्द है गोंडी बोली में।
तक्षशिला	भरत के पुत्र तक्ष ने बसाई।
पुष्करावती	पेशावर (भरत के पुत्र पुष्कर ने बसाया)।
बरार	विदर्भ
काबुल-नदी	कुभा

क्रुमी-नदी	क्रुमु
डेरा इस्माइल खाँ डेरा गाजी खाँ	सिन्धु देश
शाहकोट	शिवि
स्यालकोट	शाकल
रावी और चिनाव का मध्य प्रदेश	मद्र देश
मगध	अंग देश
भागलपुर	चम्पा
मगध और कोशल के मध्य का देश	काशी
उत्तरी बिहार	वृजि देश, इसकी राजधानी वैशाली थी ।
गोरखपुर, देवरिया	मल्ल देश
बुन्देलखण्ड	चेदि देश
प्रयाग	वत्स देश (राजधानी कौशाम्बी)
हस्तिनापुर	कुरुक्षेत्र
मेवात (अलवर)	मत्स्य देश
वृज-भूमि	सूरसेन देश
गोदावरी काँठा	अश्मक देश
मालवा	अवन्तिका
जूरी	उद्वाहिका
फौजदारी का कानून	कण्टक-शोधन
रजिस्ट्री	निबन्ध
सिंहल	ताम्र-पर्णी
पारकन्द	चोक्कुक
चम्पारन	लौरियानन्दन गढ़ या नन्दनगढ़
तुर्की	अँकरा
लुधियाना	सुनिभ
सातवाहन	शालिवाहन

लमगान	लम्पाक
काफ़िरस्तान	कपिश
गुरेज़	दरद
काशगर	खस
पारकन्द	चोक्कुक
कुचार	कुचि
हिसार	ओष देश
तुर्फान	कोशाङ्ग
यूनान	गान्धार
पगान	अरिमर्दनपुर
पेगू	हंसावती
कश्मीर से उत्तर का देश	ताम्रलिपि
मदुरा	पाण्ड्य
काठियावाड़	सौराष्ट्र
मुजफ्फरपुर	वैशाली, यह वनिया वसाढ़ के आसपास का देश था। यहाँ लिच्छिवि क्षत्रिय रहते थे।
काबुल	बावेरु
गोटपुर से वलिया पदन्ति देश	श्रावस्ती
रोरी	रोरुक या रोरुव
पश्चिम बंगाल	राढ
पूर्व बंगाल	वंग
बड़ाबड़ नाम की पहाड़ी गया से पंद्रह मील उत्तर	स्खलतिक
बक्सर	व्याघ्रसर
गाज़ीपुर	गाधिपुर
मालवा	आनर्त
Syrus (राजा)	कुरु

Oxus	वक्षु
Tigris	तिग्रा
बगदाद	भगदत्त
कम्बोडिया	कम्बुज राष्ट्र
Ceylon	सिंहल
साइबेरिया	शिविर देश (क्योंकि यहाँ मकान न थे वर्फ के कारण
Caspean Sea	काशयप-सागर
खराद करने वाला	भ्रमकार कहाता था।
हार कटक	हरडवती (सरस्वती)
बुलन्दशहर	वारणावत
जालन्धर, होशियारपुर, दुआबा	त्रिगर्त
धसान नदी का प्रदेश	दशार्ण
झंग	शिबि देश
काम्पिल्य तैत्तिरीय संहिता७/४/१६/१ में वर्णित	कम्पिला जि० फर्रुखाबाद
मंण्डावर	प्रलम्ब देश (रामायण में वर्णित यही द्रुपद कोट, व द्रौपदी कुण्ड है।
रथ	मन्दिर (दक्षिण काञ्ची के पल्लव-वंशी राजा महेन्द्र के बनवाए मन्दिर ही 'रथ' कहाते है। ये सात रथ ७ पगोड़ों के नाम से विख्यात है।
दक्षिण काठियावाड़ (भी)	सुराष्ट्र कहाता है।
गिरनार पर्वत	रैवतक पर्वत
प्रभास	सोमनाथ तीर्थ
रामगंगा	रथस्था

विसुई (नदी)	वेद-श्रुतिः
सई	स्यन्दिका
राप्ती	इरावती, सदानीरा
गण्डकी	नारायणी
कोसी	कौशिकी
सूरमा (नदी)	सूरमस
सदिया	संवेद्या तीर्थ
उत्तर राजस्थान	साल्व देश
पूर्व राजस्थान	जाङ्गल देश
मुंगेर	मुद्गदेश (मुद्गगिरि)
लियूलेख दर्रा	हंसद्वार या क्रौञ्च पर्वत
मानस सरोवर	अच्छोद सर, अनवतप्त सर (पाली में)
बन्दर पूँछ	यामुन पर्वत का एक शृंग
सतोपथ	सत्य पंथ
विष्णु गङ्गा	सरस्वती
विनशन	गया (सरस्वती लयस्थान)
मगध	कीकट, प्रमगन्द ।
छोटा नागपुर, झारखण्ड, संथाल देश	,, ,,
वीरभूम	वज्रभूमि :
तामलुक	ताम्रलिप्ति
पश्चिम वंग	राढा
पूर्व वंग	गौड़पुर
उत्तर वंग	पुण्ड्र देश, पुण्ड्र बर्धन देश ।
आसाम	प्राग्ज्योतिष, कामरूप ।
सिलहट	श्रीहट्ट
मणिपुर	कामरूप का एक प्रान्त (यहीं की उलूपी थी)

प्रान्त	भुक्ति
प्रोम (ब्रह्मा)	श्रीक्षेत्र
पीगू (दक्षिण ब्रह्मदेश)	हंसवती
बंगाल की खाड़ी	महोदधि
जाजपुर	विरजा तीर्थ
(यज्ञपुर)	(वैतरणी के किनारे)
जगन्नाथपुरी	पुरुषोत्तम क्षेत्र
खण्डगिरि	खण्डिक देश (अष्टाध्यायी वर्णित)
उत्कल	औड्र देश
चिनाब	चन्द्रभागा नदी
भेड़ा घाट	माहिष्मती
नर्मदातट प्रदेश	अनूपदेश
पयोष्णी	नर्मदा के पास की तासी नदी
गुजरात	लाट देश
कच्छ की खाड़ी	भृगु कच्छ, मरु कच्छ।
खानदेश	ऋषिक देश
औरङ्गाबाद	अश्मक देश
पेनगङ्गा	प्रवेणी नदी
बेनगङ्गा	वेणी
अहमद नगर	मूलक देश
कृष्णा तटवर्ती देश	कुन्तल देश
सह्य के पास की समभूमि	अपरान्त देश, या कोङ्कण देश
वनवासी	वैजयन्ती नगरी
काञ्ची	पल्लव राजधानी थी
भीमरथी	भीमा नदी
सेतुबन्ध रामेश्वर	पाण्ड्य देश, राजधानी उरगपुर थी (रघुवंश ६/५९)

कोचीन	केरल
अण्डमन	इन्द्रद्वीप, इन्द्रद्युम्नद्वीप
नक्कवर निकोवार	नग्न द्वीप
केडा	कटाह द्वीप
सुमात्रा	सुवर्ण द्वीप
यवद्वीप	जावा
मलाया	मलय द्वीप
सिंगापुर	सिंहपुर
बोरनिया	वारुण द्वीप
स्याम	द्वारावती
तिरहुत	तीर भुक्ति
मथुरा	पुराना नाम मधुरा। मधु और उसके पुत्र लवण का यहाँ शासन था। इसे शूरसेन या 'व्रज' प्रदेश भी कहते हैं। नन्द, मौर्य, क्षत्रप व कुषाण वंश का शासन रहा।